नये प्रतिनिधि कवि

(प्रथम भाग)

डॉ० हरिचरण शर्मा
हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

उसके लिए

जो

मेरे एकांत की सहयात्रिणी है

तलाशे हुए मूल्य

एक वक्त तब था जब जिन्दगी बाँहों के घेरे में सिमट गई थी—सिमटती चली गई थी। एक वक्त कल आया जब बाँहों का घेरा तो रहा, पर जिन्दगी चुपके से झुककर निकल गई और एक वक्त अभी आज ही आया जब न बाँहें थीं; न घेरा था और न वह जिन्दगी जिसकी हर सांस हमारी थी, हर रौनक हमारे खाते में 'क्रेडिट' होती थी। नजरें घुमाकर देखा तो लगा जिन्दगी कहीं और किसी दूर कोने में व्यंग्य से मुस्करा रही है। वक्त आकर चला गया है या कहूँ कि बस छूकर चला गया है। अब वह जगह भी नहीं दिखाई दे रही जहाँ अपने दस्तखत हों, अपने कदमों के निशान हों। सच ! हम कहाँ से कहाँ आ गये हैं। यदि यहीं आना था तो चले क्यों थे ? सपने क्यों देखे थे ? किसने कहा था कि तुम उस माहौल से निकाल लो जहाँ दम घुटता है और मन के हजार-हजार सपने बिना कफ़न के दफ़न होते रहते हैं। पिछले वर्षों में जिस तेजी से हम चले—चलते रहे उसका अंजाम सामने हैं। देख रहा हूँ जिन्दगी को जिसकी आँखें कुछ खोज रही हैं। उसका मन कहीं कुछ ऐसा ढूँढ रहा है जिसका भाव तो वही है, पर उसके रदीफ़ काफिए बदल गये हैं। उसके माथे पर शिकन है, भौंहे धनुषाकार नहीं, स्थिर और सीधी हैं; उसके हाथों पर दबाव नहीं, एक फिसलन है, पैरों की गति लस्टम-पस्टम है। उसकी साँस फूल गई है और उसके सीने का उतार-चढ़ाव उसकी हरेक धड़कन की गिनती का हिसाब दे रहा है। नतीजा यह कि वह सिर्फ चल रही है—घिसट भर रही है क्योंकि उसकी बैसाखी कहीं गिर गई है या उसे किसी ने खींचकर एक ओर पटक दिया है। वह गिर गई है—उससे अब उठा नहीं जा रहा है।

यों वह कोशिश कर रही है, पर उठ नहीं पा रही है। अरे ! यह क्या ? मुझे यह क्यों लगा कि फाटक खुल रहा है। किसी के कदमों की बहुत धीमी-सी आहट धीरे-धीरे तेज होकर एक मासूम-सी दस्तक मे बदल गई है। किसी ने आकर माथा छू लिया है और बड़े प्यार से अपने होंठ उस पर रख दिये हैं। आँखें यों ही छोटी हैं; इस छुअन से तो और भी छोटी हो गई हैं और कान जैसे सारे शोर-शरावे के बीच—सारी रस्साकशी के बीच भी एक ही आवाज सुन पा रहे हैं : इस तरह अपने को मारो मत। देखते नहीं कितनी दूर से कितनी जल्दी-जल्दी तुम्हारे लिए दौड़ती-सी आई हूँ। तुम्हारा बुलावा जो था ! जानते तो हो कि हर बार तुम्हारे बुलावे पर जहाँ भी, जैसे भी तुमने चाहा है, आई हूँ, आज भी। ठीक है तुमने मूल्य तलाशे थे; मिल गये। फिर उनमें से तुमने सिर्फ एक मूल्य चुना, वह भी मिल गया। कुछ समय बाद तुमने उस मूल्य को सर्वनाम और विशेषण दिये और आज यदि वही तलाशा

हुआ मूल्य तुम्हें डस रहा है; तुम्हारे जीवन-क्रम के इतिहास को नये सिरे से लिख रहा है; तुम्हारे मन के भूगोल को नये मानचित्रों में ढ़ाल रहा है तो रोते क्यों हो ? उन विशेषणों और सर्वनामों से भागते क्यों हो ? भागो मत। सागर को देखो—उसके वक्ष पर तैरती लहरों को देखो—हाँ देखो—सिर्फ देखो; उन्हें गिनों मत। गिनोगे तो गिनती भूल जाओगे। उन्हें मन में उतार लो। बस ! नासमझ मत बनो।

इस आवाज को सुनते-सुनते मैं जाग गया सही; पर ऊपर की दोनों तसवीरें एक साथ मेरी पलकों पर तैर गईं। महसूस करता रहा; सब समझता रहा, पर इस समझ भरी नासमझी के वक्त भी यह तै नहीं कर पा रहा कि बात कहाँ से शुरू करूँ ? किसके सिरहाने बैठूँ और कब तक बैठा रहूँ ? किसके लिए क्या कहूँ ? कितना कहूँ ? क्या रख छोड़ूँ और ऐसा क्या है जिसे अनकहा रखकर कृपणता की संज्ञा से अभिषेकित हो लूँ ? शायद सब कुछ और कुछ भी नहीं। हाँ; एक बात साफ है कि जिन्दगी की अन्तहीन सच्चाइयाँ लम्बे रेगिस्तान की तरह यहाँ से वहाँ तक फैली हैं। जिन्दगी की सर्द-गर्म आहें जिस ऊष्मा और 'डिप्रेशन' के बीचोंबीच जो सागर सौंप चुकी हैं; उसकी हरेक नहीं तो बहुत-सी लहरों से अपना रिश्ता है—किसी से करीबी, किसी से दूर का और किसी-किसी से अपनाने का, पर जो लहर सागर बनी वह वही तो है जो हर दिन, हर सुबह-शाम और हर पल छिन मुझ से जुड़ी रहती है, बल्कि कहूँ कि मुड़ी रहती है उस ओर जहाँ समर्पण की गहरी बावड़ी है विश्वास की डोर उससे जल खींच लाती है, आत्मीयता जहाँ कैद है और पाया हुआ जल जहाँ किसी की अमानत है। यह न केवल पाये हुए को सम्भालने के लिए है, अपितु सम्भाले हुए को उसी अनुपात में लौटा देने के लिए है जिसमें कोई किताब 'हमारी किताब' कही जाती है; कहीं कोई पंक्ति आदमी की भाषा में नहीं ढल पाती और कभी-कभी कोई अपनापा—कोई अपनी ही साँस शब्दों का सहारा खोजती हुई हथेली पर उतर आती है तो कोई-कोई धड़कन इसलिए हरेक को सुनाई नहीं देती कि उसे जहाँ सुनाई देना है, उन कानों पर शीशे की खिड़की है जिसके आर-पार होठों का हिलना तो देखा जा सकता है, किन्तु सुना कुछ नहीं जा सकता है।

जब सुना-समझा कुछ नहीं जा सकता हो तो भीतर ही भीतर बहने वाली नदी महसूस की जा सकती है, उस अनुभूति को जिया जा सकता है जो शब्दों में नहीं बँध सकी और सिर्फ यह समझा जा सकता है जैसा कि ये पंक्तियाँ लिखते वक्त भी समझ रहा हूँ कि जिन्दगी की हर खुशी का नाम एक है, अर्थ एक है और विशेषण एक है जिसे सर्वनामों के सहारे कहना हो तो कह सकते हैं : तुम, तुम्हारा, तुमसे जुड़ा सब कुछ। लगता है आज सारे विशेषण नुच गये हैं—छिन गये हैं और रह गये हैं मात्र सर्वनाम जो संज्ञा के करीबी दोस्त हैं। जब सर्वनाम ही रह गये हों तो मन की दौड़ तेज हो जाती है, उस जिन्दगी की तरह जो नामहीन हो गई है। इस

नामहीन जिन्दगी के अँधेरे बंद कमरों में जो कैद है; उसे जानने के लिए यथार्थ की रोशनी जितनी जरूरी है, उतनी ही अहम है कल्पना की ऊष्मा। ऐसी ही जिन्दगी के ऊबड़-खावड़, ऊँचे-नीचे और सरल मधुर संदर्भों की पहचान नये कवियों ने की है। इस पहचान को जानने के लिए हमें पैरों को काटती-तपाती आग भी चाहिए और मन में लगे गुलमुहर के फूलों की गंध भी चाहिए—हमें झील और झरने का फर्क भी जानना चाहिए और जेठ व सावन के अंतर को भी महसूस करना चाहिए। जाहिर है कि जरूरत दोनों की है: अवश स्थितियों से उपजी गुणा-भागों में ढली जिन्दगी की भी और उस मुस्कराहट की भी जो एक कोने से दूसरे तक यात्रित होती हुई मन में कल्पनाओं का सागर उमड़ा देती है। जब ऐसा होता है तो बुद्धि और कल्पना दोनों का काम एक साथ बढ़ जाता है। ठीक भी है आज की जिन्दगी जिन प्रश्नों के जंगल में अटकती-भटकती अपना रास्ता ढूँढ़ रही है तो उसकी ही प्रतिकृति कविता भी यदि प्रश्नाकुल-भयावह, अवसादमयी, उल्लासमयी और अपनी-परायी एक साथ हो तो चौंकने जैसा कुछ भी नहीं लगता। लगता है तो सिर्फ यही कि आज का कवि अपनी जिन्दगी और उससे जुड़ी कितनी ही स्थितियों के ग्राफ़ आदमी की भाषा में उतार रहा है; नक्श कर रहा है उन समूचे पलों को जिनमें आदमी मर-खप रहा है, जीकर मिट रहा है और मिटता हुआ भी एक आस्था—एक जिजीविषा लिए हाँफ रहा है।

कितने ही विशेषणों और सर्वनामों की भीड़ से नये कवि ने जो संज्ञा तलाशी है—एक जिन्दगी चुनी है उसके प्रति ईमानदार बने रहना बड़ी बात है। जिन कवियों ने इस ईमानदारी और जिन व्यक्तियों ने इस प्यार को ईमानदारी से निभाया है; उन्हीं में से कुछ की ईमानदारी; कुछ का प्यार परीक्षा की कसौटी पर कसकर बेबाक रंगों द्वारा इस जिल्द में दिखाने की कोशिश की गई है। जिन पाँच कवियों को यहाँ जगह दी गई है, वे नयी कविता के प्रतिनिधि कवि हैं; किन्तु इसका यह अर्थ लगाना गलत होगा कि ये कवि ही प्रतिनिधि कवि हैं। कवि और भी हैं; किन्तु उन्हें दूसरी जिल्द के लिए छोड़ दिया है। प्रतिनिधि शब्द जहाँ एक ओर युगबोध के प्रतिनिधित्व को संकेतित करता है, वहीं दूसरी ओर कवि की प्रमुखता और महत्ता की ओर भी इशारा करता है।

इशारे की बात पर बहुत से इशारे याद आ गये जो बहुतों के नहीं; एक ही आँख के हैं—एक ही मन की तरंगों से जुड़े हैं और इस जुड़ने में ऐसा बहुत कुछ देते-लेते रहते हैं जिसका न कोई हिसाब मुमकिन है और न काम्य ही है। यों भूलने की आदत नहीं है, किन्तु कोशिश कर रहा हूँ कि उन पलों, संदर्भों और उनसे जुड़े उस सबको भूल जाऊँ जिसने लेखन के दौरान किसी भी तरह मुझसे जुड़कर अपनी 'आइडेन्टिटी' जाहिर की है। जो जिन्दगी कदम-कदम पर हँसाती-रुलाती और दुलराती रहती हो, उसे और उसमें आये पलों—संदर्भों को भूल पाना क्या मुमकिन

है ? और यदि हो भी तो क्या उसके आगे भी कोई द्वार है, कोई तलाश और कोई संभावना-पथ और है ? नहीं न ! जब नहीं तो फिर मैं तो मूल में ही भूल कर रहा हूँ। यों यह भूल मोहक नहीं क्या ? ऐसी नहीं क्या जिसे बार-बार करने का मन होता है। खैर छोड़िये भी आप कहेंगे कि मैं फिर विशेषणों पर उतर आया। असल में इस शीर्षकहीन जिन्दगी में अब सिर्फ सर्वनामों से ही लगाव रह गया है। तभी तो मन में उठा वह सब; वह तुम; वह तुम्हारी दुनियाँ लहरें लेती हुई यहाँ से वहाँ तक फैली है और उसके फैलाव पर सिर्फ तुम्हारा बिम्ब तैरने लगा है।

लिखना कुछ और भी था, पर जब उसे लिखने की बारी आई तो किसी ने पीछे से झुककर कलम थामते हुए और अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में प्यार घोलते हुए एक इशारा किया। मैं समझ गया यह इशारा ही जिन्दगी है और जब इशारे से ही जिन्दगी हथेली पर आ बैठी हो तो लिखने के बजाय उस इशारे को ही समझना क्या काफी नहीं है जिसने भूमिका के नाम पर खुद कुछ लिखने का वायदा कर मुझसे ही यह सब लिखा लिया।

लिखने-लिखाने की बात चली तो मूलचंदजी याद आ गये जिन्होंने जितने आग्रह और स्नेह से यह कृति लिखाई; उतनी ही आत्मीयता और त्वरा से मेरी लिखावट को कागज पर भी उतारा। उनके इस उत्साह और स्नेह के लिए आभार !

30 नवम्बर, 1978 हरि

अनुक्रम

नया काव्य : एक परिदृश्य

मनुष्य की रुचियों का इतिहास गवाह है कि 'नयापन' सदैव अपने आकर्षण-जाल में जीवन को बाँधता आया है। 'नया' शब्द में एक ऐसा आकर्षण है जो मानवीय चेतना को अपनी ओर खींचता है, किन्तु ध्यान रहे कोई भी नयापन ऐसा नहीं होता जो पुराने से एकदम अपना सम्बन्ध तोड़ ले। यदि कभी ऐसा होता दिखलाई भी पड़े तो यह निश्चित है कि ऐसे नयेपन की उम्र के वर्ष अँगुलियों की पोरों पर गिने जा सकते हैं। यों भी 'नया' और 'पुराना' शब्द प्रतिबोधक हैं। यही स्थिति नये काव्य के सम्बन्ध में दिखलाई देती है। नवीनता परम्परा से ही शक्ति संचित करती है क्योंकि कोई भी कविता न तो मात्र परम्परा पर ही जी सकती है और न केवल नये प्रयोगों के आधार पर ही अपना काम चला सकती है। परम्परा से ही प्रयोग के नये आयाम विकसित होते हैं और प्रयोग ही अधिक स्वस्थ होकर परम्परा बनते जाते हैं। जिसे हम नया काव्य कहते हैं वह भी इसी नियम के आधार पर नया है। आजादी की लड़ाई ने जैसे समाज को एक नया मानस दिया, वैसे ही साहित्य को भी नया भाव-बोध और शिल्प प्रदान किया। निराला छायावादियों में एक ऐसे कवि थे जिन्होंने प्रचलित मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन किया और कविता के लिए नयी ज़मीन की तलाश शुरू की। इसी तलाश में प्रयोग का सूत्रपात हुआ और धीरे-धीरे कविता नये क्षितिजों की ओर बढ़ती गई।

प्रयोग का अर्थ है किसी वस्तु की पूर्वमान्य प्रकृति का पुनर्ज्ञान प्राप्त करना। प्रयोग का उद्देश्य सत्यान्वेषण और उससे सत्य का ग्रहण है। इस आधार पर प्रयोग एक प्रक्रिया है, कोई उद्देश्य नहीं। प्रयोग की प्रक्रिया के आधार पर हम पारम्परिक मान्यताओं का पुनरन्वेषण और पुनर्परीक्षण भी करते हैं और नये उपलब्ध सत्यों के आलोक में नई दिशा भी प्राप्त करते हैं। वस्तुतः प्रयोग जीवन को यथार्थ के पार्श्व से देखने की प्रेरणा भी प्रदान करता है। युग करवट लेता है तो अनेक पुरानी मान्यताएँ उसकी करवट तले चूर हो जाती हैं और कुछ नयी मान्यताएँ उभरने लगती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नये उभरते मान-मूल्यों के वाहक पुरानों को प्रयोग की तुला पर तौलते हैं। इस परीक्षण में यदि वे खरे उतरते हैं तो किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिए जाते हैं, किन्तु जब ऐसा नहीं होता तब नयी मर्यादायें नयी सम्भावनाओं के द्वार खटखटाती हैं। यही वह भूमि है जहाँ से नया प्रारम्भ होता है और इस नये की भूमिका का प्रारम्भ प्रयोग से होता है। प्रयोग की यह प्रक्रिया प्रत्येक काल में विद्यमान रहती है। कारण प्रयोग निर्धारित सत्य को

अन्तिम सत्य नहीं मानते हैं, उसका पुनर्परीक्षण करते हैं, संभावनाओं के नये क्षितिजों को उद्घाटित करते हैं और नवीनता के पक्षधर होने के कारण पूर्णता का दावा नहीं करते हैं। आधुनिक हिन्दी कविता की विकास-यात्रा का पाँचवा मोड़ तो विशेषकर इसी प्रयोग-प्रक्रिया का परिणाम है। 'प्रयोग' प्रत्येक काल में होते रहे हैं और होते रहेंगे, किन्तु प्रयोगवादियों ने प्रयोगों का वरण करते हुए यह आग्रह भी किया कि उनके प्रयोग सर्वथा नवीन हैं तथा कविता के अन्तर्गत वर्षों से चली आ रही जड़ता और स्थापित नियमों की शृंखला को झटके से तोड़ते हैं। हिन्दी कविता में 'प्रयोग-वाद' उक्त नियमों और उनसे बनी भूमिका पर ही विकसित हुआ है। नवीनता और अपने को अलग से पहचनवाने का मोह ही 'प्रयोगवाद' के मूल में दिखाई देता है। अतः 'प्रयोगवाद' से नये काव्य की विधिवत् शुरुआत मानी जा सकती है। इससे पहले कविताओं में जो नयापन था, वह भिन्न था। उसमें इतनी तीव्रता न थी अथवा कहें कि नये को अपनाने-ग्रहण करने और आत्मसात् करने का वैसा तीव्र आवेग नहीं था जो 'प्रयोगवाद' और उसके बाद विकसित नयी कविता में दिखलाई देता है। 'प्रयोग-वाद' उन कविताओं का संकेतक बनकर आया है जिनमें नया भाव-बोध, नयी संवेदनाएँ और इनकी अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त नया शैल्पिक चमत्कार है। वस्तुतः 'प्रयोगवाद' एक ऐसी साहित्यिक धारा को दिया गया नाम है जिसने स्थापित मान्यताओं को पुनर्परीक्षित करके नये प्रयोग किये और अपने प्रयोगों के माध्यम से साहित्य में क्रांति का बीज-वपन किया। यद्यपि निराला कतिपय प्रयोगों के माध्यम से नये काव्य की शुरुआत कर चुके थे, किन्तु 'प्रयोगवाद से इस नये काव्य का क्रमिक विकास होता चला गया। अतः नये काव्य का प्रस्थान-बिन्दु 'प्रयोगवाद' को ही मानना उचित है। इसमें जो नयापन है, वह क्रमशः विकसित हुआ है और तीव्रता के साथ जन-मानस को आन्दोलित-उद्वेलित करता दिखाई देता है।

सामान्यतः 'प्रयोगवाद' वैचित्र्य-प्रदर्शन, बौद्धिकता, स्वानुभूतियों की कच्ची चिट्ठी और शिल्पाग्रह की कविता प्रतीत होता है। उनमें न तो जीवन के व्यापक चित्र हैं, न विस्तृत फलक पर विडम्बनाओं व विसंगतियों के जीवन-सापेक्ष विम्ब हैं। अनेक बार तो वह जरूरी-गैर जरूरी चीजों का गोदाम भर प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में उपलब्धि के नाम पर तो हमें खाली हाथ लौटने को विवश होना पड़ेगा, किन्तु उसकी कतिपय भंगिमाओं से प्राप्त सत्योपलब्धियों से इन्कार नहीं किया जा सकता है। हमारी धारणा है कि प्रयोगवाद ने कविता को बँधी-बँधायी पद्धति के घेरे से निकाला है, सीमित जीवनानुभूतियों के अभिव्यंजन से काव्य के मूल्यांकन को एक दिशा दी है और वृहत् मानव के स्थान पर लघु मानव की महत्ता प्रतिपादित की है। इतना ही नहीं प्रयोगवाद ने प्रमाणित किया है कि कविता का जीवन नियमबद्ध नहीं हो सकता है। वह किसी यांत्रिक पद्धति या किन्हीं साधनों से निष्पन्न गढ़ी-गढ़ाई चीज नहीं है। वह तो कवि-मानस की स्पष्ट-अस्पष्ट जटिलताओं और जीवन की विविध उलझनों-संगतियों-विसंगतियों से निसृत प्रवाह है। इस प्रवाह में कभी तरल-

मादक स्पर्श की शक्ति निहित रहती है तो कभी बहाव के बाद मिट्टी की चटखती दरारें दिखाई देती हैं, कभी मन आर्द्र संवेदनाओं से भर उठता है तो कभी रेतीले ढूहों में भटक जाता है। यही कारण है कि 'प्रयोगवाद' ने व्यक्ति के अंतःसंघर्षों, क्षणानुभूतियों, छोटी से छोटी संवेदनाओं के 'फ्लैशेज' दिये हैं। ये 'फ्लैशेज' व्यापक भले न हों; किन्तु इनकी अभिव्यक्ति ईमानदार है, सच्ची है। आरोपण उसमें नहीं है। फिर 'प्रयोगवाद' प्रयोगों का प्रारम्भ था, नये काव्य का प्रस्थान बिन्दु था। अतः जब ये प्रयोग संतुलित हुए और इनकी बाढ़ का पानी उतरा तो कविता में संतुलन भी आया, परिष्कार भी आया और वह रागप्रेरित होकर जीवन के व्यापक फलक पर भी प्रस्तुत हुई। इसी प्रस्तुति ने उसे नयी कविता नाम दिया।

आधुनिक कविता के इतिहास में जो काव्य-धाराएँ समय की कोख से जन्मी हैं, उनमें सबसे अधिक मान नयी कविता को मिला और उससे कुछ कम छायावाद को। कुछ कम इसलिए कि कल्पना के कान्तार में अधिक समय तक नहीं भटका जा सकता है। हमें यथार्थ की ठोस ज़मीन पर आना ही होता है। नयी कविता हमें इसी ज़मीन पर ले आई है। फिर ठोस ज़मीन पर न तो फिसलने का भय रहता है और न नीचे धँसने का। अतः वहाँ अपेक्षाकृत अधिक देर तक खड़ा रहा जा सकता है। जहाँ हम सबसे कम ठहरे हैं वह जमीन प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की है या फिर छायावाद की ठीक पीठ पर उतरने वाली मस्ती की वह जमीन है जिसे कुछ समीक्षकों ने 'हालावाद का नाम भी दिया है। प्रगतिवाद की धरती जीवन के बीच की धरती होते हुए भी विज्ञापनी-वृत्ति और मार्क्सीय सिद्धांतों से पटी पड़ी थी तो प्रयोगवाद की वैचित्र्यवाद और चमत्कृति से। रही मस्ती, खुमार और नशे की उस धरती की बात जहाँ प्रणय का रंग मस्ती के 'एलकोहल' से मिलकर नारी-शरीर के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों को सौन्दर्य के शराबी पैमाने से नाप रहा था; उसके सम्बन्ध में इतना कहना काफी होगा कि मस्ती का नशा यथार्थ के ताबड़तोड़ झटकों से पल मात्र में ही उतर जाता है। निश्चय ही हमें एक ऐसी ज़मीन चाहिए जिसका आकार विशाल हो, नींव मजबूत हो तथा जिस पर सौन्दर्य का काश्मीर भी चहकता हो और जीवन के कटु-तिक्त अनुभवों के अभ्रभेदी शिलाखण्ड जीवन की कटुता, भयंकरता, विडम्बना और विसंगतियों का अहसास भी कराते हों। यही यथार्थ की जमीन है और इसी पर अधिक समय तक रुका जा सकता है। जाहिर है कि हम यहीं अधिक रुके हैं और आज जब ढाई दशक से भी कुछ वर्ष ऊपर हो गये हैं तब भी हम इसके आस-पास ही चक्कर लगा रहे हैं—कभी कुछ दायें तो कभी कुछ बायें या कुछ आगे पीछे। यही नयी कविता की भूमि है—नये काव्य की परिचित जमीन है जहाँ कुछेक साठोत्तर कवियों ने उत्खनन करके कुछ नये मूल्य और प्राप्त कर लिए हैं। विश्वास किया जा सकता है कि आगे इस जमीन के गर्भ में छिपी शक्तियों और उनसे प्रेरित भावानुभूतियों का अधिकाधिक विस्तार किया जाता रहेगा।

आखिर यथार्थ की यह ठोस जमीन क्या अकस्मात् मिल गई या इसके कुछ टीले पहले भी कल्पना और सौन्दर्य की जलराशि में ऊभ-जूभ कर रहे थे ? उत्तर स्पष्ट है कि पहली बार इसके दो-चार टीले प्रगतिवादियों को अवश्य दिखे थे। ज्यादा भी दिखाई दे सकते थे; किन्तु प्रगतिशील कवियों ने जो चश्मा पहन रखा था उस पर मार्क्स, हीगेल और लेनिन के कारखाने में ढले ग्लास लगे थे। वे जैसे ही उतरे तो प्रयोग के लिए नयी भूमि दिखाई दी और अब तक जहाँ-तहाँ दिखाई देने वाले टीले पूरे पर्वत का रूप लेकर आ खड़े हुये। प्रयोगवादियों की कमजोरी यह रही कि वे इन्हें समतल करके जीवन का रूप न दे सके। यह काम नयी कविता के नये कवियों ने किया। अतः नयी कविता का करीबी और गहरा रिश्ता प्रयोगवाद से है और कुछ दूर का रिश्ता प्रगतिवाद से है। अपनी नवीनता की सुरक्षा करती हुई नयी कविता प्रयोगवाद से आगे की स्वस्थ और सन्तुलित भूमिका पर खड़ी है। यों नयी कविता को प्रयोगवाद से सर्वथा भिन्न प्रयत्न मानना भी ठीक नहीं है। प्रत्युत यह ठीक मालूम पड़ता है कि नयी कविता प्रयोगवाद का स्वस्थ और सन्तुलित दिशा में किया गया एक ऐसा विकास है जो प्रगत्युन्मुखी संवेदनाओं को सकार कर नये मार्गों की ओर अग्रसर हुआ है। इसका गोत्रीय सम्बन्ध प्रयोगवाद से ही है। अतः कह सकते हैं कि नयी कविता ऐतिहासिक भूमिका पर प्रयोगवादी परिवार की ही चेतन सदस्या है, किन्तु गहन सामाजिकता, वस्तु और शिल्प की नवीनता के कारण उसका वर्चस्व सघन, प्रभावी और अलग से रेखांकित करने योग्य है।

'नयी कविता' शब्द महत्वपूर्ण संकेत देता है। सबसे पहली बात तो यह है कि नयी कविता आज के युग की कुक्षि से उत्पन्न काव्यधारा है। उसे बाह्य प्रभाव मात्र कहना उचित प्रतीत नहीं होता है। समाज के ढाँचे में पर्याप्त परिवर्तन हो जाने के कारण नया कवि उसके साथ बड़ी सतर्कता से सम्बन्ध जोड़ रहा है। सम्बन्ध जोड़ने की इस प्रक्रिया में उसने उसकी यथार्थ एवं स्थूल समस्याओं को स्वीकार करने से संकोच नहीं किया है। उसने यह अनुभव किया है कि कविता के माध्यम से जो भी कहा जाए, वह पाठक के यहाँ विश्वसनीय बना रहे और उसकी चेतना के अनुरूप हो। वस्तुतः नयी कविता युगीन संदर्भों में आधुनिक भाव बोध और सौन्दर्य-बोध के स्तर पर खड़े मानवीय परिवेश को पूर्ण वैविध्य के साथ नये शिल्प में प्रस्तुत करने वाली काव्यधारा है। वह प्रत्येक क्षण लघुमानव और समकालीन जीवन से प्रेरित अनुभूतियों को मुक्तछंद की पींठ पर नये 'टेकनीक' में पाठकों तक संप्रेषित कर आस्वाद्य बना रही है। उसने तुच्छ से तुच्छ, महान् से महान्, बाह्य और आन्तरिक चेतन और अचेतन आदि सभी क्षेत्रों से प्रेरित अनुभूतियों को यथार्थ वाहिनी भाषा और शैली के खोल में लपेट कर अभिव्यक्ति के द्वार पर ला खड़ा किया है। नयी कविता जीवन्त कविता है जो सही शब्दों में लिपटी ईमानी शैली के माध्यम से व्यक्त होती है जो प्रभाव डालती है, डुबाती है। 'डुबाने' का अर्थ रोमानी दृष्टि के वृत्त में बाँधकर समझना भूल होगी। कारण हम हमेशा भावों की रंगीनी ही पसंद नहीं करते

हैं, अपितु विचारों की सघनता में भी डूबना चाहते हैं। नया कवि भी अपनी अनुभूतियों की संप्रेषणीयता के लिए एक भी ऐसा शब्द खरचने के लिए तैयार नहीं है जो फालतू कहा जाए। प्रभाव हृदय पर पड़े या मस्तिष्क पर, एक ही शब्द में वह शक्ति हो सकती है जो उसके स्थान पर रखे गये अनेक शब्दों से भी सम्भव नहीं है। कथ्य की नवीनता का असर सभी नये कवियों में पाया जाता है। परिणामतः नयी जीवन दृष्टि, नये मानव-मूल्य और नये संदर्भों को नए धरातल पर देखा जा सकता है। पुराने कवियों की चेतना परिधि में वह सब नहीं समा सकता था जो नये कवियों की चेतना का जल बन कर नये काव्य में प्रवाहित हुआ है। नये कवियों ने अनुभूतियों की वर्गीकृत और सीमित सीमा को लाँघकर अपने अंतरंग और भोगे हुये उन असीमित व अनिर्दिष्ट क्षेत्रों में प्रवेश किया है जिनकी ओर न तो पहले के कवियों में देखने की शक्ति थी और न साहस ही। आज हम देखते हैं कि छोटी से छोटी अनुभूतियाँ और वर्ज्य भावनाएँ विराट बिम्बों और प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्ति पा रही हैं क्योंकि आज ये अनुभूतियाँ और प्रतिक्रियाएँ अधिक सार्थक और मूल्यवान लगती हैं—उनकी तुलना में जो असाधारण या अलौकिक थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पहले के कवियों का वस्तु क्षेत्र एक सीमा में बँधा हुआ था। वे जीवन और जगत की मोटी-मोटी बातों को लेकर ही कविता की इमारत खड़ी किया करते थे--वही सुख-दुख, आशा-निराशा, आत्मा-परमात्मा, भौतिक और आध्यात्मिक तत्व ही कविता में आकार पाते थे। इनके अलावा और भी कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों का स्तर है। यह वे या तो जानते नहीं थे या जानकर भी जानना नहीं चाहते थे। नये काव्य में इन्हें आकार प्राप्त हुआ है और यही कारण है कि नये कवि की अनुभूतियाँ सामान्यीकृत भी हैं और विशेषीकृत भी।

प्रश्न उठता है कि नये कवि की अभिधा किन-किन कवियों को प्राप्त है। सामान्य अर्थ में वे सभी कवि नये हैं जो स्वातंत्र्योत्तर काल में उभरकर आये हैं,: किन्तु नयापन कालसापेक्ष नहीं है। उसमें समय से जुड़े रहने के साथ-साथ दृष्टिकोण की नवीनता और शिल्पगत नवीनता का समंजस्य भी अनिवार्य है। भाव, संवेदना, दृष्टि और शिल्प के धरातल पर जो कवि रेखांकित करने योग्य हैं या अपनी काव्य-साधना से अपने युग की समस्त विशेषताओं के वाहक हैं, उनमें अज्ञेय, नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, नरेश मेहता, दुष्यन्त, कुँवरनारायण, जगदीश गुप्त और लक्ष्मीकांत वर्मा आदि के नाम प्रमुख हैं। इन सभी कवियों की प्रगतिशील दृष्टि से जिस काव्य का निर्माण हुआ है;वह न केवल युग की संवेदनाओं का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करता है। अपितु जन-जीवन और व्यक्ति के अन्तर्जगत का भूगोल भी प्रस्तुत करता है; भाव और शिल्प के क्षेत्र में इन सभी ने पर्याप्त प्रतिबद्धता और सजगता से काम लिया है। एक प्रकार से ये वे कवि हैं जो नये काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है, किन्तु इनका कृतित्व नए काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझने में काफी सहायक है; इसमें विकल्प नहीं।

१. नागार्जुन

छायावाद ने जीवन-सौन्दर्य के संगमरमरी ताज को बना तो लिया; किन्तु वह आँखों को ही तृप्त कर सका। उसके झरोखों से मदिर बयार तो आ सकी, पर उसका कोई उपयोग न हो सका। जीवन मात्र स्वप्न नहीं है; सत्य भी है। अत: उसके लिए केवल सपने काफ़ी नहीं हैं। यही कारण है कि छायावादियों का स्वप्न सत्य के ताप से झुलसने लगा और धीरे-धीरे भीतर ही भीतर जनमानस में एक मुगबुगाहट हुई। जीवन-चेतना ने एक करवट ली और सपनों का गायक पंत भी जनता की भावनाओं का प्रतिनिधि बनकर नये जीवन सत्य की ओर अग्रसर हुआ। उसके पैर उस मिट्टी की ओर बढ़े जो जन्म भी देती है और जीवन धारण करने के साधन भी। छायावाद अपने अंतिम समय में कुंठाग्रस्त हो गया और उसमें एक गत्यावरोध भी उत्पन्न हो गया। इस स्थिति को साहित्यकारों ने पहचाना और नये आयाम-नये मान मूल्य विकसित हुए। एक नया मनवतावाद जन्मा। पहले तो इसका दृष्टिकोण उदार था; शोषितों का उद्धार था, किन्तु यह उद्धार जब सीमित क्षेत्र के लिए ही किया जाने लगा तो राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ। इसके मूल में प्रगतिवादी दृष्टि थी और दलितों व शोषितों प्रति के सहानुभूति का भाव था। धीरे-धीरे स्वस्थ सामाजिक दृष्टि का विकास हुआ और इसमें प्रमुख भूमिका निभाई उन प्रगतिशील कवियों ने जिन्हें हम नागार्जुन, शिवमंगलसिंह सुमन, रांगेय राघव, त्रिलोचन, रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल के नाम से जानते हैं। इन कवियों के काव्य की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। ये वे कवि हैं जो मजदूरों और पीड़ितों के मात्र हिमायती नहीं हैं; अपितु उनके दुख-दर्द और प्रश्नों को बड़ी मुस्तैदी से काव्यबद्ध करते रहे हैं। इन्होंने जन-सामान्य और दलित वर्ग को सहानुभूति और करुणा के चश्मे से देखा। इनके उत्थान और अभिनव मानव-समाज के निर्माण के लिए प्रयत्न किया है। 'नागार्जुन' इस धारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में उभरे। उन्होंने जीवनास्था प्रेरित प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि की। नागार्जुन की कविताओं में उनका भोक्ता और रचनाकार एक साथ संगति पा सका है। पहले तो उन्होंने नये विचारों की छैनी से पुराने पत्थरों को तराशने का कार्य किया, किन्तु धीरे-धीरे वे एक सजग शिल्पी की तरह व्यंग्य की तीर-कमान लेकर आगे बढ़ते गये।

मिथिला निवासी वैद्यनाथ मिश्र नाम का एक अदना सा आदमी जब अपने आस-पास निरंतर बढ़ते अन्धविश्वासों और रूढ़-रीतियों से घिर गया तो उसका

मन विद्रोह कर उठा । जब पहले पहल विद्रोह का यह भाव साहित्यिक अभिव्यंजना लेकर प्रस्तुत हुआ तो उक्त आदमी ही 'नागार्जुन' नाम से प्रसिद्ध हो गया । 'नागार्जुन' एक व्यक्ति नहीं; मात्र कवि नहीं अपितु एक सशक्त विद्रोह का पर्याय है जो सत्ता, व्यवस्था और पूँजीपतियों के प्रति व्यंग्य की धार लेकर प्रस्तुत हुआ है । जीवन भर संघर्षरत, यायावरी वृत्ति के शिकार नागार्जुन व्यंग्य की खरी चेतना के कवि और कथाकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं । उन्हें लोक जीवन से गहरा लगाव है और वे साहित्य को सबके लिए मानते हैं । प्रगतिशील चेतना का वाहक, मध्य वर्गीय चेतना के सरल बिम्बों का प्रस्तुतकर्त्ता और शोषित व उत्पीड़ितों की संघर्षी आत्मा का प्रतिरूपक नागार्जुन अपनी काव्यानुभूति और काव्याभिव्यक्ति में पर्याप्त ईमानदार और जुझारू चेतना का कवि है । उसकी कविता जन-सामान्य के दुख-दर्द व पीड़ा छटपटाहट की कविता है, किन्तु इसके साथ ही एक एक अखण्ड शक्ति और आस्था भी उसकी कविताओं के तल में विद्यमान है । वस्तुत: 'नागार्जुन' के काव्य में आजादी के बाद के समूचे भारत की पूरी तस्वीर अपनी तमाम अच्छाई-बुराई के साथ नक्श है । उनके काव्य में देश का जो मानचित्र उभरा है उसमें जनता का संघर्ष पहाड़ बनकर खड़ा है और अर्थव्यवस्था, समाज-व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था की शत-शत धाराओं में विभक्त सरिताएँ श्लथ-मंद गति के साथ प्रवाहित देखी जा सकती हैं । नागार्जुन के कवि ने इन सबकी स्थिति परिस्थिति और गति को पहचाना है और तदनुसार मनोभावों के बिम्ब कहीं सरल और ऋजु भाषा में तो कहीं व्यंग्य की तीखी शैली में उभरे हैं—उभरते चले गये हैं ।

कृतित्व :

'नागार्जुन' का कृतित्व प्रगतिशील चेतना का वाहक है । उनकी काव्य-कृतियों और कथा-कृतियों दोनों में यही प्रगतिशीलता विविध कोणों से उभरी है। उन्होंने जो भी लिखा है उसके चित्र जीवन—विशेषकर मध्यवर्गीय जीवन और मजदूर वर्ग की जिन्दगी के बही खाते से लिये गये हैं । यही कारण है कि गुणा-भाग में बँटी जिन्दगी पूरी असलियत के साथ अभिव्यक्त हुई है । इनके काव्य की प्रधानत: तीन धाराएँ हैं—पहली धारा में वे कविताएँ आती हैं जो रागात्मक संवेदना को उजागर करती हुई सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति करती है । दूसरी धारा में उन कविताओं को स्थान प्राप्त है जो सामाजिक विषमता और विसंगतियों के साथ-साथ राजनैतिक अव्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वासों में बंधी जिन्दगी के यथार्थ और साफ-सुथरे 'ग्राफ' प्रस्तुत करती हैं । तीसरे वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं जो उद्‌बोधनात्मक और प्रचारात्मक हैं । फलत: अपेक्षाकृत हल्की हैं । इन सभी प्रकार की रचनाओं को उनके ये काव्य-संग्रह प्रस्तुत करते हैं : युगधारा, सतरंगे पंखों वाली, प्यासी पथराई आँखें और भस्मांकुर (खण्ड काव्य) । इनके अतिरिक्त कुछेके कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में कैद हैं और कुछेक ऐसी हैं जो कभी 'खून और शोले', 'प्रेत का

बयान' और 'चना जोर गरम' नामों के छपी थीं; किन्तु अब स्वतंत्रतः उपलब्ध नहीं हैं। इन काव्य-कृतियों का संक्षिप्त विवेचन आगे किया जा रहा है :

युगधारा :

'युगधारा' नागार्जुन की कवि-कलम का प्रथम हस्ताक्षर है। इसका प्रकाशन सन् 1956 में हुआ था। इस पहले काव्य-संग्रह में ही कवि की प्रगतिवादी चेतना को पूरे रंग-रोगन के साथ देखा जा सकता है। इसमें जहाँ एक ओर 'शपथ' और 'तर्पण' जैसी कविताएँ हैं वहीं 'प्रेत का बयान' जैसी व्यंग्यशील रचनाएँ भी हैं। 'शपथ' और 'तर्पण' में कवि ने गांधी की हत्या के सन्दर्भ में अपनी देशभक्तिपूर्ण सजग राष्ट्रीयता को वाणी दी है। तर्पण' में उन्होंने लिखा है :

जिस बर्बर ने
कल किया तुम्हारा खून पिता
वह नहीं मराठा हिन्दू है
वह प्रहरी है स्थिर स्वार्थों का
वह मानवता का महाशत्रु।

'बापू' के बलिदान से कवि का हृदय वेदनासिक्त होकर कराहता प्रतीत होता है। लगता है वह भीतर ही भीतर 'बापू' की मौत को घटित होते देख रहा है। 'युगधारा' की 'शपथ' कविता में वह न केवल खुद रोता है; अपितु अपने साथ सम्पूर्ण प्रकृति को रोते हुए देखता है :

"तीन-तीन गोलियाँ बाप रे!!
मुँह से कितना खून बहा है
महा मौन यह पिता तुम्हारा
रह रह मुझे कुरेद रहा है
इसे न कोई कविता समझे
यह तो पितृ वियोग व्यथा है।।"

बापू की मृत्यु पर कवि शपथ लेता है कि इस मौत के जिम्मेदार 'हिटलरी वंशजों से जब तक यह धरती शून्य न हो जायेगी तब तक साम्प्रदायिकता के दैत्य यथावत् बने रहेंगे। जहाँ तक कवि की व्यंग्य चेतना का प्रश्न है वह भी 'युगधारा' की कविताओं का प्रमुख स्वर है। प्रेत का बयान' में व्यंग्य न केवल तीखा और तेज है; अपितु मारक भी है। इसमें देशव्यापी अकाल, भुखमरी और शासकों की अक्षमता पर व्यंग्य किया गया है। 'महामानव' गांधी के नाम पर हो रहे अत्याचार और शोषण से भी कवि दुखी है अतः 'युगधारा' की कविताओं में उसने व्यंग्यात्मक शैली में लिखा है :

"बेच-बेचकर गांधीजी का नाम
बटोरो वोट
बैंक बैलेन्स बढ़ाओ
राजघाट पर बापू की वेदी के आगे अश्रु बहाओ।"

'युगधारा' की एकाध कविताओं में नागार्जुन ने अपनी निजी जिन्दगी के चित्र भी उपस्थित किये हैं। 'युगधारा' में लिखित "पैदा हुआ था मैं दीन-हीन अपठित किसी कृषक कुल में आ रहा हूँ पीता अभाव की आसव ठेठ बचपन से" पंक्तियाँ कवि की जिन्दगी का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करती हैं। इसी तरह कुछेक कविताओं में कवि ने महान कलाकारों और नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा-भावना को भी काव्यात्मक शैली में व्यक्त किया है। ऐसी कविताओं में 'रवि ठाकुर', 'चंदना' और पाषाणी' जैसी कविताएँ उल्लेख्य हैं। 'युगधारा' में ही संकलित 'भिक्षुणी' शीर्षक कविता भी नागार्जुन की श्रेष्ठ, मार्मिक और प्रभावी रचना है। इसमें बौद्ध भिक्षुणी ने अपने जीवन से ऊबकर मातृत्व की लालसा को प्रकट किया है। इस भिक्षुणी में तन्मयता है, किन्तु वह वासना के प्रति नहीं; जीवन के प्रति है। जिजीविषा का जो स्वर आस्था के रंगों में आगे चलकर व्यापक फलक घेरे हुए है
भी संकेतित है। कहने का तात्पर्य यही है कि 'युगधारा' नागार्जुन का प्रथम काव्य-संग्रह होकर भी उन सभी स्वरों की भूमिका प्रस्तुत करता है जो आगे चलकर क्रमशः विस्तृत वृत्त घेरे हुए हैं। इसकी अधिकांश कविताएँ सामाजिक भूमिका पर लिखी गई हैं। इनमें कवि की व्यंग्य-चेतना और भावी जीवन के प्रति आस्था; निष्ठा और जिजीविषा के स्वर भी निनादित हैं। यहीं से कवि स्वस्थ निर्माण के लिए प्रयत्नरत दिखलाई देता है।

सतरंगे पंखों वाली :

'युगधारा' के पश्चात् सन् 1959 में प्रकाशित 'सतरंगे पंखों वाली' कृति पूर्वापेक्षा कला और शिल्प की दृष्टि से अधिक प्रभावित करती है। यों इसकी भाव चेतना के वृत्त में भी 'युगधारा' के ही समान भावनाएँ समाई हुई हैं. किन्तु कतिपय प्रकृति विषयक कविताएँ अधिक महत्वपूर्ण बन पड़ी हैं। प्रकृति की मादक-मदिर छवियों में सने प्रणय-चित्र भी इस संग्रह की उपलब्धि माने जा सकते हैं। प्रकृति श्री की गंध वितरित करने वाली कविताओं में 'वसंत की अगवानी' और 'नीम की दो टहनियाँ' कविताएँ रेखांकित करने योग्य हैं। इनमें कवि-कल्पना मस्ती के रंग में सराबोर होकर पाठक की चेतना को न केवल भिगो देती है; अपितु वर्ण्य-प्रकृति के बिम्बों को भी हृदय-पटल पर उतार देती है। वसंतागम का यह दृश्य देखिए जिसे देखकर पाठक के मन का कोना-कोना थिरकने लगता है :

"दूर कहीं अमराई में कोयल बोली
परत लगी चढ़ने झींगुर की शहनाई पर

वृद्ध वनस्पतियों की ठूँठी शाखाओं में
पोर-पोर टहनी-टहनी का लगा दहकने
टेसू निकले मुकुलों के गुच्छे गदराए
अलसी के नीचे फूलों पर नभ मुस्काया ।"

'नीम की दो टहनियाँ' में भी कवि शिशिर की कपूरी धूप पर आसक्त है क्योंकि वह उसके रोम-रोम की प्यास बुझाने में समर्थ है । प्रकृति परक कविताओं में 'काली सप्तमी का चाँद' 'शरद पूर्णिमा' और झुक आये कजरारे मेघ' आदि भी उल्लेखनीय हैं । नागार्जुन के प्रकृति चित्रों की विशेषता यह रही है कि वे समग्र वर्ण्य दृश्य को पूरी ईमानदारी से मूर्तित कर गये हैं । 'ओ जनमन के सजग चितेरे' में बाँदा का प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश मूर्तित हो उठा । बाँदा का चित्र नागार्जुन की जनवादिता का रागसंस्पर्शित चित्र है । इसमें प्रकृति का यथार्थ बिम्ब भी है और मित्र-प्रेम का निर्मल सरोवर भी लहरें लेता दिखाई देता है । इसी संग्रह में 'नार्गार्जुन' की कुछेक ऐसी कविताएँ भी संकलित हैं जिनमें युगीन विषमता मूर्तित हुई है । यहाँ समग्र देश का दर्द नागार्जुन का दर्द बनकर आया है । 'देखना ओ गंगा मैया' और 'खुरदरे पैर' ऐसी ही रचनाएँ हैं जिनमें नागरिक और ग्रामीण जीवन की विषमताएँ प्रत्यक्षतः अभिव्यजित हुई हैं । 'देखना ओ गंगा मैया' में यदि मल्लाहों के जीवन की विषमता अभिव्यंजित है तो 'खुरदरे पैर' में रिक्शे वाले की जिन्दगी का चित्र यथार्थ शैली में व्यक्त हुआ है :

एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
घंटों के हिसाब से ढोये जा रहे थे ।"

व्यंग्य नागार्जुन का प्रिय विषय है । इस व्यंग्यवोध की निरूपक कविताएँ भी 'सतरगे पंखों वाली' संग्रह में हैं । 'सौन्दर्य-प्रतियोगिता' और 'जयति नखरंजनी' शीर्षक कविताएँ कवि के व्यंग्य बोध को प्रस्तुत करती है । सौन्दर्य प्रतियोगिता में दो मछलियों के रूपक के सहारे आज की कृत्रिम और प्रदर्शनी वृत्ति पर व्यंग्य किया गया है तो 'जयति नखरंजिनी' में आज की फैशनपरस्ती पर तीखा प्रहार किया गया है । दो 'फैशनेबुल' स्त्रियाँ महज इसलिए मतदान किये बिना लौट आती हैं कि ऐसा करते समय उनकी अँगुली पर काला चिह्न लगेगा । इस प्रकार 'सतरंगे पंखों वाली' कृति में प्रणय, प्रकृति; युगीन विषमता और आधुनिक जीवन की कृत्रिमताओं को कहीं सीधी सरल शब्दावली में; कही व्यंग्य से और कहीं चित्रात्मक शैली में अभिव्यक्त किया गया है ।

'प्यासी पथराई आँखें :

सन् 1962 में प्रकाशित 'नागार्जुन' का यह कविता संग्रह उनके चित्रकार

और व्यंग्यकार रूप को रेखांकित करता है। मेरी धारणा है कि नागार्जुन मूलतः व्यग्यंकार हैं एक निर्भीक और साहसिक कलाकार हैं। वे युगीन विषमताओं और विसंगतियों पर तो चोट करते ही हैं; अधिकारी और देश के कर्णधारों को भी नहीं बक्शते हैं। प्रारम्भ से ही शोषण, अन्याय, पक्षधरता और व्यवस्था के प्रति विद्रोही कवि नागार्जुन इस संग्रह तक आते-आते खासा आक्रामक और हिम्मतवर हो गया है। यही कारण है कि इस कृति की सत्तर प्रतिशत कविताएँ व्यंग्य की धार से पाठक के मन को छीलती हुई उसके माँस मज्जा तक को बाहर ले आई हैं। आधुनिकता, आधुनिक सभ्यता; कृत्रिमता और व्यवस्था के खोखलेपन को पर्दाफाश शैली में नागार्जुन का कवि जिस ढंग से व्यक्त कर गया है; वैसा ढग अपनाना प्रगतिवादी ही क्यों नये कवियों के लिए भी सशक्त भूमिका प्रस्तुत करता है। व्यंग्य के कारण ही कवि की अभिव्यक्ति तीखी और 'डाइरेक्ट' हो गई है। 'अब तो बंद करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' या 'मादा अजगर हो तुम' जैसी कविताएँ नागार्जुन ही लिख सकते हैं। यों व्यंग्य नागार्जुन में प्रारम्भ से ही मिलता है, किन्तु परवर्ती रचनाओं में तो वह तीखा, नुकीला और धारदार होता चला गया है। आलोच्य संग्रह की 'आक्यो खोकोन ओई जे गांधी महत्ता' में क्षेत्रीयता और प्रादेशिकता की संकीर्ण भावना के प्रति तीखा व्यंग्य किया गया है। इसी क्रम में 'घिन तो नहीं आती', 'पैसा चहक रहा है', 'काली माई', शकुन्तला', 'लुमुम्बा' और 'आओ रानी हम ढोएंगे पालकी' आदि कविताएँ गहरी और तीखी व्यंग्यात्मकता लिये हुए हैं। इस संग्रह का व्यंग्य-बोध व्यापक, स्तरीय और विविधात्मक है। सामाजिक विषमताओं और वर्ग-वैषम्य से क्षुब्ध कवि इतना अधिक व्यंग्यशील हो गया है कि वह धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से भी व्यंग्यों की भाषा लिखता है। 'काली माई' इसका उदाहरण है : "कितना खून पिया है जाती नहीं खुमारी; सुर्ख और लम्बी है मइया जीभ तुम्हारी।" 'शकुंतला' में पौराणिक कथा-वृत्त व्यंग्य के माध्यम से आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। 'लुमुम्बा' कविता का व्यंग्य भी तीखा है और कवि के निर्भीक मन की गवाही देता है।

'नागार्जुन' के इस संग्रह की कविताएँ यह प्रमाणित करती हैं कि वे जैसा सोचते हैं; वैसा बेहिचक कह देते हैं। स्पष्टतः; ईमानदारी और साहसिकता तो जैसे उनकी प्रत्येक कविता से टपकी पड़ती है। 'आओ रानी हम ढोएँगे पालकी' कविता में इग्लैण्ड की रानी के भारत आगमन के संदर्भ में तत्कालीन प्रधानमत्री जवाहरलालजी तक को व्यंग्य की लपेट में ले लिया गया है :

"आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी
यही हुई है राय जवाहरलाल की
रफू करेंगे फटे-पुराने जाल की
यही हुई है राय जवाहरलाल की ·· "

धनपतियों पर किया गया व्यंग्य भी काफी धारदार है। 'यह उन्मत्त प्रदर्शन' कविता में धनिकों की विवाह जैसे अवसरों पर की गई फिजूलखर्ची व प्रदर्शनी वृत्ति को आधार बनाकर व्यंग्य किया गया है। कवि एक रौ में लिख गया है :

> "शादी क्या है, वैभव का है यह उन्मत्त प्रदर्शन
> रेशम की यह चकाचौंध मणिमुक्ता का उद्दीपन
> पास पड़ोस उजागर है, बिजली लेती अँगड़ाई
> थिरक रही है माइक पर उस्तादों की शहनाई
> बिजली की ट्यूबों से भास्वर क्या पंडाल सजा है
> कौन कहेगा इसे रात बस यों ही एक बजा है।"

इतना ही क्यों इस संग्रह में दैनिक जीवन की दैनन्दिनी की लिखावट जगह-जगह देखी जा सकती है। रोजमर्रा की जिन्दगी के अनुभवों पर आधारित साधारण सी कविताएँ भी मानस को हिल्लोलित-उद्वेलित करने की क्षमता रखती हैं। इन्हीं साधारण सी दिखने वाली कविताओं के अन्तस् से कभी-कभी रागात्मक संवेदना के बिम्ब भी उभरते गये हैं। 'वे और तुम' कविता भी इस संग्रह की उल्लेख्य कविता है। इसमें मध्यवर्गीय चेतना के कवि के कुंठित जीवन और मेहनतकश आदमी के जीवन-अंतर को यथार्थ परक शैली में शब्दबद्ध किया गया है। इसी प्रकार 'चौराहे के उस नुक्कड़ पर' कविता में जन-जीवन का एक गतिशील बिम्ब देखिए जो व्यंग्य-वृत्ति के कारण अतिरिक्त प्रभाव-संवेदन से सिक्त होकर आया है। आम आदमी की भाषा में बोलता हुआ कवि लिखता है :

> "सेठों की गलियों का नुक्कड़
> काँटों पर लेटा है फक्कड़
> चमक रहे पैसे दो पैसे
> और पाँच पैसे दस पैसे
> जैसी श्रद्धा सिक्के वैसे
> निकल रहे हैं जैसे—तैसे।।"

कहना यही है कि 'नागार्जुन' यहाँ सामाजिक और राजनैतिक क्षितिज पर उड़ती हुई बहुरंगी धूल से क्षुब्ध और खिन्न हैं तथा वे अवसरानुकूल अपने आप ही व्यंग्य का सहारा लेते हुए काव्य-रचना में लीन रहे हैं। भाषा में सरलता और सादगी है। हरेक शब्द जिन्दगी के 'केश बॉक्स' से ऐसे उठा लिया गया है जैसे जीवनानुभूतियों ने उसे वक्त-बेवक्त के लिए जमा किया हो। सरल शब्दों की आत्मा में गहरा अर्थ भरकर अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति के द्वार तक ले जाने का कार्य नागार्जुन का कवि बखूबी कर सका है।

भस्मांकुर :

'भस्मांकुर' नागार्जुन की सद्य प्रकाशित प्रबन्ध रचना है। इसमें गृहीत

कथानक पौराणिक आख्यान से चुना गया है। महाबली 'तारक' राक्षस के त्रासद और उत्पीड़क कृत्यों से क्षुब्ध देवताओं ने अपनी रक्षा के लिए ब्रह्मा से प्रार्थना की थी। ब्रह्मा ने परामर्श दिया था कि यदि शिव गिरिजा से विवाह करके पुत्र उत्पन्न करें तो वह पुत्र ही इस राक्षस का संहार कर सकता है। 'ब्रह्मा' का यह परामर्श किसी शर्त या साधना से कम नहीं था क्योंकि तपस्यारत शंकर को पार्वती की ओर आकृष्ट करना असम्भव नहीं तो टेढ़ी खीर अवश्य था। इन्द्र की सलाह पर यह कार्य—शिव को पार्वती की ओर अनुराग समर्पित करने का कार्य; कामदेव ने अपने ऊपर ले लिया। 'कामदेव' अपने सहयोगी और मित्र वसंत के साथ कैलाश शिखर की ओर चल गया और काम में जुट गया। बस! यही कथा-संकेत है जिसकी अँगुली पकड़कर नागार्जुन की प्रतिभा पूरी प्रबन्ध-यात्रा तै कर सकी है। यही वह भूमि है जहाँ से आलोच्य काव्य की शुरूआत होती है।

कथानक :

कामदेव के प्रभाववश व बसंत के सहयोग से समस्त परिवेश मादक; गंधित और सुरम्य हो उठता है। पार्वती शिव को स्वप्न में मिलन-मुद्रा में देखती हैं तो शिव भी वसंत के मोहक-मदिर वातावरण से विस्मित-पुलकित होते हुए पार्वती को प्रेम-रंजित दृष्टि से देखते हैं। उनकी समाधि भंग होती है तो वे उसका कारण जानना चाहते हैं। उन्हें लताओं के अन्तराल में कामदेव दिखाई दे जाता है। फलतः शिव का क्रोध भड़क उठता है और मदन भस्म हो जाता है। पति को भस्म हुआ जानकर रति विलाप करने लगती है और मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर हो जाती है। ठीक इसी समय आकाशवाणी होती है और रति को मदन का जयघोष सुनाई देता है। आकाशवाणी यह भी संकेतित करती है कि मदन-कामदेव को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता है। वह मन में तो अदृश्य रूप से सदैव रहेगा। स्पष्ट ही यह कथानक छोटा है; किन्तु कवि की मौलिक कल्पनाओं के सहारे यह आकर्षक और चारुतर बन गया है। इस कथानक में तीन मौलिक उद्‌भावनाएँ की गई हैं—
1. मित्र के रूप में वसंत का दायित्व निर्वाह चित्रित है और इस रूप में वसंत कामदेव की पर्याप्त सहायता करता है। 2. पार्वती के स्वप्न की घटना भी मनोवैज्ञानिक है। असमय में ही लताएँ यौवनभार से झुक जाती हैं; पुष्पों का प्रसार अभिनव कांति और रमणीयता से भर उठता है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में पार्वती का स्वप्न देखना और उस पर विचार करना सोद्देश्य है। 3. मदन दहन के पश्चात् आकाशवाणी की मौलिक उद्‌भावना करके पौराणिक आख्यान को नया मोड़ दिया गया है।

पात्र-विधान

'भस्मांकुर' काव्य में आये पात्रों ने इस कृति को प्रभावी और रमणीय बना दिया है। इसमें प्रमुख पात्र 5 हैं—मदन, रति, वसंत, शिव और पार्वती। कामदेव

कृति के केन्द्र में विराजमान है । वह अपने साथी वसंत के साथ आता जाता है और प्रकृति के कार्य का निरीक्षण करता है; किन्तु शिव को समाधिस्थ देखकर उसका हृदय सशंकित हो उठता है । यद्यपि वह परम साहसी और दृढ़-प्रतिज्ञ है; किन्तु फिर भी शिव को समाधिस्थ देखकर उसका साहस डगमगाने लगता है; पुष्प-धनुष शिथिल पड़ जाता है; उसका अंग-अंग काँपने लगता है; पसीना छूट जाता है और वह क्षण भर के लिए उद्भ्रान्त सा हो जाता है । वह अपने को सम्भालने का प्रयत्न करता है और इन्द्र को दिये गये वचन के अनुसार अपनी सिद्धि हेतु पुनः प्रयत्न करता है । इस निराश और उद्भ्रांत मनस्थिति के सघन श्यामल अंधकार में उसे 'रति' के वे शब्द याद हो आते हैं कि "तोड़ चुके हो कितनों का तप" । इस तरह कामदेव पुनः शक्ति संचित करता है और शिव को अपना निशाना बनाता है; किन्तु शिव उससे प्रभावित नहीं होते हैं । उनकी तपोसाधना में विघ्न तो आता है, किन्तु उनकी क्रोधाग्नि से मदन का बाहरी शरीर भस्म हो जाता है । उसका सूक्ष्म शरीर मनुष्य के हृदयों में सदैव के लिए व्याप्त हो जाता है ।

'रति', 'भस्मांकुर' का दूसरा प्रमुख पात्र है । वह काम की प्रिया है—पत्नी है और अनिद्य सुन्दरी है । इतना ही नहीं वह मदन की शक्ति भी है; उसकी प्राणधिका भी है और चिर अनुगामिनी भी है । रति में नारी जनोंचित दुर्बलताएँ और आशंकाएँ भी हैं । कारण शिव की तपस्या को भंग करने के दुस्साहसपूर्ण कार्य के विषय में सुनकर वह भय और शंका से काँप तो जाती है; फिर भी यह उसे सहन नहीं कि उसके प्रिय को अपने कार्य में असफलता मिले । 'रति' का चरित्र लोककल्याण की कामना से वलायित एक ऐसी नारी का चरित्र है जो लोकहित के लिए अपने पति को मृत्यु के मुख तक में झोंकने के लिए तत्पर हो जाती है । इन विशेषताओं के साथ ही रति हास-परिहास युक्त नारी है । वह वसंत के साथ काफी हास-परिहास और विनोद करती है । अपने पति के भस्म हो जाने पर वह नारीजनोंचित पीड़ा, वेदना और टीस भरे स्वर में विलाप भी करती है किन्तु जैसे ही आकाशवाणी के रूप में उसे ये शब्द सुनाई पड़ते हैं कि उसका पति नष्ट नहीं हुआ है; अपितु अनंग और मनोज बनकर अजर-अमर हो गया है वैसे ही वह अमर सुहागिनी के सुख को भोगती हुई प्रसन्नता का अनुभव करती है । स्पष्ट ही रति को इस काव्य में नारी सुलभ भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है ।

"वसंत', 'भस्मांकुर' का तीसरा प्रमुख पात्र है । वसंत मदन का अभिन्न सखा है । वह मादकता और मोहजाल फैलाने में निपुण है । आलोच्य काव्य में वह एक सच्चे मित्र के रूप में चित्रित हुआ है । अपने विनोदी स्वभाव के कारण वह अपनी भाभी रति से खुलकर हंसी-मजाक करता है और शिव को 'खूसट' कहकर यह आशंका व्यक्त करता है कि कहीं ऐसा न हो शिव पार्वती को छोड़कर अनिद्य सुन्दरी रति का ही हाथ पकड़ लें । वसंत में सच्चे मित्र के सभी गुण विद्यमान हैं । मदन के

विनाश पर वह हतप्रभ; लुटा सा और किंकर्त्तव्य विमूढ़ सा हो जाता है। उसकी स्थिति का वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है—

मूक हतप्रभ किंकर्त्तव्य विमूढ़
लुटा-पिटा-सा उत्पीड़ित, संत्रस्त
यह वसंत था शायद वही वसत।

वसंत वाणीहीन हो जाता है; उसके नेत्र पथरा जाते हैं। उसकी इसी स्थिति का परिचय देती हुई 'रति' में कहा है :

हाय, हाय! तू भी है वाणीहीन
पथराये क्या तेरे अपलक नेत्र!
स्मृतिभ्रंश है अथवा पक्षाघात?
हाय! बंधु मधु-माधव, हाय वसंत!!

'भस्मांकुर' में 'शिव' और पार्वती के चरित्रों को पौराणिक रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। यों मदन-दहन के अवसर पर कवि ने शिव को भी सताप व पीड़ा से आकुल दिखलाकर उनके चरित्र में मौलिकता का किंचित् आभास दिया है। इसी तरह पार्वती के पौराणिक चरित्र में सेवा-भाव की अतिशयता दिखलाकर कवि ने नवीनता का विधान भी किया है। स्वप्न में शिव-मिलन के दृश्य से नागार्जुन ने नारी-सुलभ प्रणय भाव को मनोवैज्ञानिक संस्पर्श भी प्रदान किया है।

प्रकृति निरूपण और युग निरूपण की दृष्टि से भी भस्मांकुर काव्य का सौन्दर्य प्रभावित करता हैं। इसमें प्रकृति के आलंबन, उद्दीपन, संवेदनात्मक और प्रतीकात्मक आदि रूपों को देखा सकता है। प्राकृतिक सुषमा से सिक्त अनगिनत बिम्ब आलोच्य काव्य की स्थायी निधि हैं। इसमें आये प्रकृति-दृश्य देशगत, जातिगत और सांस्कृतिक विशेषताओं से युक्त हैं। प्रकृति के चेतन और अचेतन दोनों रूपों को भस्मांकुर काव्य में देखा जा सकता है। आधुनिक युग की स्थितियाँ भी इस काव्य में संकेतित हैं। मानव-मनोवृत्ति; नारी स्वभाव; मित्र का आदर्श रूप और आधुनिक युग की लोकवादी दृष्टि का संस्पर्श भी 'भस्मांकुर' में मिलता है।

भावों की मार्मिक व्यंजना एवं रसानुभूति :

'भस्मांकुर' काव्य में विविध भावों की मार्मिक व्यंजना भी हुई है। विविध भावों की मार्मिक व्यंजना के कारण भस्मांकुर न केवल प्रभावी हो गया है; अपितु उसकी कलात्मकता भी द्विगुणित हो गई। रति, हर्ष, करुणा, उग्रता, जड़ता, क्रीड़ा, चपलता, दैन्य, चिन्ता, मोह, गर्व, औत्सुक्य, अमर्ष, उन्माद, व्याधि और वितर्क आदि मनोभावों की व्यंजना भस्मांकुर के काव्य-सौष्ठव का जीवन्त प्रमाण है। 'विषाद' एवं 'शंका' का चित्र अंकित करते हुए रति के व्यथित हृदय का यह चित्रण देखिए :

झट से झुककर लिया मदन ने थाम
काँप रहा था रति का मृदुल शरीर
स्वेदसिक्त, रोमांचित, कांतिविहीन
अंग-अंग लगता था स्पदन-शून्य
होठों पर से गायब थी मुसकान
फीकी आभा में उदास थे गाल ।।

इसी प्रकार रति-विलाप के प्रभाव से प्राणशून्य हुए वसंत की इस 'जड़ता' को देखिए जो बिम्बमयी शैली के कारण मन को बाँध लेती है :

सुनता सुनता रति के दुस्सह विलाप
प्रकट हुआ मधु मानो अपने आप
प्राणशून्य सा खड़ा रहा चुपचाप
मूक हतप्रभ किंकर्त्तव्य विमूढ़
लुटा-पिटासा उत्पीड़ित, संत्रस्त
यह वसंत था शायद वही वसंत ।।

'भस्मांकुर' में अनेक भावों को रस की स्थिति तक भी पहुँचा दिया गया है। रति स्थायी भाव से सम्बद्ध विप्रलंभ शृंगार; वसंत के हास-परिहास के साथ हास्य रस; मदन-दहन प्रसंग में क्रोध स्थायीभाव के साथ रौद्र रस और रति-विलाप में करुण रस की मार्मिक व्यंजना हुई है। करुण रस का यह चित्र देखिए :

"छलिया निकला निखिल देव समुदाय
यों ही मैं लुट गई अभागिन, हाय
मन ही मन आतंकित थी, प्राणेश !
आह ! अन्ततः फूट पड़ा दुर्दैव ।।"

और विप्रलंभ शृंगार का परिचायक यह चित्रण देखिए :

शिथिल पड़ा मम व्रीड़ा–विगलित हाथ
थाम लिया है प्रिय ने फिर चुपचाप
लगी उभरने उद्दीपन की छाप
मन में थिरकन, तन में है रोमांच
पलकों पर जम कर बैठा संकोच
उठ पाती ऊपर कहाँ निगाह·········
तरुणी गिरिजा तरुण शम्भु के साथ
निपट मुग्ध सी बैठी भाव-विभोर।

काव्य-शिल्प :

'भस्मांकुर' भाव, रस, कल्पना और सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से ही विशिष्ट

नहीं है; उसका शिल्प भी विशिष्ट है। सामान्यतः इस काव्य की भाषा परिष्कृत खड़ी बोली है। इसमें एक ओर तो संस्कृत पदावली का सार्थक प्रयोग हुआ है और दूसरी ओर सरलभाषा का। यही कारण है कि एक ओर तो कवि 'असमय अंकुर' 'असमय लता-वितान', गुंजित अलिदल-कंपित-कलिका कोर', 'स्वदेसिक्त रोमांचित कांतिविहीन', मंदाकिनी-सलिल सीकर संपात' और 'भृकुटि-सुरेखित आयत पक्ष्मल नेत्र' जैसी तत्सम पदावली का प्रयोग कर सका है और दूसरी ओर 'काँटों तक के बदल गये हैं रूप', 'एक दूसरे का मुँह लेते सूँघ', हाथ उठाकर देखा दाँई ओर', 'तुम जाओ बूढ़े का करो इलाज', 'मत करना उस खूसट पर विश्वास' और 'होठों पर से गायब थी मुस्कान' जैसी सरल और व्यावहारिक शब्दावली का प्रयोग भी निस्संकोच भाव से करता चला गया है। वस्तुतः नागार्जुन ने आलोच्य काव्य में भाव, प्रसंग और परिस्थिति के अनुसार भाषा का प्रयोग किया है। जैसा भाव वैसी भाषा और जैसा प्रसंग वैसा शब्द विधान भस्मांकुर की भाषा की विशेषता है। ऐसा लगता है कि 'भस्मांकुर' का सृजन छायावादी सौन्दर्य की भूमिका पर हुआ हैं। उसमें आये भाव, प्रसंग, भाषा, शैली सभी पर छायावादी रंग चढ़ा हुआ दिखाई देता है। 'भस्मांकुर' की भाषा में वर्ण मैत्री, नाद-सौन्दर्य लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता और वक्रता भी पर्याप्त है। इतने पर भी यह सच है कि यह छायावादी शिल्प प्रगतिशील चेतना के वाहक कवि ने अपनाया है; अतः उसमें बीच-बीच में प्रगतिशीलता के द्योतक शब्द भी बेखटके आते चले गये हैं : 'तुम भी मन्मथ बौड़म हो क्या खूब', 'बरसा दी उसने सौ मन बारूद' और 'मत करना उस खूसट का विश्वास' जैसे प्रयोग भी इस कृति में मिल ही जाते हैं। लाक्षणिक सौन्दर्य की दृष्टि से 'असमय हरियाली का पारावार', 'रोम-रोम से फूट रहा लावण्य', 'मूक हास में थिरकेगा कैलास', 'थिरक उठीं कंटकित झाड़ियाँ आज', 'मौसम का जादू ले आया रंग' और 'रातों रात यहाँ उतरा मधुमास' आदि प्रयोग उल्लेखनीय हैं। प्राकृतिक और सांस्कृतिक प्रतीकों के विनियोग से, अतिपरिचित मुहावरों के संयोग से और सार्थक व सहज अलंकृति से भस्मांकुर की भाषा प्रेषणीयता के गुण से युक्त हो गई है।

बिम्ब-विधान की दृष्टि से देखें तो भी हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। इसमें अनेक संश्लिष्ट, अलंकृत और ऐन्द्रिय बिम्बों की योजना हुई है। प्रकृति की चित्रपटी पर खड़े किये गये ये बिम्ब कवि की प्रतिभा के निदर्शक तो हैं ही; उसकी कल्पना-क्रीड़ा के समर्थ गवाह भी हैं। इनमें संवेदना की गहराई है; भाषा की चारुता है और भावोपम अलंकारों का सौन्दर्य है। उदाहरणार्थ :

वस्तु बिम्ब :

"पग-पग पर ऋतुपति का छवि-संभार
दिशा-दिशा में किसलय कुसुम प्रसार

विविध गंध बंधुर समीर-संचार
पिकरव, आलिगुंजन. झिल्ली-झंकार
स्निग्ध सुकोमल, पिघले तरल-तुषार
प्रकृति-परी ने सजा हरित श्रृंगार
त्वरा-भरित झरने हो उठे उदार'' ।।

ऐन्द्रिय बिम्ब :

1. 'छलकाता हूँ सात स्वरों का स्वाद'
2. 'मेरी पंचमतान पीने को उत्सुक रहते कान'
3. 'नासापुट को मिला गंध-संधान'
4. 'मधु ऋतु की जादुई छुअन से तृप्त'
5. 'गिरितनया की अधर सुधारस पान' ।

भाव बिम्ब

1. ''मुझे देखकर मुस्काते आप
चटुल दृगों में प्रीति गई है व्याप''
2. ''काँप रहा था रति का मृदुल शरीर
स्वेद सिक्त रोमांचित कांति विहीन''

'भस्मांकुर' में निरूपित भावों को अधिकाधिक चारुतर और प्रेषणीय बनाने के लिये नागार्जुन ने उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय जैसे अलंकारों कोभी अपनाया है । प्रयुक्त अप्रस्तुत नवीन आकर्षक और मोहक वन पड़े हैं । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उपमा :

1. निपट मुग्ध सी बैठी भाव-विभोर
2. जादूगर सा रति को लगा वसंत
3. चंदन सी लगती थी भीगी धूल
4. गिरिजा गिरी विरुध ज्यों कदली स्तंभ

रूपक.

1. दमक उठा गिरितनया का मुख-पद्म
2. शमित हो चुका रूप-सुधा का दंभ
3. स्वच्छ वर्फ की धवल मुलायम शाल

उत्प्रेक्षा

''तभी कपोलों पर संकोच विलास
छिटके मानो मिला सुखद आभास''

भ्रांतिमान :

"अति सुन्दर मुखमण्डल चंपक कांति
हुई मदन को स्वर्णचन्द्र की भ्रांति"

मानवीकरण :

अगणित ठूसे मना रहे उल्लास
लतिकाओं ने पकड़ी सुख की राह
दीर्घ प्रलंबित थाम लिए भुजदण्ड
थिरक उठीं कंटकित झाड़ियाँ आज...

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'भस्मांकुर' नागार्जुन का प्रभावी, आकर्षक और रमणीय प्रबन्ध है। भाव, शिल्प और कल्पना आदि सभी दृष्टियों से यह अपनी कमनीयता में अकेला है। इसकी भाषा प्रसंगों और भावों के संकेत पर नाचती है; बिम्ब पाठक को संवेदनासिक्त करते हैं; अलंकृति भावोत्कर्ष की साधिका है, प्रतीकात्मकता नित्यनूतन भंगिमाओं से सजी होने के कारण अर्थ-प्रेषण में सहायक है तो शैली में गत्वरता है; मलयानिल की गंधिम गति है। निश्चय ही 'भस्मांकुर' नागार्जुन की काव्य-यात्रा का उलेख्य सोपान है।

काव्य प्रवृत्तियाँ :

'नागार्जुन' की कविताओं के प्रमुख विषय प्रकृति, प्रणय, सामाजिक जीवन की विषमता, राजनैतिक अव्यवस्था, आर्थिक असमानताजनित शोषण, उत्पीड़न तथा धार्मिक अंधता के साथ-साथ जीवन के गहरे यथार्थ से सम्बन्धित हैं। इन संकेतित विषयों को आधार बनाकर लिखी गई नागार्जुन की कविताओं में उपलब्ध प्रमुख प्रवृत्तियाँ ये हैं—राष्ट्रीयता, युगीन विषमता की अभिव्यंजना, आस्था और संकल्प निष्ठा, व्यंग्यशीलता, जागरण का स्वर और रागात्मकता व संवेदात्मकता आदि। इन प्रवृत्तियों को कवि ने कहाँ और किस रूप में प्रस्तुत किया है, इसका सोदाहरण विवेचन आगे किया जा रहा है।

1. राष्ट्रीयता :

'नागार्जुन' को देश की धरती से और उस पर बसने वाली जनता से गहरा प्यार है। वे जन-मंगल के आकांक्षी और जागरण के प्रतीक प्रतीत होते हैं। उनकी अनेक कविताओं में राष्ट्रीय भावों से सजी सशक्त पंक्तियाँ हैं जो प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में उभरी हैं। उनकी राष्ट्रीयता के कई रूप हैं। कभी तो वे जन-मंगल की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं, कभी धरती और धरतीवासियों की तकलीफों का अनुभवन करके उनके प्रति सहानुभूति का अर्घ्य प्रदान करते हैं और कभी राष्ट्रीयता के प्रतीक और देश की आजादी के पुरोधा नेताओं और महात्माओं के प्रति अपनी

श्रद्धा-भक्ति प्रगट करते हैं। 'युगधारा' काव्य कृति में संकलित 'तर्पण' और 'शपथ', शीर्षक से लिखी गई कविताओं में नागार्जुन की राष्ट्रीयता को देखा जा सकता है। 'तर्पण' में गांधी की मृत्यु पर खेद व्यक्त करते हुए आशा व्यक्त की गई है कि उनके स्वप्न सत्य बन कर दिखेंगे। उन्होंने लिखा है जिस बर्बर ने कल तुम्हारा खून पिया वह नहीं मराठा हिन्दू है। वह प्रहरी है स्थिर स्वार्थों का वा मानवता का महाशत्रु हम समझ गये'' 'राष्ट्रीयता के भावों की अवगति कराने वाली एक और रचना 'महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे' नाम से भी उपलब्ध है। गाँधी की मृत्यु से विषाद से भरा कवि अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को वाणी देता हुआ कहता है :

> "बापू मरे ! अनाथ हो गयी भारतमाता
> अब क्या होगा—
> अंधकार ही अंधकार है।"

नागार्जुन की राष्ट्रीय भावों की कतिपय रचनाओं में वर्तमान की पीड़ा के प्रति क्षोभ, प्रगति के लिए आशा, संघर्ष की तैयारी और राष्ट्रीय आस्था को अभिव्यक्त किया गया है। इस सन्दर्भ में 'रामराज्य' कविता की ये पंक्तियाँ देखिये—

> भारतमाता के गालों पर कस कर पड़ा तमाचा है
> रामराज्य में अबकी रावन नगा हू कर नाचा है''

कतिपय कविताओं में देश प्रेम की भावनाओं को स्पष्ट, किन्तु सशक्त अभिव्यंजना मिली है। 'खेत हमारे–भूमि हमारी, सारा देश हमारा है, इसलिए तो हमको इसका चप्पा-चप्पा प्यारा है' 'प्यासी पथराई आँखें' काव्य संग्रह में भी कुछ कविताएँ ऐसी हैं जो प्रांतीयता की उपेक्षा करके व्यापक राष्ट्रीयता को पुष्ट एवं प्रसारित करती हैं।' 'तिलक की प्रतिमा को आधार बनाकर कवि ने इसी राष्ट्रीयता को वाणी दी है।

> स्थापित नहीं होगी क्या
> लाला लाजपत राय की प्रतिमा मद्रास में ?
> दिखाई नहीं पड़ेंगे लखनऊ में सत्यमूर्ति ?
> सुभाष और जे० एम० सैन गुप्त क्या सीमित रहेंगे
> भवानीपुर और शाम बाजार की दुकानों तक ?
> तिलक नहीं निकलेंगे पूना से बाहर।"

'हम कुसुमों का चंचरीक, 'शीर्षक कविता में कवि देश के सैनिक की महानता को संकेतित करता हुआ उसकी देश-भक्ति को प्रमाणित करता है। वस्तुत: नागार्जुन की कविताओं में राष्ट्रीयता और जन-जागृति का सशक्त स्वर अभिव्यक्त हुआ है। चीन के आक्रमण से उसकी देश-भक्ति में डूबी आत्मा कराह उठती है

और वह आक्रोशमयी वाणी में यहाँ तक लिख देता है कि 'आओ हम माओ को जिन्दा गाढ़ दें' 'फाहियान के वशवर' कविता भी राष्ट्रीयता की इसी जमीन पर लिखी गई है। उसमें भी कवि का क्षोभ निहित है : ' कहा था कभी कन्फ्यूशियस के बेटों ने 'नमो बुद्धाय बुद्धं शरणम् गच्छामि; चीख रहे वही अब जोरों से–नमो बुद्धाय; युद्धं शरणम् गच्छामि।"

2. युगीन विषमता की अभिव्यंजना :

कवि नागार्जुन के काव्य की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति युगीन विषमताओं और विकृतियों की तीखी व्यंजना है। उन्होंने समाजव्यापी कुरीतियों, विकृतियों और असंगतियों को यथार्थ की खुली आँखों से देखा है। समूचे भारत के दुख-दर्द, शंका-कुशंका पीड़ा–छटपटाहट, दुख-दैन्य, ग्रामीण व नगरीय जीवन की विषमताओं, मजदूरों की विषमता और अभावों में पल रही जिन्दगी, नगरीय परिवेश में व्याप्त आपाधापी, स्वार्थपरता, यांत्रिकता और शोषण तथा पूँजीपतियों के अत्याचार व उत्पीड़न की कथाओ के सहारे विकसित व्यथा-प्रसंगों की मुँह बोलती तस्वीर नागार्जुन की कविताओं में कैद है। असल में समूचा युग और आजादी के बाद का भारत नागार्जुन ने शब्दों में बाँध दिया है। भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी, मँहगाई और बेरोजगारी के प्रकोप और फूत्कार से त्रस्त जनता के दुख-दर्दों को शब्दों का सादा जामा पहनाकर कवि सघन प्रभाव उत्पन्न कर सका है—

"कहीं बाढ़, भूचाल, कहीं पर, कहीं अकाल कहीं बीमारी
महँगाई की क्या नजीर दूँ, मानो द्रुपद सुता की सारी।
भूखो मरो चबाओ पत्ती, मगर अन्न का नाम न लेना
कहीं न तुम भी पकड़े जाओ, कहीं सफाई पड़े न देना।"

इसी प्रकार 'पुलिस और पलटन के हाथी कितना चारा खाते हैं, वहीं रंग हैं, वहीं ढंग हैं, पर कर नहीं कुछ पाते हैं' जैसी पंक्तियों में भी प्रशासक वर्ग की मन-मौजी के कारण निरन्तर होते रहने वाले परिणाम हीन खर्च से उत्पन्न वैषम्य को प्रस्तुत किया गया है। 'सतरंगे पंखों वाली' कृति में संकलित 'देखना और गंगा मैया' और खुरदरे पेट' रचनाओं में ग्रामीण और नागरिक जीवन के युगव्यापी वैषम्य चित्रित हुए हैं तो 'प्यासी पथराई आँखों' की 'आदम का तबेला' कविता में एक मध्यवित्तीय परिवार के करुण चित्र हृदय को द्रवित कर देते हैं।

"ऊपर देखते हैं बाल्टियों के ढेर, पितरों की प्यासी रूहें।
अँगूठा चूसती है नवजात बच्ची, खिड़की से लटका है लाल खिलौना"

3 शोषितों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति :

"नागार्जुन की कविताएँ भारत के जन-जीवन की मुँह बोलती वे तस्वीरें हैं जिनमें नगरीय और ग्रामीण समाज की विषमताओं, विवशताओं और विकृतियों के

गहरे रंग भरे गये हैं। लोक-चेतना के कवि नागार्जुन ने संतप्त, उपेक्षित और मर्दित जन-समुदाय का चित्रण करके ही नहीं छोड़ दिया है, उसके प्रति अपनी गहरी सहानुभूति भी अर्पित की है। स्वयं संघर्षों में पलने के कारण तथा निरन्तर विषमताओं की चक्की में पिसते रहने के कारण नागार्जुन का मन पर्याप्त मानवीय और सहानुभूतिशील हो गया है। 'सच न बोलना' और 'रामराज्य' ऐसी ही कविताएँ है जिनमें कवि पूँजीपतियों के दारुण अत्याचारों से पिसती जनता के प्रति द्रवित है। जब वह कहता है कि 'खादी ने मलमल से अपनी साँठ-गाँठ कर डाली है। बिड़ला, टाटा और डालमियाँ की तीसों दिन दीवाली है'' या "जमींदार है, साहूकार हैं, बनिया है, व्यौपारी है, अन्दर-अन्दर विकट कसाई बाहर खद्दरधारी है तो युगीन विकृतियों से पीड़ित कवि की आत्मा न केवल चीत्कार करती है, अपितु वह इनके द्वारा उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति व करुणार्द्र होकर उन्हीं की पंक्ति में जा खड़ा होता है। 'घिन नहीं आती है' कविता में भी कवि कृषकों और मज़दूरों के प्रति पर्याप्त सहानुभूतिशील हो उठा है—

> "कुली मजदूर हैं बोझा ढ़ोते हैं खींचते हैं ठेला
> धूल, धुँआ भाप से पड़ता है सबका पाला
> थके-माँदे जहाँ-तहाँ हो जाते हैं ढ़ेर
> सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन।"

4. आस्था और संकल्प के स्वर i

नागार्जुन ने जहाँ युगीन विकृतियों और विषमताओं के धुएँ और गर्द-गुबार से पीड़ित मानवता के चित्र प्रस्तुत किये हैं, वहीं आस्था और संकल्पनिष्ठा के स्वरों को भी ओजस्वी शैली में प्रस्तुत किया है। उपेक्षितों और पीड़ितों का विश्वास बन कर आने वाला नागार्जुन उनकी शक्ति को आस्था में तथा भावना को संकल्पी स्वरों से गूँथता दिखाई देता है। 'तुम किशोर तुम तरुण', 'हटे दनुज दल मिटे अमंगल', 'मेरी भी आभा है' और 'लाल भवानी' जैसी कविताओं में आस्था और संकल्प के स्वर गुँथे हुए हैं। 'सतरंगे पंखों वाली' की ये पंक्तियाँ देखिये—

> "तन जर्जर है भूख प्यास से
> व्यक्ति-व्यक्ति दुख-दैन्य ग्रस्त है
> दुविधा में समुदाय पस्त है।
> लो मशाल, अब घर-घर को आलोकित कर दो
> संत बनो प्रज्ञा प्रयत्न के मध्य
> शान्ति को सर्व मंगला हो जाने दो।"

लोक-मंगल की चैतन्य अभिलाषाओं और अपनी मांगलिक भावनाओं को 'पुलकित तन हो, मुकलित मन हो, सरस और सक्षम जीवन हो, फिर न युद्ध हो,

गति न रुद्ध हो, निर्भर निरांतक यौवन हो' ,जैसी पंक्तियों में बड़ी सफाई से कहा गया है। आशा और विश्वास के कदमों से चलकर जैसे ही कवि 'लाल भवानी' कविता की दुनियाँ में प्रवेश करता है तो उसके संकल्पनिष्ठ स्वर यों व्यक्त होते हैं —

"सेठों और जमींदारों को नहीं मिलेगी एक छदाम,
खेत खान दूकान मिले सरकार करेगी दखल तमाम।
खेत मजदूरों और किसानों में जमीन बँट जाएगी,
नहीं किसी की कमर के लिए सिर पर बेकारी मँडरायेगी
नौकरशाही का यह रद्दी ढाँचा होगा चूरम-चूर,
'सुजलां सुफलां' के गाएँगे गीत प्रसन्न किसान-मजूर।"

5. व्यंग्यशीलता :

नागार्जुन के काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता व्यंग्यशीलता है। उनका व्यंग्य सटीक, पैना और धारदार है। उसमें भीतर तक छीलते जाने की क्षमता है, सतहीपन से वह कोसों दूर है, किन्तु कवि जीवन के चौराहे पर खड़ा होकर सब ओर देखकर मुस्कराता प्रतीत होता है मानो वह कह रहा हो—अरे बच्चू मेरी पीन और पैनी मार से बचकर जाएगा कहाँ ? हिन्दी के प्रगतिशील कवियों में यदि व्यंग्य का सफल प्रयोक्ता कोई है तो वे नागार्जुन हैं जिन्हें उनके करीबी दोस्त उनके इसी गुण के कारण 'नागा बाबा' तक कह देते हैं। विश्वंभर मानव ने ठीक लिखा है कि हरिश्चन्द्र युग के कुछ साहित्यकारों को छोड़कर पिछले पचास वर्षों में नागार्जुन जैसी तीखी और सीधी चोट करने वाला व्यंग्यकार हमारे साहित्य में नहीं हुआ है।' वस्तुत: उनके व्यंग्य में बेपदर्गी, करुणा, विनोदीवृत्ति, पैनापन और वक्रिमा का अद्भुत समीकरण है। उनके अधिकांश व्यंग्य एक सच्चे और जन-हितैषी कवि के व्यग्य हैं। उनका पैनापन जन-जीवन में व्याप्त व्यथा और तत्प्रेरित रिक्तता के कारण है। व्यंग्य प्रधान कविताओं में 'रामराज्य', प्रेत 'का बयान' आये दिन बहार के, 'महाप्रभु जानसन के प्रति 'चन्दन और पानी' 'दीपक और बाती' विज्ञापन सुन्दरी. 'सौन्दर्य प्रतियोगिता' 'चौराहे के उस नुक्कड़ पर, 'तालाव और मछलियाँ' और देखना ओ गंगा मैया' आदि कितनी ही कविताओं के नाम लिये जा सकते हैं। इन सभी रचनाओं में राजनीतिक नेताओं पर, काँग्रेसी नेताओं पर, भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं पर, अतिरिक्त कर-प्रणाली पर, पूँजीपतियों पर, शिक्षक की दयनीयता पर, फैशन परस्तों पर, कृत्रिम प्रदर्शनों पर, सामाजिक व धार्मिक रूढ़ियों पर, साधू के रूप में बैठे शैतानों पर और नारी की पराधीनता आदि पर तीखे किन्तु महीन व्यंग्य किए गए हैं। कतिपय उदाहरणों से इस व्यंग्य का अनुमान लगाया जा सकता है—

1. **पंचवर्षीय योजनाओं के कारण कर वृद्धि और योजनाओं की क्रियान्विति पर व्यंग्य :**

"आजादी की कलियाँ फूटीं, पाँच साल में होंगे फूल,
पाँच साल में फल निकलेंगे, रहें पंत जी भूला भूल
पाँच साल कम खाओ भैया, गम खाओ दस-पन्द्रह साल,
अपने हाथों से झौंकों यों अपनी आँखों में धूल।

2. **शिक्षकों की दयनीयता पर व्यंग्य :**

"ओ रे प्रेत-कड़क कर बोले नरक के मालिक यमराज
सच सब बतला कैसे मरा तू ? भूख से अकाल से ?
सुनिये महाराज! तनिक भी पीर नहीं
दुख नहीं, दुविधा नहीं, सरलतापूर्वक निकले थे प्राण
सहन नहीं कर सकी आँत पेचिश का हमला।"

3. **फैशन परस्ती पर व्यंग्य :**

"छिः कौन लगवाये काले निशान ?
कौन ले वैलेट पेपर, मतदान कौन करे ?
बात की जटा सी बात काले निशान की,
तीन वोट रह गये फैशन के नाम पर।।"

4. **सर्वोदयवादियों के ऊपर व्यंग्य :**

"बापू के भी ताऊ निकले तीनों बंदर बापू के
सरल सूत्र उलझाऊ निकले तीनों बंदर बापू के
सचमुच जीवनदानी निकले तीनों बंदर बापू के
ज्ञानी निकले ध्यानी निकले तीनों बदर बापू के।'

5. **नेहरू तथा अन्य नेताओं पर व्यंग्य :**

"हम चावल खाते एक किलो, दस का दे आते नोट मगर
यों सिकुड़ते रहते, सिलवाते सपने में ऊनी कोट मगर
गालियाँ छलकती, बैलों की जोड़ी को देते वोट मगर
हम गाँजा ही बेचा करते, लेते खादी की ओट मगर

खुलते खिलते कुछ गाल और
तुम रह जाते दस साल और।।"

उदाहरण ढ़ेरों हैं, किन्तु नागार्जुन की व्यंग्यशीलता को स्पष्टतः प्रमाणित करने के लिए ये पर्याप्त हैं।

6. रागात्मक संवेदनशीलता :

यथार्थ के शिल्पी, व्यंग्य के प्रयोक्ता और जीवन की विषमताओं और विकृतियों को कविता के चौखटे में बिठाने वाले 'नागार्जुन' के काव्य में रागात्मक संवेदनाओं की अभिव्यंजना भी प्रवृत्ति बन कर आई है। उनकी रागात्मकता को प्रमुखतः प्रकृति-सौंदर्य के अंकन में, मधुर भावों की सांकेतिक व्यंजना में और गौणतः प्रणयाभिव्यक्ति में देखा जा सकता है। नागार्जुन के काव्य में प्रकृति की ताजा छवियों को देखा जा सकता है--गाँव की भी और नगर की भी। ये प्रकृति छवियाँ युग की भयंकरताओं से गुजरते-गुजरते कवि के मन को कभी बाँधती हैं और कभी लुभाती रही हैं। इस तरह यथार्थ का दारुण विष पीने के बाद उनके कवि की श्रम-जनित श्लथ स्थिति को ताजगी मिलती रही है। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रमाण स्वरूप 'बादल को घिरते देखा है', वंसत की अगवानी नीम की दो टहनियाँ, काली सप्तमी का चाँद, 'शरद पूर्णिमा, और 'झुकआये -कजरारे मेघ' आदि की गणना की जा सकती है। इन कविताओं में कहीं प्रकृति की सरलता और मोहकता अभिव्यंजित हुई है और कहीं उसकी संश्लिष्ट दृश्यावली। लगता है कि कवि के भीतर का कलाकार पूरी तरह सजग है तभी तो वह अपनी राग चेतना को धक्का देकर कलम-तूलिका को वाह्य प्रकृति की टटकी छवियाँ उतारने की प्रेरणा दे देता है। 'वादल को घिरते देखा है' कविता को ही लीजिये, उसमें छायावादी सौन्दर्य पंक्तियों की ओट से सलज्ज नायिका की तरह झाँक कर शरमाता प्रतीत होता है। कवि की सहृदयता सौन्दर्याभिरुचि और विशिष्ट रागात्मक सवेदना की पहचान कराने वाली ये पंक्तियाँ देखिये—

> "अमल धवल गिरि के शिखरों पर, बादल को घिरते देखा है।
> छोटे-मोटे मोती जैसे उसके शीतल तुहिन कणों को,
> मानसरोवर के उन स्वर्णिम कमलों को गिरते देखा है।
> बादल को घिरते देखा है।"

कवितान्त में कवि-हृदय का यथार्थ प्रकृति की मनोरमता के न मिल पाने के कारण क्षण भर के लिए विक्षुब्ध भी होता है, किन्तु एक झटका देकर पुनः चेतना में आकर कह देता है--जाने दो, यह कवि कल्पित था। 'वसत की अगवानी, कविता में भी प्रकृति की उल्लसित छवियों के मुस्कराते चित्र हैं। क्यों न हों ? वंसत के आगमन से प्रकृति नायिका का पोर-पोर खिल-निखर उठा है।

> "दूर कहीं अमराई में कोयल बोली, परत लगीं चढ़ने झींगुर की शहनाई पर
> वृद्ध वनस्पतियों की ठूँठी शाखाओं में, पोर-पोर टहनी का लगा दहकने
> टेसू निकले, मुकुलों के गुच्छे गदराये अलसी के नीचे फूलों का नभ मुस्काया।"

धूप के सौन्दर्य को भी नागार्जुन ने आत्मीयता से देखा है। उसमें उसे स्निग्ध मली है और कपूरी गंध मिश्रित ताजगी और उल्लास भी।

'नागार्जुन' प्रारम्भ से ही यात्री रहे हैं। लंका, तिब्बत, हिमालय की तराई और भारत के अनेक स्थानों का उन्होंने भ्रमण किया है। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रकृति सुन्दरी का किया गया श्रृंगार बड़ा ही सजीव बन पड़ा है। 'नीम की दो टहनियाँ, कवि को सींखचों के पार झाँकती हुई दिखाई देती हैं, कहीं 'रजनीगंधा की सुवास और शीतल समीर के मृदुल झौकें उसे जेल-जीवन की कटुता के दमघोंटू वातावरण से निकाल कर एक सुखद-मादक अनुभूति से भर देते हैं। शिशिर के शीत की प्राणलेवा तेजी तीर की तरह चुभती है और इसीलिए वह कवि को विषकन्या की तरह दिखाई देती है—

"हजार बाँहों वाली शिशिर विषकन्या
उतरी लेकर साँसों में प्रलय की वन्या
हिमदग्ध होठों के प्राण शोषी चुम्बन
तन-मन पर लेप गये ज्वालामय चंदन ॥"

'कुहरा क्या छाया' कविता में जब शिशिर की तीव्रता बीस गुनी बढ़ जाती है तो कवि को लगता है कि रात-दिन सभी कुहरे में डूब गये हैं। ऐसी स्थिति में कवि मानवीकरण शैली का प्रयोग करता हुआ लिखता है—

"रवि शशि दुबक गये
ओढ़ कर झीनी-झीनी नीहारिका का लिहाफ ॥"

'कोयल आज बोली है' कविता में भी नागार्जुन ने वंसत की मदमस्त प्रकृति का वर्णन किया है कोयल की कूक के साथ टेसू भी लाल हो जाता है, अलसी फूल उठती है। आम्र मजरियों का सेहरा आम के पेड़ों पर बँधा होता है। दोपहर में रवि रश्मियों की प्रखरता से हरी-भरी प्रकृति त्रस्त हो जाती है। कवि के शब्द देखिये और अनुमानित कीजिए कि पछवा हवा के थपेड़ों से प्रकृति का स्वरूप कैसा हो गया है—

दरक गये केलों के पात
लेते ही करवट
तेजाब की फुहारें
छिड़कने लगा सूरज।"

नागार्जुन की अनेक कविताओं में ग्राम प्रकृति की सुषमा के विम्ब भी अपनी अचुम्बित और अनाघ्रात छवि के साथ आये हैं। 'झुक आये कजरारे मेघ' शरद पूर्णिमा 'काली सप्तमी का चाँद, 'हिम कुसुमों का चंचरीक, आदि ऐसी ही कविताएँ हैं।

प्रकृति सौंदर्य की दृष्टि से 'वर्षा मंगल' कविता भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। इसमें कवि ने वर्षा की समस्त विशेषताओं को इस तरह निरूपित किया है कि जैसे वह अभी होने ही वाली है। 'युगधारा' में कवि ने 'बादल को घिरते देखा था' और यहाँ वही कवि शिशु-घनों को हिरण की तरह आकाश में चौकड़ी भरते चित्रित कर रहा है। बादलों का घुमड़ना, विद्युत का चमकना, दादुर का संगीत और तदनन्तर धरती का धुल जाना आदि सभी वर्षा के आकर्षक बिम्ब हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि नागार्जुन की कविताओं में प्रकृति यत्र-तत्र बिखरी हुई है। उसकी समस्त छवियाँ आकर्षक, मनहरण और बिम्ब की शृंखला में बँधी हुई होने के कारण उन्हें प्रकृति की राग चेतना का कवि प्रमाणित करती हैं।

'भस्मांकुर' खण्ड काव्य में जो प्रसंग वर्णित है, उसमें प्रकृति का योगदान न केवल विशिष्ट है, अपितु अविस्मरणीय भी है। वसंत के वैभव के अनगिनत मादक चित्र इस काव्य को कवि की रागात्मक चेतना का प्रसाद प्रमाणित करते हैं। कवि ने शिव और पार्वती के भावी मिलन और आलिंगन को बड़ी मनोवैज्ञानिक शैली में अभिव्यक्त किया है। इस मिलन की सांकेतिक व्यंजना प्रकृति के उपादानों द्वारा कराई गई है—

शाखाएँ हो उठीं खूब छतनार
रोक न पाई, आलिंगन की चाह
लतिकाओं ने पकड़ी सुख की राह
दीर्घ प्रलंबित थाम लिए भुजदण्ड

कृत्रिम बसंत के प्रभाव से काँटों के रूप भी बदल गये हैं। इस प्राकृतिक आकस्मिकता के कारण पार्वती तो आश्चर्यचकित थी ही, पाठक भी रस-विभोर हो जाता है। यों नगपति का सौन्दर्य वर्णन 'नागार्जुन' ने अनेक बार अनेक स्थलों पर किया है, किन्तु 'भस्मांकुर' खण्ड काव्य में हिमालय को कामदेव ने लताओं, पुष्पों आदि से सजाकर प्रस्तुत किया है। प्रकृति का यह रम्य दृश्य देखिए जो पाठकों के मन-प्राण को बाँधता हुआ कवि की प्रकृति-निरीक्षण-क्षमता और सौन्दर्याभिरुचि को स्पष्ट कर देता है—

"पग-पग पर ऋतुपति का छवि-संभार
दिशा-दिशा में किसलय कुसुम-प्रसार
विविध गंध बंधुर समीर-संचार
पिकरव, अलि-गुंजन, झिल्ली-झंकार
स्निग्ध सुकोमल सतरंगी संसार
मुखर हिमाचल, पिघले तरल तुषार

प्रकृति परी ने सजा हरित शृंगार
त्वरा भरित झरने हो उठे उदार।"

कहने का तात्पर्य यही है कि नागार्जुन की राग-चेतना में प्रकृति की प्रद्भुत सस्मित और मधुर मादक-छवियों के मनहरण बिम्बों को उतारने वाली कल्पनाएँ मिलती हैं। उनके प्रकृति-बिम्ब आकर्षक और सौन्दर्यसिक्त होने के कारण हृदय को गहरे छूते हैं।

रागात्मक संवेदनशीलता की अभिव्यंजना नागार्जुन की प्रणयानुभूतियों में भी मिलती हैं। यथार्थ के चित्रकार, सामाजिक विषमताओं के सूक्ष्म द्रष्टा और व्यंग्यकार नागार्जुन की कविताएँ प्रणय-भाव से शून्य नहीं है। कुछेक कविताओं में नागार्जुन की प्रणयानुभूतियों के सांकेतिक चित्र भी मिलते हैं। भले ही ऐसे रागात्मक चित्रों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो किन्तु हैं वे मौलिक और रस-प्रवण-प्रधान कविताएँ ही। रागरंजित प्रकृति की पृष्ठिका पर स्मृति की गहरी स्याही से लिखी गई ये पंक्तियाँ रसार्द्रता और मार्मिकता में अनूठी हैं।

"सान्ध्य नभ में पश्चिमांत समान
लालिमा का जब अरुण आख्यान
सुना करता मैं सुमुखि उस काल
याद आता है तुम्हारा सिन्दूर
तिलकित भाल।।"

'नागार्जुन' की कविताओं में अभिव्यंजित प्रणय-भाव सामाजिक शील का उल्लंघन कहीं भी नहीं करता है। उनका प्रेम स्वस्थ मनोभूमि पर चित्रित गार्हस्थिक प्रेम है। शालीनता, गरिमा और उदात्तता उसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। सिन्दूर तिलकित भाल' प्रेमानुभूतियों को व्यंजित करने वाली शीर्षस्थानीय कविता है। इसमें प्रिया की स्मृति के समानान्तर ही नागार्जुन का कवि मिथिलांचल की सुखद-मादक स्मृतियों में भी डूब जाता है। आम, लीचियाँ, धान के खेत, कमल, कुमुदिनी, तालमखाना और वेणुबन भी उसकी आँखों में तैर जाते हैं। नागार्जुन का विरह मात्र विरह नहीं है। उसमें करुणा का गहरा पुट है। इस प्रकार नागार्जुन की प्रणय-भावना स्वस्थ, जीवन्त और प्रेरणास्पद है। स्वस्थ प्रेम की परिचायिका कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

"तुम नहीं हो पास, मैं तो तरसता हूँ
प्यार के दो बोल सुनने के लिए
एक की ही दस अँगुलियाँ नहीं हैं काफी कदाचित्
रेशमी परितृप्तियों का जाल बुनने के लिए

और जब कवि 'रेशमी परितृप्तियों' का जाल बुन लेता है तो जी भर कर गंध, रूप, रस और स्पर्श का भोग भी कर लेता है। इसी क्रम में कवि की उस

मनोदशा को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है जिसके वशीभूत होकर वह सहज अनुराग और सौंदर्यानुभूतियों से भर कर प्रभात वेला में अपने पास ही लेटी प्रिया को जगाता हुआ विहाग गीत गाने का अनुरोध करता है। कवि ने स्वस्थ प्रेम की ज़मीन पर खड़े होकर लिखा है :

"पास ही सोई पड़ी श्लथ कुन्तला
प्रेयसी की थपथपाई पींठ
जग गई तो दिखाकर तारे बचे दो चार
कहा मैंने पकड़ उसका हाथ
दो घड़ी का हमारा इनका रहा है साथ
हो रहे विदा, गा दो सुमुख एक विहाग।"

वस्तुतः 'नागार्जुन' का प्रेम जीवन की अनिवार्यता है। प्रणय का स्वस्थ सहज शालीन और पुनीत रूप ही कवि को अधिक प्रिय रहा है। प्रेम के उस , वासना युक्त आलिंगन, चुम्बन और परिरभण वाले रूप को नागार्जुन के कवि ने कभी भी स्वीकार नहीं किया है। यह वह अनुराग है जिसके प्रारम्भ, विकास और परिणति सभी स्थितियों में एक सम है—एक सामाजिकता है और है एक स्वस्थ शालीन आभा।

विद्रोह और क्रान्ति :

सामाजिक यथार्थ का चितेरा, व्यंग्य का तीक्ष्ण गायक और राग चेतना सम्पन्न कवि नागार्जुन के काव्य का एक महत्वपूर्ण स्वर विद्रोह और क्रांति से सम्बन्धित है। क्रांति और विद्रोह की वाणी बोलने वाला कवि व्यंग्यपरक शैली में अन्याय और अत्याचार का विरोध करता है। यदि छद्मवंशी नेताओं को देखकर उसका मन विद्रोह कर उठता है तो छल-कपट का व्यवहार करने में पटु राजनीतिज्ञों पर वह बरस पड़ता है। धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार पाखण्ड स्वार्थ, लोभ और ईर्ष्या आदि भावों के सहारे कालयापन करने वाले व्यक्तियों या साधुवेशी कुकर्मियों से उसे नफरत है। ऐसे लोगों के प्रति उसका आक्रोश काफी पैनी और चुभनेवाली शैली में व्यक्त हुआ है। क्रांति और विद्रोह की शैली में कवि ने लिखा है:—

'देश हमारा भूखा नंगा घायल है बेकारी से
मिले न रोटी-रोजी भर के दरदर बने भिखारी से
स्वाभिमान सम्मान कहाँ है, होली है इन्सान की
बदला सत्य, अहिंसा बदली, लाठी गोली डण्डे हैं।
कानूनों की सड़ी लाश पर प्रजातन्त्र के झण्डे हैं।
निश्चय राज्य बदलना होगा शासक नेताशाही का
पद लोलुपता दलबन्दी का भ्रष्टाचार तबाही का।।'

आज की दुनियाँ में सत्य का स्थान झूँठ ने ले लिया है। झूँठ ही व्यक्ति की विविध जीवन स्थितियों का नियामक हो गया है। इसी झूँठ की सहोदरा चापलूसी भी दिन-दूनी रात चौगुनी तरक्की कर रही है। इसी विकृत मनोवृत्ति पर व्यंग्य करता हुआ नागार्जुन का कवि साफगोई शैली में लिख गया है :

'सपने में भी सच न बोलना वरना पकड़े जाओगे
भैया लखनऊ दिल्ली पहुँचो मेवा मिसरी पाओगे
माल मिलेगा रेत सको यदि गला मजूर किसानों का
हम मरभुक्खों से क्या होगा, चरण गहो श्रीमानों का ।।'

यह स्थिति व्यक्ति तक ही सीमित हो, सो बात तो नहीं है। इसे भारत-सरकार की योजनाओं में भी देखा जा सकता है। भारत सरकार की योजनाओं में दिन-प्रतिदिन पनपती भ्रष्टाचारी वृत्ति को व्यंग्य और विद्रोह का निशाना बनाते हुए नागार्जुन ने स्पष्ट शब्दावली में लिखा है :

पाँच वर्ष की बनीयोजना एक दो नहीं तीन
कागज के फूलों ने ली सबकी खुशबू छीन
बलिहारी कागजी खुशी की क्यों न बजायें बीन
फटे बाँध से बालू बोले हम भी हैं स्वाधीन
अश्वमेध का घोड़ा दौड़ा चित्त है चारों नाल
कौन कहेगा आजादी के बीते तेरह साल ।।

इसी क्रम में उस स्थिति को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है जिसके तहत लोग गांधी का नाम लेकर बोट बटोरते हैं और अपनी स्वार्थी व अवसरवादी प्रवृत्ति को प्रगट करते हैं। ऐसे नेताओं पर व्यंग्य की बौछार करता हुआ नागार्जुन का कवि अपनी विद्रोही भावना को यों शब्दबद्ध करता है :

'बेच बेच कर गांधीजी का नाम
बटोरो बोट
बैंक बैलेंस बढ़ाओ
राजघाट पर बापू की बेदी के आगे अश्रु बहाओ।

इसी तरह कवि नागार्जुन ने राजनीतिक नेताओं, धार्मिक ठेकेदारों, स्वार्थियों भ्रष्टाचारियों, अवसरवादियों, अत्याचारियों और पाखण्डी साधुओं पर व्यंग्य भी किया है और इन सबके प्रति अपने विद्रोह, विरोध और क्रांतिकारी मनोभावों की व्यंजना भी की है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि नागार्जुन का विद्रोही स्वर मात्र विद्रोही नहीं। उसमें स्वस्थ जीवन मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न भी दिखलाई देता है। विद्रोह के लिए विद्रोह या क्रांति के लिए क्रांति नागार्जुन को कभी प्रिय नहीं

रही है। उनकी प्रगतिशील दृष्टि सदैव ऐसे प्रतिमानों की स्थापना हेतु कार्यरत रही है जो जीवन के लिए उपयोगी भी हैं और अनिवार्य भी।

समसामायिक चिन्तना :

नागार्जुन की प्रगतिशीलता का एक उल्लेख्य आयाम समसामयिक चिन्तन और संदर्भों से सम्बन्वित है। नागार्जुन न केवल सामाजिक यथार्थ के कवि रहे हैं; अपितु दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण की स्थितियों से भी प्रतिबद्ध रहे हैं। उनकी प्रतिबद्धता स्वस्थ जीवन मूल्यों के निर्माण की कटिबद्धता भी है और काव्य की अनिवार्यता भी है। इसी अनिवार्यता का परिणाम है कि वे बड़ी तीव्रता के साथ समसामयिक सन्दर्भों, स्थितियों और घटनाओं को अपने काव्य में वाणी देते रहे हैं। उनकी अनुभूतियों के गोलक में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय और दैनिक घटनावली के बिम्ब स्वतः ही सिमटते गये हैं और बँधते गए हैं यथार्थ और व्यंग्य मूलक शिल्प में। एक ओर देश अपने निर्माण की दिशा में संलग्न हो और दूसरी ओर देश-व्यापी मँहगाई महामारी की तरह फैलती जा रही हो तब कवि की अनुभूति इस रूप में व्यक्त न हो तो कैसे हो ?

"पैटन टैंक उन्होंने तोड़े
मँहगाई के टैंक कौन तोड़ेगा ?

नागार्जुन अपने समय का न केवल सजग कवि है, अपितु समय का सचेत सार्थवाह भी है। यही कारण है कि यदि वह बढ़ती मँहगाई को देखकर चिन्तित है तो पुलिस-छात्र-संघर्ष, देशव्यापी भ्रष्टाचार, स्वार्थ, अवसरवादिता और कुत्सित विचारणा के प्रति सतर्क भी है। उसकी दाहिनी आँख में यदि सामाजिक विकृतियों के ध्वंस का संकल्प दीपित है तो बाँई आँख में उन विकृतियों को चुन-चुन कर दाई आँख तक पहुँचाने का श्रमजनित भाव भी प्रतिभासित है। देश-व्यापी भ्रष्टाचार को देखकर उसका हृदय कराह उठता है। वह भ्रष्टाचार को रावण का रूप देकर अपना आक्रोश इस प्रकार व्यक्त करता है :

'राम राज में अबकी रावण नगा होकर नाचा है
सूरत शक्ल वही है भैया, बदला केवल ढाँचा है
नेताओं की नीयत बदली, फिर तो अपने ही हाथों
भारत माता के गालों पर कसकर पड़ा तमाचा है।

इसी क्रम में कवि की समसामयिक चिन्तना का एक वृत्त वह भी है जिसमें वह राजनैतिक क्षितिज पर घटित होने वाली घटनाओं को देखता है। आजादी मिल गयी, ठीक हुआ, किन्तु उसके साथ ही देशी नवाबों और राजा-महाराजाओं की आजादी भी छिन गई। उनकी गद्दी के छिनते ही उनमें जो प्रतिक्रिया हुई उसे शब्दों के चौखटे में जड़ते हुए कवि ने लिखा है :

'पछताते हैं राजा पछताते हैं नवाब
देखते हैं पुराने दिनों के ख्वाब
राजा होंगे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र होंगे राजा
लौटेगी शहंशाही, शासन होगा ताजा
एक होगा राजाधिराज बहादुर
गायेंगें यश झींगुर और दादुर।'

'नागार्जुन' की 'त्रिमूर्ति' शीर्षक कविता भी ऐसी ही है जिसमें समसामयिक संदर्भों को वाणी दी गयी है। 'फिजो' और 'दलाईलामा' का संदर्भ इस कविता में आया है। 'दलाई लामा' फिजो को याद करता है और फिजो दलाईलामा को। इसी क्रम में चीन और पाक मैत्री का संदर्भ भी नागार्जुन की कविताओं में आया हैं। इस सम्बन्ध की अपावनता और कूटनीतिकता नागार्जुन से छिपी नहीं रही है और उसने व्यंग्य की वाणी में लिखा है:—

'आ गए अब तो दिन ऐश के
मार्क्स तेरी दाढ़ी में जूँ ने दिये होंगे अण्डे
निकल रहे हैं उन्हीं में से कम्यूनिज्म के पडे।'

हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा देने वाले, चीन ने जब भारत पर आक्रमण किया तो कवि की आत्मा तिलमिला उठी; पंचशील का सिद्धांत उसे हवा में टुकड़े-टुकड़े होकर उड़ता हुआ दिखाई दिया। फलतः उसने लिखा—'

'अब तो मुँह में दही जम गया।
अब तो आती है उबकाई
बोलो फिर से कौन कहेगा
हिन्दी-चीनी भाई-भाई

'नागार्जुन' की समसामयिकता का वृत्त काफी चौड़ा है। उसमें भारत के मानचित्र को ही रंग-रूप और रेखाएँ प्रदान नहीं की गयी हैं, अपितु पड़ौसी राष्ट्रों की गतिविधियों को भी नक्श किया गया है। रूस ने जब चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग' पर आक्रमण किया तो वहाँ की शांतिप्रिय जनता के अशांत हृदय का मार्मिक बिम्ब प्रस्तुत करते हुए कवि 'रूस' की इस अशोभनीय और अवांछित हरकत पर व्यंग्य करता है। उसने लिखा है :

जी आपको गलतफहमी हुई है
जी हमने ही चिढ़ाया था पहले
+ + +
जी उल्टे हमीं ने इन्हें गालियाँ दी थीं
जी, वो तो यूँ ही दिखाई दे गयी

प्राग में रूसी टैंकों की कतार
जी, वो तो मांगलिक रथयात्रा थी, हमारे अंग्रजों की।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नागार्जुन के काव्य में समसामयिक संदर्भों को भी अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। इस अभिव्यजना में कवि मात्र औपचारिक नहीं है। वह तो पूरे मन-प्राण से सतर्क हैं, अपने आस-पास के परिवेश का हिस्सा बना हुआ है। परिवेश के प्रति ऐसी साझेदारी और सजगता प्रगतिशील चेतना के वाहक कम ही कवियों में मिलती है।

श्रद्धांजलि और नमनशीलता

'नागार्जुन' के काव्य का एक उल्लेखनीय संदर्भ श्रद्धांजलि के भावों और नमनशीलता से सम्बन्धित है। उन्होंने अनेक कविताओं में देश के साहित्यकारों और महान पुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धा और नमनशीलता को व्यक्त किया है। 'युगधारा' संग्रह की 'रवि ठाकुर' 'चंदना', 'पाषाणी', 'सतरगे पंखों वाली' संग्रह की 'कालीदास', और 'प्यासी पथराई आँखें, की' 'भारती सिर पीटती है' और 'लुमुम्बा' आदि कविताएँ श्रद्धांजलिके भावों से युक्त हैं। 'रवि ठाकुर' शीर्षक रचना में कवि ने न केवल विश्व कवि के महान् मानवीय गुणों को काव्यबद्ध किया है,अपितु यह प्रश्न भी किया है कि वैभवसम्पन्न और उच्चकुलोत्पन्न होकर भी 'रवि बाबू' जन-जन की पीर को कैसे समझ पाये ? अन्त में कवि अपने अभावों को स्वीकारता हुआ भी कवि द्वारा सौंपी गयी मानवता की आरती उतारने को लालायित है। 'भिक्षुणी' शीर्षक कविता में एकबौद्ध भिक्षुणी का मनो वैज्ञानिक निरूपण है। यह वह भिक्षुणी है, जो बचपन में ही बौद्ध-बिहार में पहुंचा दी गयी है। जैते ही यह भिक्षुणी यौवन की दहलीज पर कदम रखती है, वैसे ही वह यह अनुभव करने लगती है कि नारी के लिए तप व्यर्थ है। इसी प्रकार की अनुभूतियों से भरकर वह भगवान अमिताभ के पौरुषयुक्त रूप को देखती है। उसका मन पुरुष की बलिष्ठ भुजाओं में कस जाना चाहता है। अतः वह यही कहती है कि बौद्ध धर्म का हीनयान और महायान तो मैं समझ गयी हूँ, किन्तु हे अमिताभ ! यह तो बताओ कि मानव-मानवी का सहजयान क्या है ? इसी क्रम में वह भिक्षुणी अपनी मनोगत भावनाओं को अमिताभ के समक्ष व्यक्त करती हुई कहती है—

कोई एक होता कि जिसको
अपना मैं समझती
भले ही वह पीटता, भले ही मारता
किन्तु किसी क्षण में प्यार भी करता
जीवन रस उँडेलता मेरे रिक्त पात्र में
भूख मातृत्व की मेरी मिटा देता
स्त्रीत्व का सुफल पाकर अनायास
धन्य मैं होती, कृतकृत्य होती

भगवान अमिताभ ! तव
पूजा के समय कितने उत्साह से
घण्टा मैं बजाती
तन्मय हो कितनी आरती उतारती
पास होता नटखट शिशु खेलता ।
यदि किसी भद्र मुख प्रतिभा से ढिठाई वह करता
दिखा-दिखा तर्जनी मैं उसे रोकती ।।

इस अंश के आधार पर कतिपय समीक्षकों ने इस कविता को फ्रायडीय चिन्तना से संस्पर्शित माना है, किन्तु मेरी यह धारणा है कि यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है। बौद्ध भिक्षुणी के मानस में मातृत्व भावना है न कि वासनाकुलता का वेग। यह भावना सहज नारीजनोचित संस्कारों का परिणाम है क्योंकि भिक्षुणी में जिजीविषा है, जीवन के प्रति तन्मयता का भाव है। यदि ऐसा न होता तो उसके मानस में नटखट किलकारी मारते शिशु का बिम्ब न उभरकर पुरुष सम्पर्क से प्रेरित कामुक मुद्राएँ नर्तन करतीं। आखिरी पंक्तियों तक पहुंचते-पहुंचते तो कविता वात्सल्य रस के अनाविल प्रवाह में अठखेलियाँ करती दिखाई देती हैं।

'पाषाणी' कविता में कवि ने 'अहिल्या-उद्धार' के प्रसंग को नये रंग-रूप में प्रस्तुत कर अपनी मौलिक चिन्तना का परिचय दिया है। यहाँ अहिल्या अपने उद्धार के बाद राम से एक नारी व्रत रहने का संकल्प लेने का आग्रह करती है और राम भी अपनी सौम्य शालीन मुद्रा में 'सदा रहेगा एक पत्निव्रत शील' जैसी स्वीकार भावना से भर जाते हैं। सतरंगे पंखों वाली कृति की 'कालिदास' शीर्षक रचना भी नागार्जुन की श्रद्धा और करुणा भावना को ही स्पष्ट करती है। इस कविता के माध्यम से कवि ने यह प्रतिपादित किया है कि जब कवि अपने पात्रों की मनोवेदना और करुणा को स्वयं के व्यक्तित्व और उसमें पल रही वेदना से एकाकार कर लेता है तो श्रेष्ठ और सच्चे काव्य की सृष्टि होती है। 'कालिदास' ऐसे ही कवि थे। उन्होंने इन्दुमती के मृत्यु शोक में 'अज' की व्यथा का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह कालिदास की वेदना और करुणा का 'अज' में रूपान्तरण मात्र है। कामदेव के भस्म हो जाने पर 'रति' ने जो व्यथा सही उसमें भी कालिदास की अपनी पीड़ा का अंश है। इसी कारण 'नागार्जुन' 'कालिदास' के प्रति नमनशील और श्रद्धाभिभूत होकर कह उठा है :

'रति का क्रन्दन सुन आँसू से
तुमने ही तो दृग धोये थे ?
कालिदास सच सच बतलाना
रति रोई या तुम रोये थे ?

यक्ष का विरह कालिदास का अपना विरह है। कालिदास के व्यक्तित्व में जो भी पीड़ा और करुणा थी वही यक्ष भोग रहा है। मेघों को आकाश में उड़ते हुए देखकर यक्ष के बहाने कालिदास का मन ही इतस्ततः उड़ता फिरा है। यदि ऐसा न होता तो कालिदास यक्ष की वेदना को शब्दों का कोमल परिधान पहनाने में कैसे समर्थ हो पाते ? वस्तुतः कालिदास का समस्त वेदना काव्य उनके व्यक्तित्व का ही अभिव्यंजन है और तभी वह ऊँचाई पर स्थित है। इसी उदात्तता के प्रति नागार्जुन श्रद्धाभिभूत हैं; नमित हैं—

'कालिदास सच–सच बतलाना
पर पीड़ा से पूर पूर हो
थक–थक कर औ चूर-चूर हो
अमल धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर तुम कब तक सोये थे
रोया यक्ष कि तुम रोये थे।।

'कालिदास' के साथ ही नागार्जुन निराला के प्रति भी श्रद्धाभिव्यक्ति करते रहे हैं। निराला ने जीवन भर संघर्ष सहे, उन्होंने जिस आतप-ताप को झेला उसी में वे मिट गए, किन्तु हिन्दी के इस कालिदास की ओर किसी भी भारतीय राजनीतिज्ञ का ध्यान नहीं गया। इसी उपेक्षा वृत्ति से क्षुब्ध हो नागार्जुन का हृदय कराह उठा और उनकी करुणा विगलित वाणी से ये शब्द फूट पड़े :

'तिमिर में रवि खो गया, दिन लुप्त है बेसुध गगन।
भारती सिर पीटती है लुट गया है प्राणधन।'

'लुमुम्बा' के प्रति सम्बोधित कविता भी इसी शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी है। कांगों के इस देशभक्त और क्रांतिकारी नायक के प्रति भी नागार्जुन ने अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ाये हैं। 'लुमुम्बा' ने अफ्रीकी जनता की प्राणपण से सेवा की, किन्तु इतने पर भी इस शांति के रक्षक और मानवता के सजग प्रहरी को गोरे महाप्रभुओं ने अमानुषिकता से मार डाला। 'नागार्जुन' का संवेदनशील हृदय इस घटना से अप्रभावित न रह सका और उसने 'लुमुम्बा' का गौरवगान करते हुए लिखा;—

'तुम मरकर भी अमर रहोगे, लोगे ही प्रतिशोध
कालनेमि को भस्म करेगा जन-मन का यह क्रोध
कोटि-कोटि काले कंठों की सुनसुन कर ललकार
वह देखो गोरे दनुजों पर भय का चढ़ा बुखार।।

श्रृद्धांजलि अर्पण के क्रम में ही कवि नागार्जुन ने रामवृक्ष बेनीपुरी, राजकमल चौधरी लेनिन और बापू आदि की महान उपलब्धियों का गुणानुवाद किया है। यदि विश्व बन्धु 'बापू' के प्रति श्रृद्धांजलि अर्पित करते हुए उन्होंने

लिखा है कि 'पर न आज रोके रुक पातीं,आँखें मेरी भर-भर आती, रोता हूँ, लिखता जाता हूँ, कवि को बेकाबू पाता हूँ, कैसे इस कोरे कागज पर पूरी पीर उतार सकूँगा' तो बेनीपुरी जी के प्रति भी उन्होंने नमनशील मुद्रा में करुणा की स्याही से यह लिखा है :

'नौरंगी नूर के जादूगर को सलाम
नये अदब के नादावर को सलाम
माटी की मूरत' के कीमियागार को सलाम

बेनीपुरी को सलाम, अपने रहबर को सलाम ।।

'राजकमल चौधरी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए 'नागार्जुन ने उनके बाहरी और भीतरी रूप को पहचाना है। उनकी साहित्यिक सेवाओं का स्मरण करते हुए नागार्जुन ने जो लिखा वह उनकी नमनशीलता और श्रद्धाभावना का प्रत्यक्ष बिम्बांकन भी है और राजकमल के व्यक्तित्व व मानस का सही रेखाचित्र भी:

'तुम वही पंक जिसकी फसलें होती शतदल
युग की भमरा बलि करती हैं गुनगुन अविरल
युगनद्ध मिथुन की भावभूमि तुम रत्न पिच्छल
तुम स्वेद सुरभि हारा जिससे मृगमद परिमल ।।'

'केदार अग्रवाल' और 'नागार्जुन' घनिष्ठ मित्र हैं। केदार को जितना नागार्जुन समझते हैं, उतना अन्य कोई नहीं। केदार के प्रति स्निग्ध, सौम्य और प्रेमिल भावों की जो व्यंजना नागार्जुन ने 'ओ जन मन के सजग चितेरे' कविता में की है वैसी भावानुभूति से ओतप्रोत और वैसी भावोपम व स्निग्ध भाव राशि से सजी कविता हिन्दी कविता में शायद ही कहीं मिले। 'नागार्जुन' की ये पंक्तियाँ तो देखिए :—

'केन कूल की काली मिट्टी वह भी तुम हो
कालिंजर का चौड़ा सीना वह भी तुम हो
ग्राम-वधू की दबी हुई कजरारी चितवन वह भी तुम हो
कुपित कृषक की टेढ़ी भौंहे वह भी तुम हो
खड़ी सुनहली फसलों की छवि छटा निराली, वह भी तुम हो
लाठी लेकर कालरात्रि में करता जो उनकी रखवाली, वह भी तुम हो।'

स्पष्ट ही नागार्जुन के काव्य का प्रमुख स्वर बनकर आई उनकी नमनशीलता और श्रद्धाभावना अपरिमेय है। प्रगतिशील चेतना के पक्षधर इस कवि के मानस में कितनी श्रद्धा, कितना प्यार, कितनी करुणा और कितनी स्नेहिल भावनाएँ भरी हैं, यह उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो सकता है। निश्चय ही नागार्जुन मात्र कवि

नहीं, अपितु एक ऐसा करुणा-सागर है जिसकी मधुर-स्निग्ध लहरियाँ समूची मानवता को अपनी अमृतवर्षी फुहारों से रससिक्त भी करती हैं और मनः पूत भी।

शांति और श्रम :

नागार्जुन का हृदय शांति का सागर है तो उनका मानस श्रम का प्रतीक है। उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से जिस मानवतावाद को वाणी दी है उसमें शांति, सरसता और श्रम को सर्वोपरिता प्राप्त है। युद्धप्रिय देशों के प्रति घृणा और भर्त्सना का विष उगलने वाला नागार्जुन अपनी कविताओं के हवाले यह संदेश देता रहा है कि मनुष्य के जीवन की सार्थकता न केवल श्रमरत होकर जीवन बिताने में है, अपितु शांति के साथ मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में भी है। श्रम से शांति मिलती है और शांति से मानवता के पोषक भावों का विकास होता है। ऐसी ही भावनाओं से भरा नागार्जुन का हृदय उन राष्ट्रों के प्रति घृणा का विष वमन करता है जो हिंसक वृत्ति को ही अपना चरम लक्ष्य मानते हैं :

> युद्धाकांक्षी मानवाभास पागल पिशाच दस बीस पचास
> जिनके गलित कुष्ट के मारे घुटा जा रहा मानवता का श्वास।।

युद्ध करना, दूसरे के प्राण ले लेना और मानवता का संहार करना आसान है। हम कितने ही टैंक, पैटर्न टैंक तोड़ लें, किन्तु प्रश्न उन समसामयिक समस्याओं के टैंक तोड़ने का है जो हमें निगलती जा रही हैं। आज हम प्रश्न-चिन्हों के जिस जंगल में भटक गये हैं, उससे निकलने का सही मार्ग शांति और श्रम से ही मिल सकता है। बाहरी आक्रान्ताओं को तो हम भगा सकते हैं, किन्तु देश के कोने-कोने में फैले आंतरिक लुटेरों को नकेल पहनाना भी जरूरी है। इसके लिए श्रम और शांति की आवश्यकता है। वस्तुतः कवि की दृष्टि जीवनवादी है। वह ध्वंस की अपेक्षा सृजन को महत्व देता है। देश की पुलिस तरुणों का संहार कर रही है और कवि इससे चिन्तित है। उसकी दृष्टि मृत्यु पर नहीं, जीवन की ओर लगी हुई है। तभी तो सृजन का विश्वासी कवि कहता है :

> सजग पहरुए रहे सँभाले कन्धों पर बन्दूक
> अंदर-अंदर
> पौधों की हरियाली चाटेंगे बेशक-शम्बूक
> सिंहवाहिनी तो दनुजों का रक्त पियेगी
> धरती की प्यासी फसलों को पानी देगा कौन ?

'युग धारा' की 'धरती' शीर्षक कविता में नागार्जुन ने मानवीय प्रगति में संलग्न वैज्ञानिकों को श्रम और शांति का सेतु कहा है और युद्ध-प्रिय लोगों की निन्दा की है। हंस 'शांति अंक' में नागार्जुन 'जयति जयति सर्वमंगला' शीर्षक से एक

रचना प्रकाशित हुई थी। उसमें कवि ने अपनी शांतिपरक विचारधारा को स्पष्ट किया है। उसकी आकांक्षा श्मशानी शांति प्राप्त करने की नहीं है, वह तो सगुण शांति का आराधक है :

> माँग रही तरुणाई वो हथियार
> द्विपद भेड़िये को दहलाए जिसकी पैनी धार
> जिसकी छाया में जनलक्ष्मी करे अशंक विहार
> जिसके बल पर सगुण शांति के सपने हों साकार

नागार्जुन की चिन्ता इस बात को लेकर है कि एक ओर तो राष्ट्रों के अध्यक्ष अपनी युद्धीय मनोवृत्ति से पीड़ित हैं और दूसरी ओर शांति के कपोत उड़ाते हुए शांति की सीख देते हैं। यही विडम्बना है। वस्तुत: यह वह शांति है जिसे मरघटी शांति कहा जा सकता है। अतः यह शांति इसके प्रस्तावकों को ही मुबारक हो:—

> शून्य सान्त्वना देने वाली शांति तुम्हारी तुम्हें मुबारक
> यह ढकोसला यह आध्यात्मिक शांति तुम्हारी तुम्हें मुबारक ।।

कवि द्वारा अपेक्षित और काम्य शांति का स्वरूप तो यह है—

> नहीं श्मशानी शांति चाहिए
> नहीं वैष्णवी शांति चाहिए
> नहीं भैरवी शांति चाहिए
> हम इच्छुक हैं सगुण शांति के ।।

आज शांति की बात करने वाले अपनी पेटी में पिस्तौल लिये घूम रहे हैं और ऊपर से ये शांति के उपासक 'राजघाट में बापू की शिव समाधि पर मनोहर-मनोरम फूल चढ़ाते ही रहते हैं।' आज तो हमें शांति की सीख देने वाले चील-गधे के चचे भतीजे ही हैं। विडम्बना यह है कि ऐसे ही शांति के उपासकों का आज देश में स्वागत होता है। ऐसे व्यक्तियों से कवि को घृणा है और वह उनकी कटु भर्त्सना करता है। उसकी दृष्टि में जनता बड़ी है उसकी शक्ति बड़ी है और यह जनता ही है जो हमारी आशाओं को मूर्तित करने की क्षमता रहती है : 'जन सामान्य हमारी सारी आशाओं का प्राण केन्द्र है।' एक जनकवि होने के नाते नागार्जुन सार्थक शांति के आराधक बन गये हैं न कि उस शांति के जो मात्र गोष्ठियों और शांति-वार्ताओं तक ही सीमित हैं। इसी वे उस श्रेणी के वैज्ञानिकों के प्रति आस्थावान हैं जो जनता की सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं और अपनी समस्त प्रतिभा मानव-कल्याण में व्यय कर रहे हैं। एक वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि 'नागार्जुन' की शांति रचनात्मक है। 'हटे दनुज दल मिटे अमंगल' कविता में उन्होंने इसी भूमिका पर खड़े होकर अशिव का प्रतिकार किया है और मानव-कल्याण की आशा

व्यक्त की है। सही अर्थों में नागार्जुन की कविताएँ शाप से अधिक वरदान को, ध्वंस से अधिक निर्माण को, स्वार्थ और ईर्ष्या से अधिक सद्भावना और प्रेम का और युद्ध से अधिक शांति का महत्वांकन करती हैं। कर्म उनकी प्रेरणा है, शांति और स्नेह उनके कर्म के सहयोगी हैं और सद्भावना उनकी शक्ति है।

अन्य प्रवृत्तियाँ :

'नागार्जुन' की कविता एक मेहनतकश इन्सान की पक्षधरता को निरूपित करने वाली कविता है। 'वे और तुम' इसका उदाहरण है। इसमें कवि सहभोक्ता होकर श्रमिकजनों से यह प्रकट कर रहा है कि हम भी श्रमिक हैं और हमारी समस्याएँ भी तुम्हारी जैसी ही हैं। यह वह कविता है जिसमें कवि ने मानसिक और शारीरिक श्रम करने वाले मनुष्यों की जीवन-व्यवस्था और स्थिति का अंकन किया है। यों इस कविता का मूल संदर्भ मेहनतकश इन्सानों और मध्यवर्गीय इन्सान की कुण्ठाओं से ग्रसित जिन्दगी की तुलना से सम्बद्ध है। दोनों का दर्द एक है, किन्तु उसका स्वरूपगत आधार भिन्न है। मजदूर अपने श्रम के परिणाम से और कलाकार अपने बने हुए सपनों से प्रसन्नता का अनुभव करता है। कवि के ये शब्द देखिए: —

"वे लोहा पीट रहे हैं
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड़ रहे हैं
तुम सपने जोड़ रहे हो
o o
उनको दुख है
तरुण आम की मंजरियों को पाला मार गया है
तुमको दुख है
काव्य-संकलन दीमक चाट गये हैं।"

सहानुभूति और करुणा का भाव भी नागार्जुन के काव्य का सशक्त स्वर है। उनकी करुणा और सहानुभूति का जल न केवल मजदूरों, कलाकारों और मध्यवर्गीय व्यक्ति के मानस की प्यास बुझाता है, अपितु पुलिस के जुल्म से त्रस्त, पीड़ित और क्षुब्ध विद्यार्थी वर्ग को भी उतनी ही शक्ति देता है। शिक्षा के मन्दिरों में पुलिस की दखलंदाजी कवि की आत्मा को कचोटती है और उसका सारा आक्रोश उन पर उतरता है जो विद्यार्थियों को उत्तेजक कार्यवाहियाँ करने को प्रेरित करते हैं। बी एन. कालेज पटना में हुए गोलीकाण्ड से दुखी होकर ही नागार्जुन ने 'ऐसा क्या अब फिर-फिर होगा' कविता लिखी :

ऐसा क्या अब फिर-फिर होगा
ज्ञानपीठ ये दूषित होंगे बार बार क्या ?

'प्रेत का बयान' कविता में भी जहाँ कवि जीवन की विसंगतियों, भयावहताओं और त्रासद स्थितियों को संकेतित करता है वहीं उसकी करुणापूरित वाणी प्राइमरी शिक्षक की पीड़िक स्थितियों पर भी मरहम लगाती है। असल में 'प्रेत का बयान' स्वाधीन भारत की जनता की विपन्नता, अभावग्रस्तता और विसंगत स्थितियों का व्यंग्य चित्र है जिसमें कवि की करुणा के रंग भी हैं और नाटकीय कौशल को संकेतित करने वाली रेखाएँ भी हैं। प्राइमरी स्तर के शिक्षक को केन्द्र बनाकर लिखी गयी यह कविता करुणा की भावभूमि पर लिखी जाकर भी अनेक सामाजिक विसंगतियों को प्रस्तुत करती है। इसमें संकेतित है कि मनुष्य अनिवार्य सुविधाओं के अभाव में काल-कवलित होता जा रहा है। भुखमरी सर्वत्र व्याप्त है। फलतः सामाजिक जीवन असंगतियों से ग्रसित होता जा रहा है। अकाल, बुखार और कालाजार जैसी भयावह विसंगतियों से जीवन अस्त-व्यस्त हो रहा है। अत. यह कह सकते हैं कि नागार्जुन का काव्य एक चेतन कलाकार का काव्य है—उस कलाकार का जिसने जीवन को उसकी समस्त स्वीकृतियों और विकृतियों के साथ देखा है। उसकी भयावहताओं, त्रासदियों और पीड़ाओं के जटिल दुर्गम जाल में फँसे मानव-समाज को समता, सहानुभूति, करुणा, आस्था और संकल्पी वृत्तियों का संदेश दिया है और इस प्रकार एक स्वस्थ समाज के निर्माण का प्रयत्न किया है। वह एक ऐसा कवि है जो वादों, प्रवादों और प्रयोगों के जंगल में कभी भूल से भी नहीं गया है। उसकी पहुँच खेत, खलिहान, मजदूर, किसान और मध्यवर्गीय व्यक्ति और जन-जीवन तक रही है और उनकी ही जिन्दगी के बिम्ब उसकी कविताओं में बँधते रहे हैं।

काव्य-शिल्प

'शिल्प' से तात्पर्य काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष से है। कवि का अनुभूत जब बाहर आने के लिए छटपटाता है तो उसकी पहली और सर्वोपरि आवश्यकता भाषा होती है। भाषा वह शक्ति है जो कवि के अनुभूत को शब्दों का परिधान पहनाती है। भाषा अभिव्यक्ति की प्राण शक्ति है तो प्रतीक कवि की अनुभूतियों को संक्षेप में कहने के लिए अपनाये गये संकेत हैं। रहे अलंकार—वे अभिव्यंजना को अधिकाधिक संवेद्य बनाकर काव्योत्कर्ष तक पहुँचाने वाले माध्यम हैं। बिम्ब-सृजन के मूल में कवि कल्पना का विशेष हाथ रहता है। कवि की प्राथमिक शक्ति कल्पना है और कल्पना का प्रमुख कार्य बिम्ब-सृजन है। बिम्ब-सृजन के सहारे कवि रसानुभूति कराता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि यदि अपनी अनुभूतियों को दूसरे तक सजीव रूप में प्रस्तुत करना चाहता है तो उसकी कविता बिम्बों में बंधकर आती है। इस प्रकार निश्चय ही अनुभूति और अभिव्यक्ति का उचित समीकरण काव्य की अभिधा को सार्थकता प्रदान करता है।

'नागार्जुन' शिल्पी नहीं है। उनकी कविता वह सीधी-सादी और अनलंकृत ग्रामबाला है जिसे अपने शृंगार-प्रसाधन की तनिक भी चिन्ता नहीं होती है। कारण प्रगत्युन्मुखी चेतना के कवि होने के कारण उनका ध्यान 'कन्टेंट' पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। ऐसी स्थिति में उनका काव्य भाव और विषय वैविध्य की यथार्थता को अधिक निरूपित करता है, शैली-शिल्प की प्रसन्नता को अपेक्षाकृत कम। सामान्य जनता के दुख-दर्दों का अनुभवकर्त्ता और उनकी ही बोली-बानी में बोलने वाला नागार्जुन न तो शब्दों की सजावट और मजावट की ओर ही अपना ध्यान दे पाया है और न अभिव्यक्ति के नवीन द्वारों को खोलने के लिए ही प्रयत्नशील रहा है। अपने अन्य सहयोगियों की ही भांति नागार्जुन कला और शिल्प की ओर से उदासीन दिखलाई देते हैं। जहाँ ऐसा है वहाँ उसकी कविताएँ नीरस और रुखी प्रतीत होती हैं और ऐसा वहाँ अधिक हुआ है जहाँ कवि जनवादी स्वर में बोलता चला गया है। इसके साथ ही यह तथ्य भी बट्टे खाते में डालने लायक नहीं है कि जहां नागार्जुन ने अपनी रागात्मक संवेदना को वाणी दी है, वहां स्वतः ही अनेक व्यंजनागर्भित पंक्तियां, वक्रतापूर्ण कथन-भंगिमाएँ और अर्थावेग से निसृत कोमल-कल्पनाएँ उसकी कविताओं के घूँघट से झाँकती रही हैं। प्रकृति की सुषमासिक्त छवियों के अंकन में, सौन्दर्य की मारक अभिव्यक्तियों में और प्रेमजनित भावानुभूतियों की व्यंजना में नागार्जुन का शिल्प अपेक्षाकृत आकर्षक और आभिजात्यपूर्ण हो गया है। यही कारण है कि जनभाषा का प्रयोक्ता नागार्जुन संस्कृत शब्दावली को भी बेहिचक अपनाता चला गया है।

भाषा :

नागार्जुन कला के प्रति सतर्क कभी नहीं रहे। उनकी दृष्टि कथ्य की ओर रही है। कथ्य वजनी हो, बात गहरी हो तो शिल्प स्वतः ही तदनुकूल आचरण करने लगेगा की मान्यता के कायल नागार्जुन में लिखा भी है : "शब्द को दिया क्यों अर्थ का दान/ध्वनि ही ध्वनि देते/देते भाव लय तान/भावों के दलदल में आकंठ मग्न काव्य-कला/त्राहि-त्राहि कर रही उद्धार करो उसका" कलावादियों पर किया गया नागार्जुन का यह व्यंग्य प्रमाण है कि उन्होंने शिल्प को सजाने-संवारने पर कभी अतिरिक्त ध्यान नहीं दिया। उनकी भाषा भावानुगामी और सीधी सरल है। अधिकांशतः उनके शब्दों का मिजाज और स्वरूप सरल है। वे भावों के मध्य तनकर कहीं भी खड़े नहीं हुए हैं। हाँ; कभी यदि उनका सस्कृत-ज्ञान सृजन-क्षणों के मध्य आ ही गया तो गाहे-बगाहे तत्सम शब्दावली को उपकृत करने में भी नागार्जुन ने संकोच नहीं किया है। अतः तत्सम शब्दावली गिनी चुनी कविताओं में ही है। वह जहाँ है वहाँ सायास लाई गई प्रतीत होती है। 'जनवंदना', काली सप्तमी का चाँद, शरद पूर्णिमा, कालिदास के प्रति, 'बादल को घिरते देखा है' आदि कविताएँ तत्सम भाषा से युक्त हैं। इनके अतिरिक्त लगभग 70 प्रतिशत कविताओं में सरल, सीधी और

व्यावहारिक भाषा का ही प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं बंगला और अंग्रेजी के क्रमश: 'घाकचों खोकोन' और कैपीटल, स्पीड ट्राम और प्राईवेट, स्टार्ट बैलेट, जैसे शब्द भी आ गये हैं।

संस्कृत शब्दावली का प्रयोग जिन कविताओं में हुआ है वे आकर्षण युक्त होते हुए भी कवि की प्रकृति के विशेष अनुकूल नहीं लगती हैं। 'भस्मांकुर' काव्य की भाषा तो प्राय. तत्समीकरण की वृत्ति से युक्त है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए:—

"असमय अंकुर, असमय लतावितान
वृद्ध वनस्पतियों का नव परिधान
असमय मुकुलोद्गम मधुमद चहुँ ओर
असमय कुसुम विलास, हास–हिलकोर
गुंजित अलिदल, कंपित कलिकाकोर
असमय चंचल दखिन पवन चितचोर
असमय हरियाली का पारावार
असमय पिककुल मुखरित बारम्बार।।"

इसी प्रकार 'बादल को घिरते देखा है' और 'जनवंदना' कविताओं में भी संस्कृतनिष्ठ शब्दों से युक्त भाषा के दर्शन होते हैं। 'जनवंदना' की ये पंक्तियाँ देखिए:—

"तुम मानवता के दूषित-गलित अवयवों पर
प्रलयांत बह्नि बन बरस रहे
हो रहा तुम्हारे लोहित नील स्फुलिंगों से
त्रिभुवन का तम तोम हरण
हे कोटि शीर्ष ? हे कोटि बाहु, हे कोटि चरण।"

'अनल धवल के गिरि के शिखरों पर बादल को घिरते देखा है' और 'वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका/प्रथम दिवस आषाढ़ मास का/देख गगन से श्याम घन घटा/ चित्रकूट के सुगम शिखर पर उन पुष्करावर्त मेघो का/आदि (कालिदास के प्रति कविता) में भी भाषा की संस्कृतनिष्ठता को स्पष्टत: देखा जा सकता है। इसी प्रकार कवि नागार्जुन द्वारा प्रयुक्त इस शब्दावली को भी भुलाया नहीं जा सकता है— युग्म, लावण्य, प्रलम्बित, मणिकुट्टिम, अधित्यका, ब्रीड़ा, विगलित, हिम प्रांतर, मायागार, मृगमदवासित, किसलय-कुसुमप्रसार, सहकर्मी, स्वरूप, युगनद्ध, धवलाद्रि, शिलोच्चय स्वर्ण चन्द्र, स्वर्ण चन्द्र, निराभरण, श्लथ स्मरशरबिद्ध, वलय, अभिसूत्रित, वलय, कोरक गुच्छ, श्रुति-संपुट, जिजीवषा, रक्तांशुक, निभृतकक्ष आदि।

नागार्जुन की काव्य-भाषा में जहाँ एक ओर संस्कृत के ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहीं तद्भव शब्द भी प्रचुरता से आये हैं। उदाहरणार्थ चहुँ, कुलसित, मगन, वारन, मांद, दूब, लुनाई, कंटीली, सींग, काठ, होठ, तिहरे, पाटिया, हाड़ पूंछ, स्थिर, दिपती, हुलास, फन, कान, भेस, लखान, असगुन, कौड़िया, राख, धरती, पोर-पोर, उछाह, दीठ, मीत, सेज, नाच, चौपहरा और सपोले आदि कितने ही तद्भव शब्द नागार्जुन की भाषा में स्थान पाये हुए हैं। कतिपय लोकभाषाओं के शब्दों को भी कवि ने ठेठ रूप में अपना लिया है। छुच्छी, पचास ठो रुपिया, कलमुंही, बंसफोड़ मुच्छड़, पछिया, छूछें, बोम्मारा, इत्ता सा, ताल, पोखर, गाछी, टुक्कड़, छिनाल और तलैया आदि ऐसे ही शब्द हैं।

जनवादी होने के नाते नागार्जुन की कविताओं में लोकभाषिक आग्रह अधिक दिखलाई देता है। जनता के मन की बात को जनता की भाषा में कहने वाला नागार्जुन अपनी भाषिक संरचना में सरल, स्पष्ट और बोलचाल के शब्दों को ही अधिक अपनाता रहा है। उनकी भाषा भावों के अनुसार न केवल बदलती रही है, अपितु जनमानस की संवेदनाओं के रंगों में भी ढलती रही है। भाषा को सामान्य स्तर पर लाने के प्रयास में ही नागार्जुन ने ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने बंगला, अंग्रेजी, उर्दू और फारसी के शब्दों का सहयोग लेकर अपनी अभिव्यंजना को सरल से सरलतम और स्पष्ट से स्पष्टतर बनाने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त देशज और बोलचाल के कुछ शब्द ये हैं : थाम, जादुई, छुअन, मसें, छिरकना, दो जने, थपथपाए, बोलें, थपकाएँ, खूसट निढाल, अनमेल, खिलवाड़, ऊट-पटाँग, बक-बक, अनाप-शनाप असगुन, जमात, गलबहियाँ, टूँठ, फुट्टियाँ, अजी, अब्ब, बौड़म, टुकुर टुकर, छलिया, आँख मिचौली, सजी-धजी और पटियाँ आदि।

कवि ने अपनी भाषा को व्यावहारिक, सरल और बोधगम्य बनाने के लिए जिन उर्दू शब्दों का प्रयोग किया है, वे ये हैं : निगाह, मुताबिक, अमानत, बेरूखी, नदारद, दीवाने, दरवेश, खैर, बखान, लहजा, हाल, इलाज जादूगर, होश-हवास, सर्द, जर्द फिक्र माफ, शहीद, आनन-फानन, शाल, सुलह, खुद, गायब, दुरुस्त, खाक, महँगा, सिर्फ, बदला, शौक, हाजिर, महसूस, साबित मुस्तैद, अलहदा, अलविदा, मुश्किल, मौज, मेहनत और सोहबत आदि। अंग्रेजी शब्दों में ये शब्द प्रमुख हैं जिन्हें नागार्जुन ने प्रयोगा है : रेस, कोर्स, प्लीज, एक्सक्यूज, ट्राम, ड्यूटी, गिफ्ट, प्लान, केरियर, प्राइवेट, सिक्योर, कैपीटल, स्टार्ट, बैलेट, मिनिस्टर, शेकहैण्ड, पोस्टर और ट्रेन आदि।

हाँ, भाषा को प्रभावी बनाने के लिए नागार्जुन ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। इससे वह प्रेषणीयता के गुण से युक्त हो गयी है। उनकी अनेक कविताओं में 'दृग धोना', लोह पीटना, पाला मार जाना, दीमक चाट

जाना, 'बात-बात पर नाक रगड़ना', 'छुट्टा छोड़ देना', 'नंगा होकर नाचा', पौ बाहर होना', मुँह की खाना, उँगली उठाना, सत्तू को घोलना, फूले न समाना, बिगड़ी बात बनाना और तीसों दिन दीवाली आदि का प्रयोग उनकी भाषा की लोक शक्ति और प्रेषणीयता को स्पष्टतः रेखांकित कर देता है। उनकी भाषा सहजता लिए हुए है। उसमें प्रतीकों का प्रयोग भी मिलता है। 'भुस का पुतला' और 'तालाब की मछलियाँ' जैसी कविताओं में 'भुस का पुतला' आधुनिक व्यवस्था का और मछली नारी का प्रतीकार्थ लेकर आई है। कुल मिलाकर भाषा सहज और सीधी है।

वर्ण मैत्री नागार्जुन की काव्य भाषा की अतिरिक्त विशेषता है। इससे उनकी भाषा में प्रवाह आ गया है—एक गति आ गयी है। उदाहरणार्थ कम्पित कलिका कोर, चला चलाकर तीर, बदल-बदलकर सींग, रोम-रोम से टपकाता, उछल-उछल, पोर-पोर टहनी-टहनी, एक-एक कर टूट गये, झुक-झुक सूँघ रहे, पल-पल पुलकन भरते, गौरी तरुणी तरुण-तरुण शिवनाथ, दिशा-दिशा में किसलय कुसुम प्रसार, झिल्ली-झंकार, फड़क, फड़क उठती थी दाँई आँख और टुकर-टुकर ताकती रही आदि प्रयोगों में वर्ण-मैत्री के विधान से भाषिक सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है।

नागार्जुन की सीधी सरल भाषा में कहीं-कहीं लाक्षणिकता भी मिलती है। यों लाक्षणिकता की अपेक्षा व्यंजनात्मकता का गुण उनकी भाषा में अधिक है। इतने पर भी कुछेक लाक्षणिक प्रयोग बड़े आकर्षक और अर्थगर्भित बन पड़े हैं। लाक्षणिकता का विधान मुहावरों के रूप में अधिक हुआ है :

1. वतन बेचकर पंडित नेहरू फूले नहीं समाते हैं।
2. गिरगिट के अंडे सेता हूँ, मैं देख रहा।
3. बापू के भी ताऊ निकले तीनों बंदर बापू के।
4. सत्तर चूहे खाकर रीझा वृद्ध बिलौटा अब जन-मन पर।
5. भले-भले मुँह उगल रहे है चीन विरोधी आग।
6. महलों की महँगी बिजली से डरती सन्ध्या डरता प्रभात।''

आम जनता की भाषा के प्रयोक्ता इस कवि की भाषा में व्यंजना शक्ति भी गजब की है। नागार्जुन अपनी बात को वक्रता के साथ प्रस्तुत करने में पूरे कुशल हैं। भाषा की व्यंजकता का यह रूप तो देखिए :

"जनगणमन अधिनायक जय हो प्रजा विचित्र तुम्हारी है
भूख-भूख चिल्लाने वाली अशुभ अमंगलकारी है।
बंद सेल, बेगूलराय में नौजवान दो भले मरे
जगह नहीं है जेलों में—यमराज तुम्हारी मदद करे।''

उपर्युक्त विवेचना के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि नागार्जुन की भाषा भाव और विषय से जुड़ी हुई है। भाव की कीमत चुकाकर भाषा को सजाने-सँवारने का काम नागार्जुन ने नहीं किया है। उनके विषय इतने स्पष्ट और मर्मस्पर्शी हैं कि भाषा स्वतः ही उनकी हमसाया बन गयी है। वस्तुतः राग चेतना प्रधान कविताओं की भाषा में मधुरता, मदिरता, मसृणता और संस्कृतनिष्ठता है तो व्यंग्यपरक और यथार्थ की प्रतिबोधक कविताओं में शब्द सीधे जन जीवन के अंचल से उठाये गये हैं। भाषा में गरिमा–बोध वहाँ अधिक है जहाँ कवि या तो श्रद्धा भावना से आपूरित है या प्रकृति की नूतन भव्य छवियाँ उसके मानस को आन्दोलित करती हैं। यही कारण है कि रवि ठाकुर, निराला और राजकमल को सम्बोधित कविताओं में भाषा का आभिजात्य देखने को मिलता है : "युगनद्ध मिथुन की भावभूमि तुम रत्न-पिच्छल, तुम स्वेद सुरभि हारा जिससे मृगमद परिमल।" एक ओर तो भाषा का यह आभिजात्य है और दूसरी ओर जब व्यंग्य कवि की चेतना पर हावी होता है तो यह चुटीली भाषा लिखता है :—

1. बापू के भी ताऊ निकले तीनों बंदर बापू के।
   सरल सूत्र उलझाऊ निकले तीनों बंदर बापू के।।
2. दस हजार दस लाख मरें, पर झण्डा ऊँचा रहे हमारा।
   कुछ हो काँग्रेसी शासन का डंडा ऊँचा रहे हमारा।।
3. पाँच साल कम खाओ भैया, गम खाओ दस पन्द्रह साल।
   अपने हाथों से झोंको यों अपनी ही आँखों में धूल।।"

अप्रस्तुत योजना :

जनता की भाषा में अपनी बात कहने वाला नागार्जुन अलंकारों के पीछे नहीं पड़ा है। अपनी बात कहने की उनकी अलग अदा है। फिर जिसके पास अदा हो और हो अपनी भाव-पूँजी, वह किसी बाहरी तत्व का सहारा क्यों लें? हाँ; यदि किसी को ऐसे अदाकार की अदा पसन्द हो तो वह चाहे तो उसकी अदा का हमराज बन जाए! नागार्जुन एक ऐसे ही अदाकार हैं। उन्हें अलंकारों की जरूरत नहीं पड़ी है। अलंकार भले ही उनकी अदा के कायल होकर उनके पास चले गये हों और आकस्मिक रूप से आये मेहमान की तरह यदि उन्हें कवि ने उपकृत कर दिया हो तो जुदा बात है। सौ बात की बात यह है कि नागार्जुन ने अलंकारों के प्रति ममत्व नहीं दिखाया है। हाँ; अपनी भावानुभूतियों को अभिव्यक्त करते समय स्वतः ही चलकर आये मित्र की तरह उन्हें निराश लौटाया भी नहीं है। फलतः जहाँ-तहाँ उपमा, रूपक, असंगति, विरोधाभास, मानवीकरण और उत्प्रेक्षा आदि के प्रयोग मिल जाते हैं। उनका सद्य प्रकाशित काव्य 'भस्मांकुर' अवश्य ऐसा है जिनमें अनेक नये-पुराने अलंकारों को अपना कर कवि ने अपने कथ्य को मार्मिक शैली में प्रेषणीय बनाया है। कतिपय उदाहरण देखिए :

उपमा : घिसे हुए पीतल सी पांडुर
पूस मास की धूप सुहावन ।"

उपमा के कतिपय आकर्षक प्रयोग भस्मांकुर में देखे जा सकते हैं : "निपट मुग्धा-सी भाव विभोर, "सजी-बजी गुड़िया सी सुन्दर नारि", "जादूगर सा रति को लगा बसंत', 'तिल पुष्पोपम नासा', 'चंदन सी लगती थी भीगी धूल', 'पारद की नलियों सी बारम्बार, जटा, जूट में दिपती सुरसरि धार' और 'तनिक उगे सींगों से युगल उरोज' में उपमाओं का सौन्दर्य देखते ही बनता है ।

रूपक अलंकार का प्रयोग नागार्जुन ने 'भस्मांकुर' में अधिक और अन्य कविताओं में कम किया है । उदाहरणार्थ :—

"हजारों बाहों वाली शिशिर विष कन्या
उतरी लेकर साँसों में प्रलय की वन्या ।।"

इसी क्रम में'भस्मांकुर' में आए रूपक प्रयोगों की भी बानगी लीजिए । लगता है प्रगतिशील चेतना का सूत्रधार इन रूपको में छायावादी हो गया है :—'प्रकृति परी ने सजा हरित शृंगार ।' 'असमय हरियाली का पारावार', 'दो-दो दृगमणि चारों की द्युति एक', 'दमक उठा गिरितनया का मुख-पद्म', 'कहाँ दब गया जाने संशय-कीट' और 'स्वच्छ बर्फ की धवल मुलायम शाल' जैसे प्रयोग कवि की भावुकता के प्रमाण हैं । उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी एक दो स्थलों पर आकर्षक बन पड़ा है :— 'झेल रहा है मानो यहाँ त्रिकाल, फुहियों की माला किरणों का जाल' और 'तभी कपोलों पर संकोच विलास छिटके मानो मिला सुखद आभास ।'

मानवीकरण के आकर्षक प्रयोगों की स्थिति भी अभिभूत करती है । स्पष्टीकरण के लिए ये पंक्तियाँ देखिए : थिरक उठीं कंटकित झाड़ियाँ आज, 'पलकों पर जम कर बैठा संकोच', 'आँख मिचौनी खेलेंगे नक्षत्र, तिमिर पुत्रियों का का पायेंगे प्यार', 'लतिकाओं ने पकड़ी सुख की राह' और दब रही कुसुमाकर की मुस्कान, गालों में घुटती होठों में कैद 'जैसे प्रयोगों में कांतिमती अनुभूतियाँ मूर्तित हो उठी हैं । अपवाद स्वरूप असंगति, विरोधाभास और विशेषण विपर्यय का प्रयोग भी नागार्जुन के काव्य में मिल ही जाता है ।

विशेषणविपर्यय : कला गुलाम हुई इनके आगे कविता पानी भरती है ।
सौ-सौ की मेहनत इनकी मुसकानों पर मरती है ।।

असंगति : 'वोट मिलना लगता आसान
कहीं पर भोज कहीं गुनगान
कहीं पर थोक नकद नगदान ।।

विरोधाभास : हिमदग्ध होठों के प्राण शोषी चुम्बन
तनमन पर लेप गये ज्वालामुखी चंदन ।।"

इस प्रकार कह सकते हैं कि नागार्जुन अप्रस्तुतों के पीछे नहीं पड़े हैं। उन्होंने सहज रूप में ही उन्हें अपनाया है। ये कवि की भावानुभूतियों के सहचर हैं जो वर्ण्य अनुभूतियों से एकाकार हो गये हैं। अतः भावोत्कर्ष में सहायक हैं।

प्रतीक-विधान

रूप, गुण और भाव की अवगति कराने वाली वह कल्पना प्रतीक कहलाती है जिसमें उपमेय का निगरण हो जाता है। प्रतीक या तो हमारे सामने किसी रूप को प्रस्तुत करता है या किसी गुण को या किसी भाव को। यह आवश्यक नहीं है कि प्रतीक प्रतीयमान से एकदम मिलते-जुलते हों। वे मिल भी सकते हैं – रूप और आकृति में और भिन्न भी हो सकते हैं, किन्तु गुण और स्वभाव में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य होनी चाहिए। काव्य में प्रतीक के प्रयोग से भाषा में एक नयी अर्थवत्ता और नवीन शक्ति आ जाती है। नागार्जुन का काव्य जन काव्य है। उसमें सीधी सरल भाषा शैली को अपनाया गया है, किन्तु ये सीधे, सरल और व्यावहारिक शब्द ही अनेक बार प्रतीक बनकर आये हैं। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि एक सफल व्यंग्यकार होने के नाते नागार्जुन के काव्य में प्रतीक अपनी अनिवार्यता लेकर आये हैं। प्रतीकों के सहारे ही यह कवि अपने अभीष्ट भाव की व्यंजना कर सकने में सफल हुआ है। 'भुस का पुतला' कविता में काँग्रेसियों को भुस का पुतला कहा गया है। देश की विविध समस्याओं को सुलझाने में उनकी अक्षमता को कवि नागार्जुन ने खेत में खड़े मौन पुतले के समान माना है।

'नागार्जुन' ने प्रतीकों में समसामयिक समस्याओं, नेताओं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों आदि पर करारे व्यंग्य किये हैं और इन सभी के लिए उसने प्रतीकों का प्रयोग किया है। इनमें अर्थ-भार वहन करने की अद्भुत क्षमता है, प्रेषणीयता का विलक्षण गुण है और ये प्रतीक ही हैं जो कवि के अभिप्रेत को मनोरंजक और प्रभावी शैली में व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं। 'परसों था जंगल का राजा, कल था घायल शेर' में यदि पुराने काँग्रेसकर्मियों पर प्रतीक शैली में व्यंग्य किया गया है तो शासन में रहकर अत्याचार करने वाले प्रशासकों की स्थिति का अभिव्यंजन भी प्रतीकों के सहारे इन पंक्तियों में हुआ है : "जगती अशोक सिंहों पर बेशर्म उल्लुओं की जमात।" इसी प्रकार अपने स्वार्थ में लिप्त अवसरवादियों के लिए अपनाये गये ये प्रतीक देखिए :

> "देखा हमने चिड़ियाखाना, सुना चीखना और चिल्लाना।
> धवल टोपियाँ फेंक रहे थे, मगर गधों से रेंक रहे थे
> धोती कुर्ते में थे हाथी, सूकर ऊँट थे जिनके साथी
> बैलों के पीछे अनबोले, मचल रहे थे साँप-सपोले।।"

इधर पिछले वर्षों में लिखी गयी नागार्जुन की कविताओं में 'एक बंदरिया', 'रानी मक्खी', 'आओ-आओ', 'अच्छा हुआ कि जनता को मिल गयी तुम्हारी थाह'

और 'बूढ़ा शेर' आदि प्रमुख प्रतीकात्मक कविताएँ हैं। 'रानी मक्खी' देश की राजनीति की, 'एक बंदरिया' प्रमुख नारी नेत्री की, 'चिड़ियाखाना' भ्रष्ट राजनीति का प्रतीकार्थ रखते हैं। 'एक बंदरिया' का प्रतीक तो बड़ा ही मार्मिक और तीखा बन पड़ा है। 'भस्मांकुर' में आये प्रतीक भी विविधात्मक हैं। उसमें प्राकृतिक, सांस्कृतिक और जीवन के सभी क्षेत्रों से प्रतीकों का चयन किया गया है। इस काव्य में 'अमृत', 'मिठास और माधुर्य का, 'पी जाती यह हालाहल चुपचाप' में 'हालाहल', आपदा या पीड़ा का, 'यातुधान और वैतालिक' शब्द जादूगर बसत के, बारूद 'क्रोध का और 'मलयानिल' रति भाव के पोषक प्रतीक हैं।

बिम्ब विधान :

बिम्ब कविता का प्राणतत्व है। इसका निर्माण कल्पना के सहयोग से होता है। वस्तुतः बिम्ब कल्पना और स्मृति की वह क्रिया है जो शब्दों के द्वारा चित्र प्रस्तुत करती है। कई बार तो बिम्ब सीधी सरल शब्दावली द्वारा खड़े किये जाते हैं और कई बार अलंकृति द्वारा, किन्तु सर्वाधिक सफल बिम्ब वे होते हैं जो ऐन्द्रिय संवेदनों द्वारा खड़े किये जाते हैं। अतः मैं समझता हूँ कि बिम्ब एक ऐसा ऐन्द्रिय शब्द-चित्र होता है जिसमें अलंकृति का स्पर्श भी होता है और भावावेगमयी कल्पना का भी। 'नागार्जुन' के बिम्बों में ताजगी है, सरसता है, चुटीलापन है और कहीं-कहीं वे स्मृति के सहारे खड़े किये हैं, किन्तु अधिकांश ऐन्द्रिय संवेदनों के सहारे ही निर्मित हुए हैं।

नागार्जुन के दृश्य या चाक्षुष बिम्ब सर्वाधिक स्पष्ट और प्रभावशाली बन पड़े हैं। (बादल को घिरते देखा है) कविता में आया यह बिम्ब देखिए :

> "अमल धवलगिरि के शिखरों पर
> बादल को घिरते देखा है
> छोटे-छोटे मोती जैसे अतिशय शीतल वारिकणों को
> मानसरोवर के उन स्वर्णिम कमलों पर गिरते देखा है।"

वस्तुतः यह पूरी की पूरी कविता ही ऐसे सशक्त और अनाघ्रात बिम्बों से सज्जित है। इसी क्रम में निम्नांकित पंक्तियों में आये बिम्ब को लीजिए :

> पूसमास की धूप सुहावन
> फटी दरी पर, बैठा है चिर रोगी बेटा
> राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी
> गर्भ-भार से अलस शिथिल है अंग-प्रत्यंग।" ... ...

नागार्जुन के काव्य में भाव-बिम्बों की भी कमी नहीं है। उन्होंने प्रेमजनित स्थितियों से सम्बन्धित अनेक बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। केवल दो उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

1. "तुम नहीं हो पास, मैं तो तरसता हूँ
प्यार के दो बोल सुनने के लिए
एक ही दो अँगुलियाँ नहीं हैं काफी कदाचित्,
रेशमी परितृप्तियों का जाल बनाने के लिए।"

2. "वे लोहा पीट रहे हैं
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड़ रहे हैं
तुम सपने जोड़ रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है
और तुम्हारी घुटन ?
उनींदी घड़ियों में चुरती हैं।"

'नागार्जुन' ने ऐन्द्रिय बिम्बों के अन्तर्गत दृश्य, श्रव्य, घ्राण, रंग, आस्वाद और स्पर्श बिम्बों की सफल सृष्टि की है। कतिपय उदाहरण देखिए—

श्रव्य बिम्ब ' देखा सबने चिड़ियाखाना
सुना चीखना और चिल्लाना
धवल टोपियाँ फेंक रहे थे
मगर गधों से रेंक रहे थे।"

या

नचाकर लम्बी चमचों सा पंचगुरा हाथ
रूखी पतली किटकिट आवाज में
खड़ खड़ खड़ खड़ हड़ हड़ हड़ हड़
काँपा कुछ हाड़ों का मानवीय ढाँचा।"

स्पर्श बिम्ब (अ) "झुकी पीठ को मिला
किसी हथेली का स्पर्श
तन गयी रीढ़।"

(ब) "मधु ऋतु की जादुई छुअन से तृप्त
गिरितनया का अधर सुधारस पान"

घ्राण बिम्ब : "वृद्ध वनस्पतियों की ठूठी शाखाओं में
पोर-पोर टहनी-टहनी का लगा दहकने
टेसू निकले मुकुलों के गुच्छे गदराये
अलसी के नीले फूलों पर नभ मुस्काया।।"

वर्ण या रंग बिम्ब : 1. "प्रकृति-परी ने सजा हरित श्रृंगार।"
2. "रति के रतनारे नयनों की छाप।"
3. "घिसे हुए पीतल सी पाण्डुर,
पूस मास की धूप सुहावन"
4. "शतदल लाल कमल वेणी में
रजत-रचित मणि-खचित कलामय"

'भस्मांकुर' काव्य में नागार्जुन ने 'कम्पन बिम्ब'—'थरमल इमेजेज' तक का प्रयोग किया है। जब कवि लिखता है कि 'काँप रहा था रति का मृदुल शरीर, स्वेद सिक्त रोमान्चित कांतिविहीन' तो ऐसे ही बिम्ब की आभा मूर्तित हो जाती है। अनेक बार ऐसा भी होता है; जब कल्पना प्रायः निष्क्रिय होती है तब स्मृति बिम्बों की सर्जना होती है। अतीत की अनुभूतियों के सहारे खड़े किए गये विम्ब इसी प्रकार के होते हैं :—

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल
याद आता, तुम्हारा सुन्दर सिन्दूर तिलकित भाल'

'शिशिर विषकन्या' कविता में अमूर्त वस्तु का मानवीकरण करके नागार्जुन ने श्रेष्ठ विम्ब प्रस्तुत किया है। इसे अलंकृत बिम्बों की कोटि में रखा जा सकता है, किन्तु इसमें स्पर्शेन्द्रिय बिम्ब भी स्पष्ट आभासित होता है। यों कहीं-कहीं कवि ने दृश्य-श्रव्य बिम्बों का सम्मिलित रूप भी प्रस्तुत किया है :—

'तुम वही पंक जिसकी पलकें होती शतदल
युग की भ्रमरावलि करती गुन-गुन अविरल

उपर्युक्त विश्लेषण के आलोक में यह निश्चित हो जाता है कि नागार्जुन ने सफल और आकर्षक बिम्बों की सृष्टि की है। उन्हें सर्वाधिक सफलता वस्तुपरक या चाक्षुष बिम्बों और ऐन्द्रिय संवेदना पर आधारित बिम्बों में मिली है। उनका काव्य प्रतीकों; बिम्बों दोनों ही दृष्टियों से न केवल कलात्मक है, अपितु, पाठकीय संवेदना को गहरे तक छूता है।

छन्द विधान :

नागार्जुन के काव्य में प्रयुक्त छन्दों का निजी वैशिष्ट्य भी है और शास्त्रीय आधार भी है। उन्होंने प्रगीतों की भी सृष्टि की है और मुक्तछन्द का प्रयोग भ सफलतापूर्वक किया है। जितनी सफलता उन्हें प्रगीत सृष्टि में मिली है, उतनी ही सफलता मुक्त छन्दीय प्रयोगों में। छंदबद्ध तुकांत कविताओं में गेयता है, लय है, तुक तान है। छन्दबद्ध कविताओं में कुछेक कविताएँ ऐसी भी हैं जो छन्दों की

सीमा को स्वीकारती हुई भी अतुकांत हैं। कहीं-कहीं तुकांत कविताओं में मात्रिक क्रमबद्धता का अभाव भी दिखाई देता है। केदार अग्रवाल को सम्बोधित कविता इसी प्रकार की है। स्वतन्त्र और मुक्त छन्द का प्रयोग भी नागार्जुन ने बड़ी कुशलता से किया है। 'बौद्ध भिक्षुणी' से सम्बन्धित कविता इसका सफल उदाहरण है। 'प्रेत का बयान', वे और तुम', जैसी कविताएँ भी छांदसिक कलात्मकता का ही उदाहरण है। 'भस्मांकुर' काव्य 'बरवै छन्द' में लिखी गई रचना है। सोलह मात्राओं के इस छन्द के प्रयोग से नागार्जुन ने अपनी मौलिकता प्रकट की है। सामान्यतः इसका प्रयोग तुकांत रूप में ही होता आया है, किन्तु नागार्जुन ने इसे अतुकान्त रूप में प्रयोगा है। इससे आलोच्य काव्य में न केवल सरसता, मधुरता और स्निग्धता का संचार हुआ है, अपितु प्रवाहशीलता व गत्वरता का विनियोग भी हो गया है। यों कहीं-कहीं इसका तुकांत रूप भी आया है। जहाँ ऐसा है वहाँ भी वर्णन अत्यन्त मधुर, छन्द गतिशील और सौन्दर्य-सुषमा कई गुना बढ़ गई है।

संक्षेप में यही कह सकते हैं कि नागार्जुन प्रगतिशील काव्यधारा में महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। उनकी कविताएँ सामाजिक यथार्थ की कविताएँ हैं। ध्वंस और निर्माण के स्वरों में बोलती व्यंग्य की शैली का खोल ओढ़कर सहज गति से गतिमती बनी नागार्जुन की कविताएँ, भारत के हृदय को मूर्तित करने वाली विश्वसनीय कविताएँ हैं। इनमें व्यक्ति, व्यक्ति की स्थिति, मनःस्थिति, समाज-समाज के कर्णधार, शासक-प्रशासक और जन-सामान्य का समग्र जीवन आरेखित हुआ है।

समानधर्मा कवियों के बीच नागार्जुन

आधुनिक काव्य में प्रगतिशील चेतना को सही और रचनात्मक रूप प्रदान करने वाले कवियों में नागार्जुन का नाम विशेष गौरव के साथ लिया जा सकता है। वे नव-चेतना के वाहक कवि के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने एक ओर तो पीड़ित और त्रस्त मानवों के प्रति गहरी संवेदना प्रगट की है और दूसरी ओर प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, आतंक और अमानवीयता पर तीखे व्यंग्य किये हैं। उनकी सहानुभूति न तो खोखली है और न उसमें प्रदर्शन का रंग है। वे एक सच्चे मानव हैं और इसी से उसके अभावों व कष्टों के प्रति गहरी रुचि रखने वाले हिम्मतवर कवि हैं। प्रगतिवादी कविता में जो अन्य कवि उनके समानधर्मा माने जा सकते हैं, उनमें रामविलास शर्मा, केदार अग्रवाल, शिवमंगलसिंह सुमन, रांगेय राघव और त्रिलोचन शास्त्री के नाम विशेषोल्लेख्य हैं। देश के त्रस्त और पीड़ित वर्ग के समर्थन में नागार्जुन के समशील कवियों ने भी काव्य-सृजन किया है। प्रायः सभी में आस्था और निर्माण का स्वर प्रमुख रहा है। शासकीय ढांचे पर प्रहार, ईश्वर और धर्म के प्रति उदासीनता का भाव, अंध-परम्पराओं का भंजन, नवीन जीवन मूल्यों की

स्थापना, देश प्रेम, राष्ट्रीयता और वैश्विक भूमिका पर मानवतावाद और जीवन मूल्यों के प्रति निष्ठा आदि के स्वर इन सभी कवियों में मिलते हैं। इतना ही नहीं प्राय: सभी कवियों ने अपने जीवन को निकट से देखा है और उसमें पल रहे यथार्थ को और विविध विकृतियों को तीखी नजर से देख-परखकर काव्यबद्ध किया है। सामाजिक यथार्थ और व्यक्ति-यथार्थ में से सामाजिक हितैषणा के कारण प्राय: सभी ने नव-निर्माण का शंख फूँका है और यह संकेतित किया है कि जीवन जीवन है और जिजीविषा उसका प्रमुख सन्दर्भ है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनर्गल है कि इन कवियों ने प्रचारात्मकता और विज्ञापनी वृत्ति को ही अपनाया है। प्रचार इनके काव्य में हैं अवश्य, किन्तु वह नव-निर्माण की कामना से बलयित होने और काव्य के माध्यम से व्यक्त होने के कारण रचनात्मक हो गया है।

सुमन, रांगेय राघव, रामविलास, त्रिलोचन और केदार अग्रवाल सभी ने नागार्जुन की तरह पूँजीवाद के प्रति तीव्र आक्रोश और क्षोभ व्यक्त किया है। 'नागार्जुन' के काव्य में भी यह प्रवृत्ति दिखलाई देती है। काँग्रेस शासन के प्रति जहाँ अन्य कवि केवल क्षोभ व्यक्त करते हैं या अधिक से अधिक उस पर आक्षेप लगाते हैं, वहाँ नागार्जुन इस सबको अपना कर भी आक्रोश, ललकार और तीखे व्यंग्य वचनों से प्रशासन व प्रशासकों के मस्तिष्क की चूलें हिला देते हैं। वे अन्य समानधर्माओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और निर्भीक हैं। जहाँ रामविलास जी सामन्तवादियों के कुचक्रों से मजदूर वर्ग को मुक्ति दिलाने की बात करते हैं, त्रिलोचन मुक्ति-कामना जनित उल्लास से भर उठते हैं और रांगेय राघव दलितों के प्रति सहानुभूति दिखलाते हुए मात्र तड़प कर रह जाते हैं, वहीं नागार्जुन जन-जन की पीड़ा से त्रस्त होकर उसे मिटाने हेतु तरुण शक्ति का आवाहन करते हैं। उनके आवाहन में काव्यगत निर्भीकता भी है और आस्था भी है। उन्होंने लिखा है :

> "जन जर्जर है भूख प्यास से
> व्यक्ति व्यक्ति दुख दैन्य ग्रस्त है
> लो मशाल अब घर-घर को आलोकित कर दो ।।"

यही स्वर और ऐसी ही आस्था-वृत्ति शिवमंगल सिंह सुमन में भी मिलती है। आवाहन वहाँ भी है, स्पष्टता वहाँ भी है, किन्तु नागार्जुन की सी काव्यात्मकता की रक्षा सुमन जी ऐसे प्रसंगों में नहीं कर पाये हैं। सुमन जी ने लिखा है :

> "हाथ बढाओ लो मशाल आगे बढ़ जाओ।
> दुनियाँ भर के पद-दलितों का हाथ बटाओ ।।"

रामविलास जी में भी वैसी ही मार्मिकता है जैसी नागार्जुन में है, किन्तु करुणाशीलता के अतिरेक से वह निर्भीकता नहीं आने पाई है जो नागार्जुन की उपर्युक्त पंक्तियों में है –

"इस धरती पर जो श्रम करते हैं
उनके तन की पर्तों में अब सूख गया है
रक्त, रेत पर गिरी हुई जल की बूँदों-सा।"

देश-प्रेम और मानवीय एकता का स्वर नागार्जुन के सभी साथियों में मिलता है। रामविलास जी अपने देश में भावात्मक ऐक्य राष्ट्रीयता का विकास देखना चाहते हैं तो रांगेय राघव के हृदय में देश-प्रेम का स्वर लहरें ले रहा है। सुमन जी की देश-प्रेम वलियत भावनाएँ ओजस्वी शैली में व्यक्त हुई हैं और केदार प्राणोत्सर्ग करके देश की मिट्टी में मिल जाना चाहते हैं। उत्सर्ग का रंग केदार में गहरा है, किन्तु नागार्जुन के देश-प्रेम की अपनी विशिष्टता है। वे तो भारत और पाक को एक ही देखने के अभिलाषी हैं। इसी से उन्होंने प्रान्तीय और साम्प्रदायिक भावनाओं का डटकर विरोध किया है। अन्य कवियों की अपेक्षा नागार्जुन देश की प्राकृतिक छवियों पर भी अधिक मुग्ध हैं। नागार्जुन के देश प्रेम की विशेषता यह रही है कि उन्होंने न केवल देश की प्रकृति-श्री को देखा है, अपितु देश की हर समस्या उनके काव्य में संकेतित है। समस्याओं को काव्यात्मक स्तर पर उठाना और उनके निराकरण के लिए ठोस और रचनात्मक सुझावों को भी काव्यमयी शैली में कहने की कला जितनी नागार्जुन के पास है, उतनी और वैसी उनके समशील कवियों के पास नहीं है। अपने देश की आन्तरिक व्यवस्था के प्रति भी जैसी प्रचेता दृष्टि नागार्जुन के काव्य में हैं, वैसे उनके समानधर्माओं के काव्य में नहीं है। जहाँ कवि 'नागार्जुन' देश-प्रेम की भावना से भरकर देश की रक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाना चाहते हैं वहीं वे देशानुराग के कारण अपने देश की आन्तरिक व्यवस्था के प्रति भी सतर्क है। यही कारण है कि उन्होंने 'पैटन टैंक' तोड़ने के साथ-साथ मँहगाई के टैंकों को तोड़ने की बात भी कही है, जातिवाद के संपाती की चोंच को भी झाड़ने की बात कही है, आर्थिक चि त की सुरक्षा के प्रति भी चिन्ता व्यक्त की है और यह भी कहा है कि—

पड़ी पिटाई भागे बाहर के डाकू
लेकिन अन्दर के दुष्टों को कौन यहाँ नाथेगा ?
सिंहवाहिनी तो दनुजों का रक्त पियेगी
धरती नी प्यासी फसलों को पानी देगा कौन ?

प्रणयभाव की व्यंजना की दृष्टि से देखें तो यही कहना पड़ेगा कि इन सब ने इस भाव के प्रति विशेष ममत्व प्रदर्शित नहीं किया है। जीवन की विभीषिकाओं के

त्रस्त संतप्त इन कवियों ने प्रेमानुभूतियों की व्यंजना तो की है, किन्तु लगभग उतनी ही जितनी कि जनहित का विश्वासी प्रगतिशील कवि कर सकता है। 'केदार' के 'नींद के बादल' और 'सुमन' के 'पर आँखें नहीं भरीं' काव्य संग्रह इस दृष्टि से रेखांकित करने योग्य हैं। त्रिलोचन की दृष्टि में प्रेम जीवन का एक संदर्भ भर है; सर्वस्व नहीं। ठीक भी है रोजी-रोटी और समान स्वतन्त्रता के अभिलाषी कवि से उस गहन प्रेम की अपेक्षा भी कैसे की जा सकती है जो छायावादियों का सर्वस्व था। प्रेम में तड़प, पीड़ा और निराशा के भाव केदार और सुमन में हैं। 'सुमन' में तो रूपाकर्षण भी है, किन्तु नागार्जुन का प्रेम इनसे भिन्न कोटि का है। उसमें शालीनता, गरिमा, पवित्रता और एक प्रकार की पारिवारिकता है। केदार के प्रेम-चित्रों में तो कहीं-कहीं स्थूलता भी आ गयी है, किन्तु नागार्जुन का प्रेम इससे भिन्न कोटि का है। वह उदात्त अधिक है। वह जीवनगत विषमताओं व विविधताओं में सुगमता लाने के लिए है; जीवन की उपकारक इकाई है।

प्रकृति-सौन्दर्यांकन में तो प्रायः सभी कवि समान हैं। ग्राम्य-प्रकृति के चित्र तो प्रायः सभी ने उतारे हैं। त्रिलोचन, केदार, सुमन और नागार्जुन सभी के प्रकृति चित्र आकर्षक, मादक और मोहक हैं। इसके अतिरिक्त व्यंग्य के कारण नागार्जुन का काव्य अधिक प्रभावी बन पड़ा है। अपने समानधर्माओं में नागार्जुन का व्यंग्य न केवल मारक और चुटीला है, अपितु व्यापक और लक्ष्योन्मुख भी है। नागार्जुन का व्यंग्य-काव्य सबसे श्रेष्ठ है। उनके व्यंग्य में कबीर की सी तेजी है तो निराला की सी महीन मार मारने की क्षमता है। 'सुमन' का व्यंग्य सामान्य है, केदार का स्पष्ट अधिक है, त्रिलोचन का व्यंग्य आक्रोश के कारण प्रभाव नहीं डालता है। इन सभी के व्यंग्य में एक सादगी और एक ठण्डापन है जबकि नागार्जुन के व्यंग्य में प्रखरता, पैनापन और सूक्ष्मता अधिक है। रामविलास जी का व्यंग्य सीमाओं का अतिक्रमण करने के कारण ठण्डा हो गया है—हल्का हो गया है। केदार मीठी चिकोटी काटते हैं तो नागार्जुन प्रहारक शैली के प्रयोग से तिलमिला देते हैं। वस्तुतः नागार्जुन में तल्खी अधिक है जबकि केदार में स्निग्धता। 'नागार्जुन' व्यंग्य से बखिया उधेड़ने का काम करते हैं। वह तिलमिला देने वाला अधिक है। 'नागार्जुन' के व्यंग्य में गहराई है जबकि उनके समशील कवियों में न तो वैसी गहराई है, न वैसा आक्रोश है और न वैसी व्यापकत्व विधायिनी दृष्टि है। डॉ० रामविलास शर्मा ने तो स्वयं स्पष्ट लिखा है : "इनकी कविताएँ दिल पर चोट करने वाली हैं, कर्त्तव्य की याद दिलाने वाली हैं और राह दिखाने वाली भी हैं।"[1] असल में व्यंग्य नागार्जुन का प्रखर अस्त्र है। इस सम्बन्ध में विश्वंभरमानव ने भी लिखा है : "हरिश्चन्द्र युग के साहित्यिकों को छोड़कर पिछले पचास वर्षों में नागार्जुन जैसा तीखी और सीधी चोटें करने वाला

1. डॉ. रामविलास शर्मा ; युगधारा अन्तिम पृष्ठ सम्मति से।

व्यंग्यकार हमारे साहित्य में नहीं हुआ है। इनका व्यंग्य क्योंकि वस्तुस्थिति को सामने लाता है। अतः प्रभावशाली है।[1] कहना यही है कि नागार्जुन अपने समानधर्मा कवियों में महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। वे प्रगतिशील चेतना के वाहक, जन-चेतना के पक्षधर, निम्नवर्गीय व्यक्तियों के प्रति करूणाशील, उदार मानवतावाद के पोषक, स्वस्थ प्रेम के व्याख्याता, प्रखर व्यंग्यकार, जीवन के प्रति आस्थावान होने के कारण सच्चे प्रगतिशील, सर्जनात्मक क्रांति के सार्थवाह, मानवता के प्रतिष्ठापक और अशिव के ध्वंस पर शिव का निर्माण करने वाले कवि हैं।

1. विश्वंभर मानव ; नयी कविता नये कवि पृष्ठ 30

२. अज्ञेय

'अज्ञेय' की काव्य यात्रा प्रारम्भिक रूप में छायावादी बोध की ओर अन्तिम परिणति के रूप में नयी कविता की यात्रा है। यों अज्ञेय का सर्जन 'इत्यलम्' से प्रारम्भ होता है, किन्तु नयी कविता की स्वस्थ स्थितियों के रूप में वह तभी पहचाना गया जब उन्होंने 'हरी घास पर क्षणभर' बैठकर 'बावरा अहेरी' के आलोक में स्नात हो 'रौंदे हुए इन्द्रधनुषों को अनुभवा' यह एक दुनियाँ थीं। इससे आगे वे प्रभामय करुणा से सिक्त हो 'आँगन के पार द्वार' जाकर भीतर के देवता को बार-बार पालागन करते हुए 'कितनी नावों में कितनी बार' की ताजी और आधुनिक बोध मंडित दुनियाँ में आकर अपने अन्वेषित सत्य को प्रस्तुत कर सके। एक समय था जब उन्होंने विरोध किया और सत्य तथा परम्परा के वट-वृक्ष की बढ़ती शाखाओं को तराशा और नयी जमीन में नये बीजों का वपन किया। इस क्रिया में कुछ जोश था—अपने को प्रतिष्ठित करने का आग्रह था। यह आग्रह सन् 50 तक रहा फिर जब संतुलित हुआ तो उनके कृतित्व में जमा रेत नीचे बैठता गया और साफ-सुथरी चेतना का जल ऊपर तैर गया। परिणामत: नयी कविता के आँगन में 'हरी घास' भी लगी और उस पर 'बावरा अहेरी' का आकाश भी फैला। साँझ हुई और उसके मोहक-शांत वातावरण में कवि ने 'घर कुटीर के दिये' को सहमा सा चुपचाप रख दिया। उसके दिव्य आलोक में वह धीर, आश्वस्त, अक्लान्त अपने अनबूझे सत्य के प्रभामण्डल की ओर 'कितनी ही नावों में कितनी बार' हो आया। जब इस यात्रा से वह लौटा तो उसकी मुद्रा 'सागर-मुद्रा' थी क्योंकि वह अपनी यात्रा के समस्त अनुभवों को जानता था। इसी कारण वह 'सन्नाटा बुनने' में लगा रहा और अभी वह 'महावृक्ष के नीचे' खड़ा अपने अनुभवों को भीतर ही भीतर गुन रहा है।

अज्ञेय की यायावरी वृत्ति ने उन्हें पश्चिम की जूठन को भारत में व्यंजन बनाकर खाने का अपराधी ठहराया; किन्तु वे इस अपराध की बिना चिन्ता किये निरंतर गतिमान रहे। सम्भवत: इसी आधार पर कुछ समीक्षकों ने उन्हें आधुनिकता विरोधी, इतिवृत्तात्मक, पुनरावृत्तिवादी, अबौद्धिक और अमौलिक कहा है। यह मत एकांगी; रुचि प्रेरित और अनर्गल है। उन्हें नवरहस्यवादी कहाना भी अनुचित है। आज अजनबीपन, अपरिचय और विसंगति व भटकाव सब कहीं व्याप्त है, किन्तु यातनाओं व मृत्युदंड की पीड़ा से काम चलने वाला नहीं है। कारण; सवालों से घिरी जिन्दगी और जिन्दगी को घेरते हुए सवाल आम आदमी को 'पैरेलाइज' किये दे रहे हैं। यह पराजय और उसका स्वीकार अज्ञेय को कभी प्रिय नहीं रहा है। उनकी धारणा है

कि पराजय का स्वीकार ही कविता नहीं है। आदमी हमेशा लड़ा है और किसी नयी आस्था और शक्ति का विश्वास लेकर जिया है। अनेक प्रश्नचिह्नों की चट्टानों को तोड़ने के लिए उसे सदैव जिजीविषा और मानवास्था की जरूरत पड़ी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय निरंतर इसी यात्रा के पथिक रहे है। आस्था का सम्बल लेकर वे सदैव गतिमान रहे हैं। इतना ही क्यों अनास्था, संशय, अकेलेपन और भयावहता के बटमारों से लुटते-पिटते हुए भी वे निरन्तर एक खोज में संलग्न रहे हैं। यह सत्यान्वेषण ही उनके काव्य का प्रमुख संदर्भ है। वस्तुत अज्ञेय ने एक व्यक्तित्व की खोज की है—अपने भीतर भी और अपने से बाहर भी। यह क्रम अभी भी जारी है। यह 'कन्टीन्यूटी' ही कविधर्म है और अज्ञेय के विविध काव्य संग्रह इसी नैरन्तर्य के सम्बल बनकर आए हैं।

कृतित्व और काव्य-यात्रा के सोपान :

अज्ञेय का काव्य सत्यान्वेषण का काव्य है। उसमें आरम्भ से ही सत्य की अन्वेषणी प्रक्रिया मिलती है। वे अर्थ पाने के लिए बेचैन रहे हैं और यही बेचैनी उन्हें आत्मान्वेषण से जोड़ती है। जो लोग अज्ञेय को मात्र शिल्पी मानते हैं; शब्द के अन्तस् में छिपे अर्थ का अन्वेषक मात्र मानते हैं, वे भ्रम में हैं। असल में उन्होंने शब्दात्मा में छिपे अर्थ को पहचान कर ही सत्यान्वेषण किया है। यह सत्य काव्य की पंक्तियों में कुछ इस तरह अभिव्यक्त हुआ है कि वह जीवन-सत्य बन गया है। ऐसी स्थिति में अज्ञेय की काव्य-यात्रा सत्यान्वेषण और आत्मान्वेषण से बराबर जुड़कर ही जीवन के अर्थ को पाने की सतत प्रवहमान प्रक्रिया है। अर्थान्वेषण या सत्यान्वेषण की यही भावना अज्ञेय की 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुई है : "अर्थ दो, अर्थ दो/मत हमें रूपाकार इतने व्यर्थ दो/हम समझते हैं इशारा जिन्दगी का/हमें पार उतार दो/रूपमत बस मार दो।" जीवन-सत्य का अन्वेषक अज्ञेय का कवि मानस इस बिन्दु से कहीं भी इधर-उधर नहीं गया है—बावजूद अपनी भारतीयता और आधुनिकता के। उनके जो काव्य संग्रह अब तक प्रकाशित हुए हैं; उन सभी से मेरे कथन के प्रमाणीकरण के लिए उद्धरण प्राप्त किए जा सकते हैं। 'चिन्ता', इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय, आँगन के पार द्वार, कितनी नावों में कितनी बार, सागर मुद्रा और क्योंकि मैं उसे जानता हूँ आदि काव्य-ग्रन्थों में अज्ञेय की इसी सत्यान्वेषी वृत्ति को देखा जा सकता है।

अज्ञेय की काव्य-यात्रा की कहानी को स्पष्टत: तीन चरणों में रखा जा सकता है : 1. पहला चरण विद्रोह, निराशा और भावुकता का है। 2. दूसरा चरण मानवस्था और जिजीविषा का है जो सत्यान्वेषण से पुष्ट और प्रेरित है। इस चरण में कवि जीवन-सत्य पाने के लिए शक्ति-संचय करता है। 3. तीसरा

चरण आत्मदान में सार्थकता' पाने का प्रयास है। पहले चरण की प्रतिनिधि रचनाएँ चिन्ता और 'इत्यलम' हैं। दूसरे को 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी' और 'इन्द्रधनु रौंदे हुए में' तथा तीसरे चरण में 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आँगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'सागर मुद्रा' और 'क्योंकि में उसे जानता हूँ।' इस तीसरे चरण के अन्तिम चरण के अन्तिम संग्रहों में कवि परिवेश के दबावों तनावों और खींचों-मरोड़ों को भी अनुभव तो करता है किन्तु उन सबके ऊपर मानवास्था का अवलेप चढ़ाकर। यही कारण है कि अज्ञेय की खोज अन्ततः मानवास्था से मिलकर आत्मदान में ही सार्थकता पा सकी है। आत्मदान और अन्वेषण की प्रक्रिया को कुछ कविताओं में अधिक स्पष्ट पाकर ही कुछ समीक्षक उन्हें रहस्यवादी या रहस्यवादी भी कहते हैं जो कवि के साथ, उसकी चेतना के साथ तो अन्याय है ही अपनी अज्ञता का प्रदर्शन भी। जो जीवन सत्य का अन्वेषक हो; बाहर-भीतर दोनों ओर देखता हो; मानवीय आस्था का कायल हो और जिसमें गहरी जिजीविषा हो वह रहस्यवादी कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं जिसने 'सरस्वती पुत्र' की रचना की हो; असाध्यवीणा को साधा हो, 'बना दे चितेरे' जैसा निवेदन किया हो और अन्तःसलिला को महत्व दिया हो उसे अनदेखा करके कवि को रहस्यवाद से जोड़ना मनमाना थोपना भले ही हो; कविता का सही मूल्यांकन नहीं।

भग्नदूत :

अज्ञेय की काव्य-कृतियाँ उनके सतत विकास और अन्वेषण के आयाम प्रस्तुत करती हैं। उनमें छायावादी कल्पना का वैभव है, प्रगतिशील चिन्तना का सस्पर्श है और प्रयोगशील दृष्टि का प्रसार है। अज्ञेय की प्रारंभिक कविताएँ छायावादी रोमानियत और संस्कारशीलता से ओत-प्रोत हैं। उनमें परम्परा को ग्रहण करके चलने का भाव है तथा इनमें अज्ञेय की पहचान के बिम्ब साफ नहीं है। 'चिन्ता', 'भग्नदूत' और 'इत्यलम्' की कविताओं में अज्ञेय छायावादी संस्कारों और पारम्परिक भाव-भूमि के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते नजर आते हैं। नये भाव और शिल्प को व्यक्त करने वाली कविताएँ बहुत ही कम है। परम्परा और नवीनता के मध्य का संघर्षी स्वर भी कुछेक रचनाओं में संकेतित हैं। लगता है कवि के भीतर ही भीतर कुछ खुरच रहा है। 'भग्नदूत' सन् 1933 की सर्जना है। यह शीर्षक कवि की निराश और उदासीन मनःस्थिति का द्योतक है। आगे चलकर जब 'इत्यलम्' प्रकाशित हुआ तो उसके प्रथम खण्ड के रूप में उसे स्थान मिला किन्तु कुछ चुनी हुई खास कविताओं के साथ।

'भग्नदूत' में किशोर वय की अभिलाषाएँ अपने सिमटे पंखों को फैलाकर प्रणयाकाश में उड़ने को आतुर दिखलाई देती हैं। 'दृष्टिपथ से जाते हो तुम', 'तेरा प्रस्थान', 'पूछ लूँ मैं नाम तेरा', 'असीम प्रणय की तृष्णा' और 'कहो कैसे मन को

समझा लूँ' आदि इसी भाव की व्यंजक रचनाएँ हैं। ये वे कविताएँ हैं जिनमें किशोरावस्था के प्रेम; तज्जनित निराश-हताश मानस और प्रिय उच्छ्वासों का शब्दांकन मात्र है कवि के भग्न हृदय की अनुभूतियों का निरूपण है। फिर भी कवि पूरी तरह न तो टूटा है और न टूटने की कामना से ही युक्त है। संघर्ष प्रिय होने के कारण उसे पीड़ा से मोह भी है और आशा भी है कि वह एक न एक दिन अखिल विश्व की पीड़ा को संचित करके किसी नये अर्थ को पा लेगा। इस संग्रह की कुछ कविताओं में आत्म परिचय का भाव है तो कुछ में कर्म और शृंगार के भावों का द्वन्द्व अरेखित हुआ है। 'दो माँझी' गीत इसी प्रकार का है। कर्म-भावना कवि को अंधकार से पार जाने की प्रेरणा देती है तो शृंगार-लतिकाओं का मादक स्पंदन उसे कुछ देर वहीं रोके रखना चाहता है। 'नूपुर की झंकार' कवि के पाँवों में बेड़ी डाल देती है। उस पार जाना पीड़क स्थिति का दिग्दर्शन करता है। कारण; वहाँ पागल सी जलधार है और हैं अंधकार में जलती चिताओं की लपटें। इस तरह भग्नदूत की जमीन प्रणय, वेदना और निराशा की जमीन है, किन्तु कवि पीड़ा को परिशोधनकारी मानता हुआ विश्वास की लौ तले ही जीना चाहता है। मेरी राय में आलोच्य संग्रह की कविताओं को नापने के लिए छायावादी पैमाना ही ठीक लगता है। कारण; यहाँ व्यक्तिवाद, अतृप्त प्रेम, निराशा और और वेदना, करुणा और अवसाद का स्वर ही प्रमुख बनकर आया है।

चिन्ता :

'चिन्ता' सन् 1942 की सृष्टि है। इसमें कवि ने नर-नारी के सम्बन्धों पर अपनी मौलिक दृष्टि से विचार किया है। प्रकृति और नारी के चित्रण में कवि का आदर्शवादी सौन्दर्यबोध यथार्थ के धरातल पर उतरने को व्यग्र दिखलाई देता है। इस व्यग्रता को 'चिन्ता' में देखा जा सकता है। 'चिन्ता' में नारी और पुरुष के पारस्परिक संबंधों की समस्या ही विवेचित और विश्लेषित हुई है। इसमें अज्ञेय ने स्त्री और पुरुष के गतिशील या कहें कि गत्वर संबंधों को अपनी स्वीकृति प्रदान की है। वे पुरुष और स्त्री के संबंधों को मात्र सामाजिक संबंधों की भूमिका पर ही स्वीकार नहीं करते हैं, अपितु वे उन्हें चिरंतन पुरुष और चिरंतन नारी के सम्बन्धों के रूप में भी लेते हैं। वस्तुतः 'चिन्ता' का मूल प्रतिपाद्य स्त्री और पुरुष के आकर्षण-विकर्षण या इनसे उत्पन्न द्वन्द्वों को वाणी देना है। इस पर 'वारेन्स' के विचारों की स्पष्ट छाया दिखलाई देती है।

'चिन्ता' कृति को 'विश्वप्रिया' और 'एकायन' शीर्षकों से दो भागों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है। 'विश्वप्रिया' में पुरुष का और 'एकायन' में नारी का दृष्टिकोण निहित है। इस दृष्टि भंगिमा का आधार मानवीय प्रेम है जिसके उद्भव, विकास, संघर्ष, अन्तःसंघर्ष, ह्रास, मंथन, पुनरुत्थान तथा चरम

संतुलन द्वारा इस समस्या पर प्रकाश डाला गया है। 'विश्वप्रिया' खण्ड में अज्ञेय द्वारा निरूपित पुरुष असाधारण है, किन्तु 'एकायन' की नारी का स्वरूप सहज और स्वाभाविक है। असाधारणता से युक्त पुरुष की अधीरता इस बात को लेकर है कि "कहाँ कौन है जिसको है मेरी परवाह, जिसके उर में मेरी कृतियाँ जगा सकें उत्साह यह वह पुरुष है जो मौलिकता में अकेला है, अहंकारी है, क्रांतिकारी और विद्रोही है और अपने व्यक्तित्व को नारी के सहारे विकसित और विनिर्मित करने का आकांक्षी है। जब इसमें बाधा आती है तो वह अहंकारमयी भाषा में यहाँ तक कह देता है :

"तोड दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान
कोषवत् सिमटी रहे यह चाहती नारी
खोल देने, लूटने का पुरुष अधिकारी

❀ ❀ ❀

दूर रहने की हृदय में ठानती क्या हो
मत हँसो नारी, मुझे अपना वशीकृत जान
तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान ।।"

'चिन्ता' में नारी का जो स्वरूप चित्रित है वह कल्पनामयी, वायवी और श्रद्धामयी, नारी का रूप न होकर वासनात्मक और मांसल नारी का रूप है। उसमें यथार्थ है और यह यथार्थ कवि की नवीन चिन्तना का परिचायक है। 'चिन्ता' में आकर (इस भूमिका पर) अज्ञेय का कवि छायावादी नहीं लगता है। वह जिस स्तर पर खड़ा है वह मनोवैज्ञानिक धरातल है और है सौन्दर्यबोध के नए आयामों का अन्वेषण व ग्रहण। 'एकायन' खण्ड में नारी ने अपना जो स्वरूप निवेदित किया है, वह मात्र रूप का पर्याय न होकर उत्ताप व दीप्ति से भी ओत-प्रोत है। यदि उसमें कोमलता और विनम्रता है भी तो वह इसलिए है कि वह प्रणयिनी भी है। यह नारी मात्र गरिमामयी नहीं है; वह तो 'ब्राउनिंग' की तरह यह कहती है।

ईश्वर बनकर मन्त्र शक्ति से छू दे मेरा भाल
मात्र पुरुष रह बाँध भुजों में मनहित कर डाल ।।

यही स्वीकारोक्तिमूलक इच्छा 'ब्राउनिंग' की इन पंक्तियों में अभिव्यंजित है :

"Be a God and hold me
With a Charm !
Be a man and fold me
With thine arm !!

(A Woman's Last Word)

इत्यलम् :

'इत्यलम्' अज्ञेय की प्रारम्भिक काव्य-यात्रा का वह तृतीय पुष्प है जो सन् 1946 में खिला और अपनी नयी सुषमा के साथ हिन्दी जगत में अपनी गंध वितरित करने लगा। 'इत्यलम्' जिस अर्थ में इत्यलम् है वह यही है कि अब तक जो छायावादी सौन्दर्य बोध के मानस में प्रतिविम्ब था, वह अपनी उम्र पूरी कर चुका है और उसकी अभिव्यंजना-भाँगिमाएँ फीकी और अनुपयुक्त सिद्ध हो गई हैं। यहाँ वह नई जमीन पर खड़ा है और अब तक की भाव और शिल्प विषयक मान्यताएँ उसके लिए 'इत्यलम्' हो गई है। अब तो वह अभिव्यक्ति के नये माध्यमों से जूझ रहा है। 'इत्यलम्' प्रयोगवाद की शुरुआत का सूचक है। इसमें पाँच खण्ड हैं—भग्नदूत, बंदी स्वप्न, हिय-हारिल, वंचना के दुर्ग, मिट्टी की ईहा। 'भग्नदूत' की चर्चा की जा चुकी है। 'बंदी स्वप्न' में कवि की चेतना का हाहाकार शब्दों की शृंखला में कैद होकर आया है। वह रोता है, किन्तु पराजित होकर नहीं; अपितु अपनी कोलाहलमयी वाणी को दूसरो के कर्ण-रंध्रों में प्रविष्ट कराने के लिये। 'इत्यलम्' के 'बन्दी स्वप्न' खण्ड में अज्ञेय की प्रगतिशील चेतना मुखरित है। वे शोषितों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं, विद्रोह और आक्रोश की वाणी उन्हें सुनाते हैं जो शोषक हैं। 'घृणा का गान' में यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'अखड ज्योति' और 'रक्तस्नात वह मेरा साथी' में कवि की सामाजिक अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति पा सकी हैं। 'कीर की पुकार' में अज्ञेय पहली बार नई कविता के निकट आने की कोशिश करते है। 'बंधुत्व' में अज्ञेय ने एक दलित व्यक्ति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया है। इस प्रकार 'बंदी स्वप्न' का सर्जक प्रगत्युन्मुखी चेतना का कवि है।

'इत्यलम्' के हिय हारिल' खण्ड में अज्ञेय की सौन्दर्यानुभूति शब्दबद्ध हुई है। 'हिय हारिल' प्रणयानुभूति का प्रतीक है। इस खण्ड की 'अन्तिम आलोक', तन्द्रा में अनुभूति', 'अतीत की पुकार', 'मै तुम्हारे ध्यान में हूँ', 'प्राप्ति', 'ताजमहल की छाया में' और 'प्राण तुम्हारी पदरज फूली' जैसी कविताओं में प्रेमानुभूतियाँ अभिव्यंजित हैं। 'नाम तेरा' कविता में कवि ने प्रतिपादित किया है कि विरह की पीड़ा के बिना प्रेम जिन्दा नहीं रह सकता है। 'तन्द्रा में अनुभूति' शीर्षक से रचित कविता में कवि प्रिया से सम्बद्ध विविध भावों—मनोभावों और मिलन स्वप्नों का जाल बुनता दिखलाई देता है तो 'अतीत की पुकार' में दो कीर अपने कंठ से ध्वनि निकालते हुए आकाश में बिजली की कोंध की तरह चले जाते हैं और कवि अनुभव करता है :

> प्राण ! तुम चली गईं अत्यन्त
> कारुणिक, मिथ्या है यह मोह—
> देखकर वे दो उड़ते कीर—
> कर उठा अन्तस्तल विद्रोह।

'मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ' कविता में कवि अपनी प्रिया के ध्यान में डूबा हुआ लगता है। उसे प्रेम वेदनानुभूति का अनिवार्य अंग लगता है। प्राकृतिक सौंदर्य की अनगिनत आकर्षक छवियाँ भी 'हिय-हारल' की कविताओं की माला में देखी-पढ़ी जा सकती हैं। 'सूर्यास्त' और 'अन्तिम आलोक' ऐसी ही प्रकृति बोध वलयित कविताएँ हैं जो कवि की सौन्दर्यानुभूति व प्रेमानुभूति को स्पष्ट करती है।

'वंचना के दुर्ग' शीर्षक के अन्तर्गत 22 कविताओं ने जगह पाई है। ये कविताएँ छायावादी और प्रगतिवादी चेतना से भिन्न स्तर पर खड़ी हैं और कवि की प्रयोगशील चेतना को रूपायित करती हुई बौद्धिकता के रंगों में रंग हुई हैं। उनमें न तो छायावाद का क्षयी रोमांस है और न अवसाद के घनीभूत बिम्ब ही हैं। कवि का स्वतन्त्र और स्वछंदचेता मन 'चिन्ता' की मनोभूमि से भी आगे चला गया है। उसने कहा है :

वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज नंगी 'औ' समर्पित।

'सावन मेघ' कविता का प्रारम्भ ही "घिर गया नभ; उमड़ आये मेघ काले; भूमि के कंपित उरोजों पर झुका सा विशद, श्वासाहत चिरातुर छा गया इन्द्र का नील वक्ष" से हुआ है। इसी तरह कवि का क्रुद्ध वीर्य आततायी का आह्वान बन जाता है। इस तरह की कविताओं में कवि का शब्द-शब्द दहकता और मन के विद्रोह व आक्रोश को शब्दों में बाँधता प्रतीत होता है। ये संदर्भ उस चेतना को झुठलाते प्रतीत होते हैं जिनमें स्निग्ध और मादक अनुभूतियों के शिशु किलकते थे। कुछेक प्रकृति कविताएँ भी यहाँ हैं। 'उषःकाल की भव्यशांति' में प्रकृति-छवियों का अंकन प्रयोगवादी भूमिका पर हुआ है। 'शिशिर की राका निशा' का सौन्दर्य भी इसी चश्मे से देखा जा सकता है। यथार्थ का स्वर घनीभूत होता गया है और कवि भदेस में सौन्दर्य-कण तलाशता हुआ 'कंकरीट के पोर्च' पर अपनी आँखें टिका देता है जहाँ स्वप्निल सौन्दर्य यथार्थ के ताप से झुलस गया है; किन्तु 'भादों की उमस' कविता में प्रकृति का चित्रण सशक्त और प्रभावी बन पड़ा है : सहम कर थम से गये हैं बोल बुलबुल के, मुग्ध अनझिप रह गये हैं नेत्र पाटल के, उमस में वेकल अचल हैं पात चलदल के।" यहाँ समग्र परिवेश कुछ ऐसा हो गया है कि लगता है मानो पल के व्यास में नियति बँध हो गई हो। 'आशीः' शीर्षक कविता में प्रकृति की अभिगम छवियाँ भी हैं और कांचनार के फूल प्रणय के प्रतीक बनकर भी आये हैं। 'कृतबोध' भी एक ऐसी ही कविता है। वस्तुतः ये दोनों कविताएँ कवि के भावी प्रकृति-बोध की नियमिका प्रतीत होती हैं। 'कृतबोध' में भूमि-पट और मानस-पट परस्पर एकाकार होते गये हैं। जैसे ही बदली फटती है वैसे ही दो पहाड़ियों के मध्य में हास्य की तरह लहराता शुभ्र प्रकाश भर जाता है। इस दृश्य-विधान में कवि की चेतना भी मिली हुई है :

लाँघ कर मानस का शून्य तम
निःसृत हुआ है द्युत
तेरे प्रति मेरे कृतबोध का प्रकाश—
चेतना की मेखला-सी
जीवनानुभूतियों की पहाड़ियों के बीच मेरी
विनत कृतज्ञता
फैल गयी खुले आकाश-सी।

'इत्यलम्' का अन्तिम खण्ड 'मिट्टी की ईहा' है जिसमें 23 कविताएँ हैं—अधिकांश छोटी; किन्तु पर्याप्त व्यंजक। इस खण्ड में कवि की चेतना शीर्षक के अनुरूप ही गूढ़ भाव ग्रहण कर लेती है। "कुण्ठा और घुटन यहाँ भी कवि के व्यक्तित्व का अंग है तथा अनास्था और अविश्वास भी, परन्तु वह अपनी बात स्पष्ट न कहकर सूत्रों में व्यक्त करता है।"[1] 'मिट्टी की ईहा' में प्रतिपादित है कि मिट्टी निरीह नहीं है क्योंकि उसी से तो वसंत ऋतु में नया अंकुर फूटता है। अतः इसी नियम के आधार पर वे मनुष्य भी निरीह नहीं हैं जो मिट्टी समझ कर रौंदे जाते हैं : कितना तुच्छ है तुम्हारा अभिमान/जो कि मिट्टी नहीं हो—जो कि मिट्टी को रौंदते हो/ जो कि ईहा को रौंदते हो क्योंकि मिट्टी ही ईहा है/"

इस खण्ड में कुछ प्रेमभाव की व्यंजक कविताएँ भी हैं। 'बाहु मेरे रुके रहे', 'पानी बरसा', 'प्रिया के हित गीत' और 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' आदि प्रेमोद्गारों से युक्त कविताएँ हैं। इनमें प्रेमी-प्रिया की अनुभूतियों के क्षणों का अंकन है; प्रिया की प्रकृति में व्याप्ति चित्रित है और प्रेमभाव के कारण उत्पन्न शीतलता; स्निग्धता और सरलता का वर्णन है। कुछ कविताओं में लोक गीत शैली का प्रयोग भी हुआ है। 'जन्म दिवस' और 'समाधि लेख' कविताओं में कवि का जीवन-दर्शन निरुपित हुआ है। अज्ञेय अपने पिता के आभारी नहीं हैं जिन्होंने उन्हें पैदा किया है। उनका आभार अमुखर नारियों, धूल धूसरित शिशुओं, खगों, ओस-नमे फूलों, गंध चाँदनी से बसे कुहरे, शारदीय प्रात की पीली धूप और बरसात में बाजरे के खेतों को फलाँगते हिरनों के प्रति है। प्रकृति के साथ आत्मसाहचर्य करके ही अज्ञेय ने सब कुछ पाया है। उनके शब्द हैं :

"नत हूँ मैं,
सबके समक्ष बार-बार मैं विनीत-स्वर
ऋण स्वीकारी हूँ—
विनत हूँ

1. डॉ. गंगाप्रसाद विमल : अज्ञेय का रचना-संसार पृष्ठ 18

मैं मरूँगा सुखी
मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ाई हैं।"

कहने का तत्पर्य यही है कि 'इत्यलम्' के 'वचना के दुर्ग' और 'मिट्टी की ईहा' की कविताओं को प्रयोगवादी चश्मे से ही पढ़ा जा सकता है। "इनमें व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि है, जीवन के प्रति रागदीप्त बौद्धिक प्रतिक्रिया है मोहभंग की स्थिति है, भावात्मक आदर्शवाद के प्रति विमुखता है, यथार्थवाद के प्रति उन्मुखता है, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है, सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन के प्रति जागरुकता है, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा स्मरण-चित्रण की शैली के कारण अस्पष्टता एवं दुरुहता है और प्रकृति के प्रति अनासक्ति की दृष्टि है।"[1] असल में इत्यलम्' के इन आखिरी दो खण्डों में प्रयोगवाद का अपरिपक्व रूप लक्षित होता है। यहाँ से कवि छायावादी संस्कारों की जमीन तोड़कर जिस प्रयोगशीलता का वरण करता है; उसी का भावी सोपान 'हरी घास पर क्षणभर' में देखा जा सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से ये कविताएँ पूर्वापेक्षा काफी नई हैं। यहाँ अज्ञेय मोहभंग की स्थिति को पीछे छोड़ चुके हैं और आस्था व संकल्प के स्वरों से 'हरी घास पर क्षण भर' का चैतन्य बोध पाकर अपने व्यक्तित्व और कृतित्व का परिष्कार करते हैं।

हरी घास पर क्षण भर :

सन् 1949 में प्रकाशित यह संग्रह अज्ञेय की काव्य-यात्रा के नये मोड़ का सूचक है। यही वह संग्रह है जहाँ से अज्ञेय की पहचान नयी कविता के शलाका पुरुष के रूप में होने लगी थी। एक प्रकार से 'तारसप्तक' यदि नये प्रयोगों का घोषणा पत्र था तो हरी घास पर क्षण भर' नयी कविता का प्रस्थान बिन्दु है। इसमें भाव-बोध और शैल्पिक प्रयोगों की नवीनता के साथ-साथ कवि की अनुभूतिगत ईमानदारी को भी देखा जा सकता है। 'हरी घास पर क्षण भर' का कवि प्रकृति बोध से पूर्वापेक्षा अधिक गहरे जुड़ा हुआ है। व्यंग्य-विद्रूप की झलक जो 'इत्यलम्' के उत्तरार्द्ध में मिलती है; यहाँ भी है। प्रकृति के प्रति संसिक्ति का भाव गहरा होकर कवि को आत्मान्वेषण की प्रकृति से जोड़ गया है। प्रेम, प्रकृति, आत्मान्वेषण और काव्य तत्व की व्याख्या इस संग्रह की कविताओं का प्रमुख प्रतिपाद्य है। प्रकृतिबोध को निरूपित करने वाली कविताएँ इस बात की गवाही देती हैं कि वे क्रमशः उससे जुड़ते हुए भी निर्लिप्त होते गये हैं। जहाँ तक प्रणयानुभूति का सम्बन्ध है; उसकी व्यंजना भी यहाँ स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक हैं। अनुभूति की गहराई के प्रति प्रामाणिक और ईमानदार होकर अज्ञेय हरीघास के सौन्दर्य में कुछ पलों के लिए विरम गये लगते हैं; किन्तु इसलिए नहीं कि उन्होंने अपना मन वहाँ रमा लिया है अपितु

1. डॉ. इन्द्रनाथ मदान : आधुनिक कविता का मूल्यांकन 357

इसलिए कि वे अब तक के अनुभूत का अवलोकन-पुनरावलोकन करके ही आगे बढ़ना चाहते हैं।

आलोच्य संग्रह में जो प्रकृतिपरक कविताएँ हैं, उनमें 'दूर्वाचल', 'सो रहा है झौंप' 'क्वार की बयार', 'शरद', 'कतकी पूनो' और 'पावस प्रात शिलङ्' प्रमुख हैं। 'दूर्वाचल' प्रकृति के प्रति मोह और उससे हुए मौन संभाषण को निरूपित करती हुई कवि-चेतना के निजी वैशिष्ट्य को सूचित करती है। पर्वत प्रदेश के सौन्दर्य का बिम्ब प्रस्तुत करता हुआ कवि न केवल नये अप्रस्तुतों का प्रयोग करने में सफल हुआ है, वरन् अपने मनोभाव जनित सत्य को या कहें कि अपनी निजी अनुभूति को कागज पर कुछ इस ढंग से उतार सका है कि प्रकृति चैतन्य हो उठी है—कवि की कामना का प्रत्युत्तर दे सकी है :

पार्श्व-गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा
विहग-शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा पुनः आऊँगा ...
क्षितिज ने पलक-सी खोली
तमक कर दामिनी बोली—
अरे यायावर ! रहेगा याद ?

प्रकृति के प्रति इतनी गहरी संसिक्ति और फिर पुनः आने का संकल्पनिष्ठ भाव प्रकृति को भी यायावर कवि के प्रति अनुरागसिक्त कर गया है। मानव-चेतना और प्रकृति-चेतना का यह एकमेव भाव ही आगे की कविताओं में कवि को सत्यान्वेषी बना गया है। 'सो रहा है झौंप' कविता भी प्रकृति की मनोरम दृश्यावली का सम्मूर्तन करती है। यहाँ भी पूरा का पूरा प्रकृति संदर्भ चैतन्य होकर मन को बाँध लेता है :

सो रहा है झौंप अँधियाला
नदी की जाँघ पर :
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उझक कर
झाँक जाती है।

'कतकी पूनो' में भी प्रकृति की दृश्यावली का भावसिक्त बिम्ब है। 'शरद' कविता अपेक्षाकृत सामान्य ही है। इसमें प्राकृतिक आभा छंद की प्रदीर्घता के वृत्त में बँध नहीं सकी है। उसमें विवरणात्मकता अधिक है; संश्लिष्टि कम। हाँ, संश्लिष्टि

की दृष्टि से 'पावस् प्रात शिलङ्' प्रभावित करती है। यह एक फोटोग्राफ' है जिसमें प्राकृतिक दृश्यावली के साथ-साथ 'रहेगी बस एक मुट्ठी खाक्' कहकर उसे जीवन की नश्वरता से भी जोड़ दिया गया है।

प्रणयानुभूति को निरुपित करने वाली कविताओं में 'खुलती आँख का सपना', 'जब पपीहे ने पुकारा', सागर के किनारे', 'मुझे सब कुछ याद है', 'क्षमा की बेला', 'सपने मैंने भी देखे हैं', 'अकेली न जैयो राधे ...' और 'बधु है नदियाँ' आदि प्रमुख हैं। प्रकृति के बाद यदि किसी अनुभूति को अज्ञेय ने अधिक जगह दी है तो वह प्रणय-भाव ही है। इन कविताओं में से अधिकांश ऐसी हैं जिनमें विगत प्रणय की अनुभूतियों को ही कवि ने अपनी संवेदना प्रदान की है। कवि मानो यह प्रतिपादित करना चाहता है कि प्रेमानुभूति का क्षण मात्र अतीत की निधि या स्मृति मात्र नहीं है; वह वर्तमान में भी उसके साथ है और कवि की चेतना के गोलक में अहम जगह पाये हुए है। यही वह बिन्दु है जो आगे की कविताओं में उनकी प्रणयानुभूति को सूक्ष्म से सूक्ष्म और गहन से गहन एकांतिकता से जोड़ गया है। "इसलिए तुम प्यार लो मेरा कि वह तो है/प्यार है—निधि/नहीं है तो मैं नहीं हूं; किन्तु जो मिट गये उनका/प्यार ही तो/प्यार है!" लिखने वाले कवि की प्यार के प्रति भावना को 'सागर के किनारे' कविता में प्रकृति की पृष्ठभूमि के साथ और 'जब पपीहे ने पुकारा' में प्रकृति-साहचर्य के साथ देखा जा सकता है। 'पपीहे की पुकार' यहाँ कवि-मन को आन्दोलित कर गई है और उसकी अनुभूति का आवेग रुक नहीं सका है। अतः वह लिख गया है :

> जब पपीहे ने पुकारा
> मुझे दीखा—दो पंखुरियाँ
> भरीं लाल गुलाब की, तकती पियासी
> पिया—से ऊपर झुके उस फूल को
> ओंठ ज्यों ओठों तले।

'सपने मैंने भी देखे हैं' शीर्षक से लिखी गई कविता में संकेतित है कि प्रिय के अभाव में जीवन की मंजिल कहीं खो गई है; शेष रह गई है केवल गति : "गति से अलग नहीं पथ की यति कोई/अपने से बाहर जाने को छोड़ नहीं आवास दूसरा/ भीतर-भले स्वयं सांई बसते हों/" यह वह कविता है जो प्रणयजनित आवेश; स्वप्निल मुद्रा और आदर्श को यथार्थ की कंकरीली जमीन पर लाकर जीवन की वास्तविकताओं से जोड़ देती हैं। प्रेम की नश्वरता को व्यंग्य की भूमिका पर प्रस्तुत करते हुए कवि ने लिखा है :

> क्रौंच बैठा हो कभी बल्मीक पर
> तो मत समझ

वह अनुष्टुप बाँचता है संगिनी के स्मरण के—
जान ले वह दीमकों की टोह में है।

अनुराग लीन क्रौंच-युग्म में से एक का वध होने पर वाल्मीकि ने दूसरे के करुणार्द्र भावों को वेदना की स्याही से प्रथम अनुष्टुप का रूप दिया था। प्रेम का यही प्रतीक अब अज्ञेय को प्रेम के छंद में बोलता नजर नहीं आता है। 'जानले वह दीमकों की टोह में है' कहकर तभी तो यहाँ प्रणय के स्वप्न और यथार्थ के विरोध की ऐसी अभिव्यक्ति की गई है।

आलोच्य संग्रह में कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें अज्ञेय ने नये कवियों; नये काव्य और नये काव्य के शिल्प के सम्बन्ध में अपनी विचारणा प्रस्तुत की है। कवि हुआ क्या फिर, नयी व्यजना, कलगी बाजरे की 'छंद है यह फूल' और 'बने मंजूष यह अंतस्' शीर्षकों से लिखित कविताएँ इसी श्रेणी में आती हैं। 'कवि हुआ क्या फिर' में उन कवियों पर व्यंग्य है जो मात्र भावोद्‌गार और करुण-विलाप को ही कविता समझते हैं। 'भावनाएँ खाद हैं केवल/जरा इनको दबा रखो/जरा सा और पकने दो/ताने और तचने दो/" क्योंकि ऐसा होने के बाद ही उनसे जो अभिव्यक्त होगा वह लोक कल्याण के अंकुरों के रूप में फलित हो सकेगा। 'कलगी बाजरे की' अज्ञेय की प्रसिद्ध और आकर्षक रचना है। इसमें कवि ने नये उपमानों को औचित्य-पूर्ण और कवि—अन्तस् में छिपी ईमानदार अनुभूति की सार्थक व्यजना का सशक्त माध्यम स्वीकार किया है। पुराने उपमानों की निष्प्राणता और बहुप्रयुक्तता के कारण आये बासीपन को संकेतित करता हुआ कवि कहता है :

नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही—
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी वासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

इस कविता में जहाँ पुराने उपमानों और प्रतीकों की व्यर्थता निर्दिष्ट है, वहीं नये शिल्प की सार्थकता भी। अज्ञेय ने अपनी प्रिया को 'बिछली घास' और कलगी बाजरे की कहकर न केवल उपमानगत नव्यता की सृष्टि की है; अपितु नारी-व्यक्तित्व की स्निग्धता व स्वच्छंदता भी रेखांकित की है। 'बिछली घास' का खुलापन जीवन की अनिवार्यता भी है और अनुकूलता भी। तभी तो ये उपमान प्रेम, सच्चाई और सौन्दर्य के बोध को निरूपित करने में सक्षम प्रतीत होते हैं। "कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है" पंक्ति में जहाँ किसी भी शैल्पिक प्रयोग के बार-बार आवृत होने से उत्पन्न बासीपन की ओर संकेत है, वहीं कवि ने 'बासन' और 'मुलम्मा'

जैसे शब्दों को प्रतीकता भी प्रदान की है। कवि का अभिप्रेत भाव यह है कि प्रयोग की सिल पर शब्द रूपी बर्तन के बार-बार घिसे जाने के कारण अर्थ का मुलम्मा—अर्थ चमत्कार प्रायः समाप्त हो जाता है। अर्थ चमत्कार की समाप्ति शब्द की मौत है। मेरे इस कथन को अज्ञेय के इस कथन की गवाही भी प्राप्त है जिसमें कहा गया है: "कवि के समक्ष हर समय चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है। जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है।"[1]

'छंद है यह फूल' में कवि ने यह विचारणा प्रस्तुत की है कि सब कहीं एक ही नियम का विस्तार—प्रसार है; सभी में एक ही शक्ति संचरित है। उसी एक शक्ति या नियम का सौन्दर्य फूल में समाहित है और उसकी ही शक्ति पैरों तले बिछी घास में आकर सिमट गई है। ऐसी स्थिति में फूल छंद हैं तो पत्तियाँ अलंकार हैं। काव्य-छंद में भी इसी प्रकार एक सनातन और व्यापक भाव-भूमिका है और एक निश्चित रूप में इसी भाव की व्यंजना काव्य है। 'बने मंजूष यह अंतस्' में कवि के आदर्शवादी स्वर की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। वह अपने अंतस् को ऐसी मंजूषा बनाना चाहता है जिसमें समर्पण की आग भी रहे और करुणा प्रेरित लोकोन्मुखी भावों का संग्रह भी। 'नयी व्यंजना' में शब्दाभिव्यक्ति की अपेक्षा 'मौन' को ही वरेण्य बताया गया है। 'मौन' के महत्व का यह स्वीकार ही आगे की रचनाओं में अधिक विस्तार लेकर आया है। सामाजिक, सांस्कृतिक और जीवन के विविध पक्षों से संपर्कित होने के कारण कवि की अनुभूतियाँ सही अभिव्यक्ति के माध्यमों की तलाश में केवल मौन को ही वरेण्य मानती हैं। संसृति का प्रवाह निरंतरित है; संस्कृति अदल-बदल रही है और सभ्यता पुराने ढूहों को तोड़कर आगे-पीछे, दाँयें-बायें बढ रही है, तब अर्थाकुल मौन ही नये कवि की शक्ति हो सकता है।

अब इस संग्रह की दो महत्वपूर्ण कविताएँ रह जाती हैं—'हरी घास पर क्षण भर' और 'नदी के द्वीप'। 'हरी घास पर क्षण भर' एक प्रतीकात्मक कविता है। इसमें प्रकृति की भूमिका पर प्रणयानुभूति की व्यंजना हुई है। 'हरी घास' स्वच्छंद और मुक्त जीवन की संकेतिका है और सभ्य जीवन की कृत्रिमता व रिक्तता का विरोध करती है। सहज, उन्मुक्त और निश्छल जीवन के हामी अज्ञेय ने इस कविता के द्वारा अपनी जीवन विषयक चिन्तना को भी प्रस्तुत किया है कवि का संकेत इस ओर है कि आधुनिक जीवन में आई कृत्रिमता; व्यस्तता और भौतिक सभ्यता ने शुद्ध प्रणय की अनुभूतियों के लिए एक भी खाली कोना नहीं छोड़ा है। नतीजा यह है कि आज प्रेम प्रेम नहीं रह गया है। मानव के प्रेम-मार्ग में अनगिनत बाधाएँ हैं; अनेक अवरोध हैं पहली बाधा के रूप में कवि ने नगर की बैचेन बुदकती

1. अज्ञेय : दूसरा सप्तक की भूमिका से।

गड्ड-मड्ड अकुलाहट का नाम लिया है; दूसरी बाधा नगर के माली और चौकीदारों की है। नगर जीवन का प्रतीक है और माली-चौकीदार मानवीय संस्कृति और सामाजिक बंधनों के प्रतीक हैं। तीसरी बाधा सभ्य-शिष्ट जीवन से जुड़ी हुई है जिसके कारण दो स्नेही पास-पास सटकर बैठने से भी हिचकते हैं। वे चाहते तो ये हैं कि 'तनिक और सटकर कि हमारे बीच स्नेह-भर का व्यवधान रहे, किन्तु अनेक कारणों से वे अपनी इतनी सी इच्छा भी पूरी नहीं कर पाते हैं। इन बाधाओं के साथ ही कवि ने अनेक आरोपों का जिक्र भी किया है। नागरिक जीवन द्वारा लगाये गये आरोपों से भी वह क्षुब्ध है क्योंकि प्रायः कहा जाता है कि प्रेम करने वाले पलायनी वृत्ति के शिकार होते हैं; प्रेम के क्षणों में प्रकृति के परिवेश में तल्लीन होना जनवादी युग में स्खलन है। कुछ प्रगतिशील चिन्तकों ने तो यह भी कहा है कि प्रेमानुभूतियों-स्मृतियों का पुनरावलोकन प्रतिक्रियावादी दृष्टि हैं - पाप है। उधर पुराणपंथियों की धारणा के अनुसार 'निरखना दबी वासना की विकृति है' और प्रिया के मानस में भी सस्कार जनित हिचक है। इस तरह जिस समाज में इतने आरोपों और अवरोधों की दीवारें हों वहाँ मुक्त जीवन का सहज विश्वासी कवि तनाव न सहे तो क्या करे ? इसी तनाव से मुक्ति पाने का अभिलाषी कवि 'हरी घास पर क्षण भर' एकांत का सुख भोगना चाहता है—उन्मुक्त प्रेम की परिभाषा गढ़ना चाहता है। उसने साफ जुबान में कहा है :

> चाहे बोलो
> चाहे धीरे-धीरे बोलो
> स्वगत गुनगुनाओ
> चाहे चुप रह जाओ—
> हो प्रकृतिस्थ तनोमत
> कटी-छँटी उस बाढ़ सरीखी—
> नमो खुल खिलो, सहज मिलो
> अन्तःस्मित, अन्तःसंयत,
> हरी घास सी।

कवि प्रकृति के अनेक रूपों का आस्वादन करता हुआ ऐसा अद्वैत चाहता है कि "क्षण भर हम न रहें/रहकर भी/सुने गूँज भीतर के सूने सन्नाटे में/किसी दूर सागर की लोललहर की/क्षण भर लय हो/मैं भी तुम भी/और न सिमटें सोच कि हमने/अपने से भी बड़ा किसी ऊपर को क्यों माना/" इसके बाद कवि उन प्रसंगों, घटनाओं और स्थलों को याद करना चाहता है जो उन दोनों की प्रेमिल अनुभूतियों के गवाह और साझीदार थे। अंततः कवि इन सभी स्थितियों से होता हुआ जिस मुक्ति की कामना करता है -जिस सीमाहीन खुलेपन को विस्तार देना चाहता है उसे उसने यों शब्दबद्ध किया है :

क्षितिरेखा के मसृण ध्वान्त में :
केवल बना रहे विस्तार—
हमारा बोध, मुक्ति का
सीमाहीन खुलेपन का।

असल में अज्ञेय ने "आज के जनसंकुलयुग में आधुनिक प्रेमी की विविध बाधाओं के संदर्भ में अपनी उन्मुक्त, बाधाहीन, खुले और स्वच्छंद प्रेम की इच्छा को अभिव्यक्ति देकर आधुनिक युग के प्रेम-सम्बन्धी तनावों का बड़ा ही कलात्मक चित्रण किया है।"[1] कवितांत तक पहुँच कर तो प्रणय की भूमिका पर रचित यह कविता नागरिक सभ्यता पर खीझ उतारती हुई इस व्यंग्य के साथ समाप्त होती है :

और रहे बैठे तो लोग कहेंगे
धुँधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने :
(जिसके खुले निमंत्रण के बल
जग ने सदा उसे रौंदा है
और वह नहीं बोली)
नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिनकी भाषा में
अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है—करुणा !

अज्ञेय की दृष्टि में सहज प्रेम का विकास ही व्यक्तित्व के स्वातंत्र्य का विकास है। मुक्ति के बोध की कामना—सीमाहीन खुलेपन की तलाश का यह बिन्दु ही नैसर्गिक प्रेम-भावना को विकसित कर सकता है। प्रेमानुभूतियों के सहारे की गई व्यक्तित्व की यह खोज ही व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया को सामने ले आती है जिसका सटीक अभिव्यंजन नदी के द्वीप' कविता में हुआ है। 'नदी के द्वीप' अज्ञेय की श्रेष्ठ कविताओं में से एक है। जीवन-सत्य की उद्घाटिका इस कविता में अज्ञेय ने व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता को रेखांकित किया है। उसकी धारणा है कि आज की दुनियाँ में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व है—हर लघुत्व की महत्ता है। कवि यह प्रतिपादित कर रहा है कि आज व्यक्ति मात्र समाज की इकाई नहीं है, अपितु समाज

1. चन्द्रकान्त वांदिवड़ेकर : अज्ञेय की कविता एक मूल्यांकन पृष्ठ 47

की विशिष्ट इकाई है। वह समाज से जुड़ कर भी अपनी अस्मिता लिये हुए है। वह समाज को देता भी है और उससे लेता भी है। इस देने और पाने में कोई भी बिन्दु ऐसा नहीं है जो उसकी व्यक्तिमत्ता को खण्डित करता हो। अज्ञेय का जोर ही इस बात पर है कि व्यक्ति नदी का द्वीप है उसकी धारा नहीं। धारा बनने का अर्थ ही यह है कि उसने अपने अस्तित्व को मिटा दिया है। ठीक भी है द्वीप बनें रहकर वह अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रख सकता है, किन्तु व्यक्तित्व की यह सुरक्षा-भावना भी ऐसी नहीं जिससे कि नदी के प्रति द्वीप के समर्पण में कोई कमी आती हो। नदी समष्टि चेतना है और द्वीप व्यष्टि चेतना है।

'नदी' (समष्टि) द्वीप (व्यक्ति) की निर्मात्री है। वह माँ है। अतः अनुपेक्षणीय है, किन्तु उसके प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति करते हुए भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा जा सकता है—"हम नदी के द्वीप हैं। हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।" 'धारा' समर्पण है जिसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह तो अपना स्वतंत्र अस्तित्व न समझकर समर्पिता ही है। इसी से कवि ने इस बात पर जोर दिया है कि व्यक्ति की स्थिति समष्टि की सरिता में एक द्वीप सी है, न कि धारा सी। कवि की यह दृष्टि सांप्रतिक युग की देन है। स्रोतस्विनी के प्रवाह में पड़कर व्यक्ति अपना पार्थक्य खो देता है और यह कवि को मंजूर नहीं है क्योंकि 'बहना रेत होना है।' 'रेत' अनस्तित्व या शून्य का या शुद्ध भौतिक अनुभूतियों का प्रतीक है। कूल' बाहरी आकार का अर्थ लिये हुए है। द्वीप का 'कूल' अर्थात् बाहरी आकार तो नदी के कारण अर्थात् व्यक्ति का बाहरी व्यक्तित्व तो समाज से ही निर्मित होता है। कविता में आया 'बृहद् भूखण्ड' आश्रयदाता का प्रतीकार्थ रखता है और 'सलिल' व्यक्ति की आन्तरिक चेतना का भाव लिए हुए है। चेतना का कलुषित हो जाना इस बात को सूचित करता है कि चेतना पर जमी कालुष्य की परतें उसे अनुपयोगी ही बनाती हैं। कवि ने व्यक्तिमत्ता को संकेतित करते हुए लिखा है:

> किन्तु हम हैं द्वीप।
> हम धारा नहीं हैं
> स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
> किन्तु हम बहते नहीं हैं क्योंकि बहना रेत होना है।
> हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
> पैर उखड़ेंगे, प्लवन होगा, ढहेंगे, सहेंगे।
> बह जायेंगे।"

इस कविता से यह भी संकेतित है कि कवि को स्थिरता काम्य नहीं है। किसी स्वैराचार या अत्याचार से यदि नदी उमड़ पड़े और कर्मनाशा, कीर्तिनाशा

या काल प्रवाहिनी भी बन जाये तो वह भी उसे (कवि को) स्वीकार है। 'नदी के द्वीप' में इसी से कवि ने लिखा है :

"तुम बढ़ो प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा
कीर्तिनाशा घोर काल प्रवाहिनी बन जाए
तो हमें स्वीकार है यह भी।"

कारण 'उसी में रेत होकर फिर से छनने-जमने और कहीं न कहीं पैर टेकने, खड़ा होने का विश्वास उसमें जगता है। यह आस्था की भूमि है जो मानव मात्र की आस्था से जुड़ी है। कुल मिलाकर यही कि 'हरी घास पर क्षण भर' अज्ञेय की काव्य-यात्रा का वह सोपान है जहाँ से कवि प्रेम, प्रकृति और दर्द से अपना गहरा रिश्ता कायम करता हुआ व्यक्तित्व के अन्वेषण में रत और मानव के प्रति अधिक आस्थावान व संकलनिष्ठ हो गया है। इन कविताओं में कवि व्यक्तित्व के अन्वेषण के साथ-साथ मानवीय संघर्षों और तनावों को भी उजागर करने में सफल हुआ है। इसमें मानवीय अनुभूतियों के खट्टे-मीठे और कसैले सभी तरह के स्वाद हैं और है व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता का अन्वेषण-सत्यान्वेषण।

बावरा अहेरी :

यह अज्ञेय की 1950 से 1953 तक की कविताओं का संग्रह है। 'हरी घास पर क्षण भर' में कवि प्रेम, प्रकृति और आत्मान्वेषण के अलग-अलग तटों का सैलानी था। हाँ; कभी गाहे-बगाहे वह प्रकृति को प्रेम के साथ जोड़ पाता था। यहाँ आकर पहली बार ये तीनों तट पास आ गये हैं प्रेम में प्रकृति ने सौन्दर्य भरा है और प्रकृति ने प्रेम में दर्द और आस्था का रंग उँड़ेला है। इन दोनों के मेल में ही आत्मान्वेषण का रास्ता भी खुद व खुद तैयार होता गया है। इस संग्रह की कविताओं के प्रमुख स्वर चार हैं—पहला स्वर आत्मा या आंतरिक अनुभूतियों से सम्बद्ध है; दूसरा प्रकृति से; तीसरा प्रेमानुभूतियों से और चौथा उन स्फुट कविताओं में है जिनमें जीवन की विविध स्थितियों के बिम्ब हैं। व्यंग्य और विद्रूप जो 'इत्यलम्' में तीखा; 'हरी घास पर क्षण भर' में अपेक्षाकृत कम था; वही यहाँ अनुपस्थित है। इस संग्रह की कविताओं में आत्मविश्वास का रंग गहरा है। 'वे अभाव से भाव की ओर, नकार से स्वीकार की ओर, अनास्था से आस्था की ओर चल अपने व्यक्तित्व को खोजने और पाने का परिचय देने लगती हैं।"[1]

'हरी घास पर क्षणभर' की प्रकृति यहाँ भी मौजूद है, 'प्रथम किरण'; 'वसंत गीत' ये मेघ साहसिक सैलानी, 'शरद साँझ के पंछी', 'तुम फिर आ गये

---

1. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : आलोचना और आलोचना पृष्ठ 88

क्वार', 'चाँदनी जीलो', 'साँझ दर्शन', 'उषा-दर्शन' और 'अंधड़' इस संग्रह की प्रमुख प्रकृति कविताएँ हैं। 'वसंत' और 'चाँदनी जीलो' में गहरा उल्लास है; उत्साह और आनन्द है तो 'साँझ दर्शन' और 'उषा दर्शन' में प्राकृतिक दृश्यों को तत्व निरूपण या सत्यान्वेषण का माध्यम बनाया गया है। 'प्रथम किरण' में सूर्य जन-जीवन का प्रतीकार्थ रखता है और 'वसंत गीत' में वसंत नये जीवनोन्मेष का रूप लेकर आया है। उसमें उल्लास भी है और उन्मुक्तता भी है। प्रकृति का यह उल्लसित यौवन मानव के प्राणों में भी एक मादक उत्तेजना का संचार करता प्रतीत होता है। कवि के शब्द हैं—

> चेत उठी ढीली देह में लहू की धार
> वेध गयी मानस को दूर की पुकार
> गूँज उठा दिग्दिगन्त
> चीन्ह के दुरन्त यह स्वर बार-बार—
> सुनो सखि! सुनो बंधु!
> प्यार में ही यौवन है यौवन में प्यार।

'चाँदनी जीलो' भी उल्लास और आनंदभाव से सिक्त रचना है। शारद चाँदनी के सौन्दर्य पर विमुग्ध कवि हृदय मात्र उसे देखकर ही तृप्त नहीं है; वह तो उसे पूरा अपने भीतर उतार लेना चाहता है—उसे जी लेना चाहता है। वह दर्शक और दृश्य के विभेद को स्वीकार नहीं करना चाहता है, वह तो उसे जीना चाहता है ताकि दृश्य और द्रष्टा एक व्यापक अनुभूति में लीन होकर अभिन्न हो जायें। इसी लिए वह लिखता है:

> शरद चाँदनी बरसी
> अँजुरी भरकर पीलो
> ऊँघ रहे हैं तारे
> सिहरी सरसी
> ओ प्रिय कुमुद ताकते
> अनझिप
> क्षण में
> तुम भी जी लो।

'ये मेघ साहसिक सैलानी' में उमड़ते-घुमडते बादलों; पवन-संचरण, वर्षा की अनवरत फुहारों, नदी की बाढ़, चातक की करुण-व्यथा और टिटहरी की पुकार आदि के साथ वर्षा ऋतु के सौन्दर्य का बिम्बांकन है। इसी क्रम में 'दो प्राणों का सलज्ज मर्मर' प्रयोग भी उल्लेखनीय है जिसमें प्रकृति-सौन्दर्य प्रेमानुभूति की भूमिका बन गया है। यहाँ प्रकृति के स्वरूप में कवि के व्यक्तिगत अनुभव का योग हो गया

है और मेघों की प्रतीकात्मकता के द्वारा जीवन की अनवरत गतिमानता तथा उसमें विगत की स्थिति भी आकर मिल गई है। 'तुम फिर आ गये क्वार' एक लघु और व्यंजक प्रकृति कविता है। इसकी आखिरी दो पंक्तियों "कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेह में—तुम फिर आ गये क्वार" में मनोगत भाव का सूक्ष्म और प्रभावी अंकन है। लघु कविताओं की शृंखला में यह एक मनोरम रचना है। न तो इसमें कोई बौद्धिक संकेत है और न कोई निष्कर्ष या आरोपित स्थिति ही। 'शरद की साँझ के पक्षी' में प्रकृति की वस्तु को आधार बनाकर अज्ञेय ने अपनी अन्त: कामना को शब्दबद्ध किया है। दृश्य और तत्प्रेरित कामना कवि को उसकी सीमाओं से अवगत कराती है। अपने मनोगत स्वप्न के विरुद्ध अपने सीमाबद्ध वास्तव का निरूपण ही इस कविता का केन्द्रीय भाव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'बावरा अहेरी' की प्रकृति न केवल कवि के मनोगत भावों की सात्रिका है अपितु उसकी प्रेमानुभूतियों की सलज्ज प्रतिमा भी। उसमें प्यार है; सौन्दर्य है; सपने हैं और है जीवनानुभूतियों की गहन संसिक्ति।

'बावरा अहेरी' की प्रणय-भाव वलयित कविताओं में 'जाता हूँ सोने', 'संध्या-तारा', 'वह नाम', 'सवेरे-सवेरे तुम्हारा नाम' और 'वहाँ रात' प्रमुख हैं। इनमें प्रिय की स्मृति; एकाकीपन, उदासी और प्रिय के लिए समर्पित होने की कामना अभिव्यक्त हुई है। 'संध्या तारा' में प्रेम की परिपूर्णता, उज्ज्वलता और स्थिर समर्पण की भावना अभिव्यक्त हुई है। 'ऊगा तारा' भी इसी भूमिका पर रचित कविता है। इसमें भी कवि की प्रेमजनित भावना आस्था के आलोक से तदाकार हो गई है। 'वह नाम' शीर्षक रचना में प्रेम नाम की मनोवृत्ति उदात्त भूमिका पर अभिलेखित है। प्रेम का नाम सब कहीं व्याप्त होकर,—पेड़ों के संगीत में, सरिता की लहर में और धारा के प्रपात विन्दुओं में; कवि मानस का स्थायी भाव बन गया है। यह वह प्रेम है जिसमें न तो उच्छ्वास हैं, न घुटन है और न दाहकता है। वह तो इन सबसे मुक्त होकर जीवनास्था का अनिवार्य सम्बल बन गया है। 'सबेरे सबेरे तुम्हारा नाम' भी इसी भूमिका पर पठनीय कविता है। इसमें भी प्रेम शक्ति और आस्था बनकर आया है। 'वेदना की कोर' में प्रेम जनित वेदना प्रेम की चिरन्तनता को अभिव्यक्त कर सकी है। जीवन की विविधताओं और संशय व सन्देह के सर्प-शिशुओं से दंशित होकर भी कवि का प्रेम पराजित नहीं है। कारण उसने चुपचाप धैर्य का घास-फूल खिला दिया है। यह प्रेम का उदात्तीकरण है। यही कारण है कि प्रणय भाव से सिक्त कविताओं में न तो कहीं कुंठा है; न संशय और न पराजय का भाव ही है। ये वे कविताएँ हैं जिनमें प्रिय के नाम की स्मृति भर मन में सिहरन पैदा कर देती है; समर्पण आत्मा को तल्लीनता प्रदान करता है और कवि-चेतना की सरिता सदैव प्रिय की ओर प्रवाहित होती रहती है। प्रणय भावना में संतुलन, उदात्तीकरण और परिष्कार की शुरुआत 'बावरा अहेरी' की इन्हीं कविताओं से

मानी जा सकती है। 'इत्यलम्' की वेदना और कुंठा 'हरी घास पर क्षण भर' में आनन्द और उल्लास से जुड़ी और वही यहाँ पुनः उल्लसित आवेग का दामन पकड़ कर सूक्ष्म चेतना के स्तरों की ओर बढ़ती हुई परिष्कृत और उदात्त भावों में पर्यवसित हो गई हैं।

स्मृतियों का जीवन में विशेष महत्त्व होता है। वे न केवल हमें भीतर से खींचती-मरोड़ती हैं; अपितु जीवन में गतिशील बने रहने की शक्ति भी देती हैं। फिर प्रेम जनित स्मृतियाँ तो हमें अपनी परिधि में कुछ ऐसे बाँध लेती हैं कि समग्र प्रणय-संदर्भ को पुनः जीने की कामना जग उठती है। 'वहाँ रात' कविता में स्मृति को प्रकृति का व्यंजक परिवेश दिया गया है। पत्थरों के कंगूरों पर छायी उपेक्षित रात्रि' का बिम्ब कवि के मानस में जो प्रेमजनित स्मृति जगा रहा है; वह मौन होकर पीने की चीज है :

पत्थरों के उन कंगूरों पर
अजानी गंध-सी
अब छा गयी होगी
उपेक्षित रात
विछलते डगर-सी सुनसान
सरिता पर
ठिठक कर सहम कर
थम गयी होगी बात।

स्मृति वह पाथेय है जिसके सहारे जीवन को पूरी आस्था के साथ जिया जा सकता है। यों स्मृतियाँ अतीत से सम्बन्धित होती हैं और कवि पीछे मुड़कर देखने का आदी है; किन्तु वह यह भी जानता है—

पर नकारों के सहारे कब चला जीवन ?
स्मरण को पाथेय बनने दो
कभी तो अनुभूति उमड़ेगी
प्लवन का सान्द्र भी घन बन।

'बावरा अहेरी' की कतिपय कविताओं में कवि की आंतरिक चेतना का अभिव्यंजन है; संकल्पी निष्ठा का स्पष्ट निदर्शन है और अनभिव्यक्त अनुभूतियों को वाणी देने की विवशता का शब्दांकन भी है। 'आज तुम शब्द न दो' में कवि के संकल्पनिष्ठ मानस का अभिव्यंजन है। अभी तक जो नहीं कहा जा सका था; उसे ही वह यहाँ कहने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है। कवि की अन्तरात्मा में सुलगती आग ही वह चेतना है जो हर पल आत्माभिव्यंजन के लिए छटपटा रही है और कवि है कि पूरी आस्था के साथ प्रतीक्षारत है :

आज नहीं कल सही
कल नहीं, युग-युग बाद ही
× × ×
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाए
यह आग मैं रहूँगा।

'जो कहा नहीं गया' कविता में भी इसी अनभिव्यक्त कथ्य को अभिव्यक्त करने की ललक दिखलाई देती है। 'नयी व्यंजना' जैसे कविताओं में इसी अनभिव्यक्त को कवि 'मौन' का नाम दे चुका है। कवि का अभिप्रेत यह है कि प्रकृति की विविध रूप-नामावलियों के सम्बन्ध में तो कवि कह चुका है; किन्तु सागर के किनारे आकर वह ठिठक गया है। इसमें वह बह नहीं सका है और इसी से तत्सम्बन्धित अनेक अनुभूतियाँ अकथित और अलिखित ही रह गयी हैं। वे शब्दातीत हैं—शब्दों की इतनी समाई कहाँ कि वे उस अनुभूत को कह सकें—

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है
शायद केवल इतना ही, जो दर्द है
वह बड़ा है मुझी से
सहा नहीं गया
तभी तो जो अभी और रहा, वह
कहा नहीं गया।

'यह दीप अकेला' शीर्षक से लिखित कविता में व्यक्तित्व पंक्ति को समर्पित दिखलाई देता है। व्यक्तित्व का पंक्ति के लिए किया गया यह समर्पण व्यक्ति वैशिष्ट्य का हनन नहीं है। 'नदी के द्वीप में द्वीप नदी के प्रति समर्पित था और यहाँ दीप' पंक्ति के लिए। 'दीप' एकाकी भी है; लघु भी है; किन्तु उसकी लघुता में भी आत्महीनता का कोई चिह्न नहीं है ठीक उसी तरह जैसे द्वीप नदी को अपनी माँ मानते हुए भी अपनी व्यक्तिमत्ता को रेखांकित करता है :

यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान अवज्ञा के धुँधुआते कड़ुवे तम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र
उल्लम्ब बाहु, यह चिर अखण्ड अपनापा
जिज्ञासु प्रबुद्ध सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो :
यह दीप अकेला स्नेह भरा

है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

'बावरा अहेरी' की एक दो कविताओं—'झरने के लिए' व 'विज्ञप्ति' में कवि का जीवन-दर्शन संकेतित है। 'झरने के लिए' में सभी कुछ को मरणधर्मा बतलाया गया है तो 'विज्ञप्ति' कविता में इस तथ्य को अभिव्यक्ति मिली है कि अनुभव सभी का अपेक्षित है; किन्तु जो चुक रहा है उसके प्रति आसक्ति व्यर्थ है। अनासक्ति का यह बोध इन पंक्तियों में है :

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो,
जीवन का रस लो, देह-मन-आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो

यह अनासक्ति बोध पहले की कविताओं में नहीं है। वहाँ तो कवि आसक्ति में ही उलझा रहा है। तटस्थता और निर्लिप्तता का यह बोध निरन्तर विकसित होता दिखाई देता है। आलोच्य संग्रह में व्यंग्यपरक कविताएँ भी हैं। आधुनिक जीवन की प्रतिबोधक पंक्तियाँ भी हैं और राष्ट्रीय संदर्भ भी हैं। 'हवाएँ चैत की' में महाजन के कार्य-कलापों पर व्यंग्य है तो 'शोषक भैया' में शोषकों पर। 'दफ्तर शाम' में आधुनिक जीवन की व्यस्तता और एकरसता का व्यंग्य चित्र है और 'हवाई यात्रा' यथार्थवादी वस्तु चित्रण की कविता है जो अन्त तक पहुँचते-पहुँचते व्यंग्यात्मक हो गई है। 'जनवरी छब्बीस' कविता भारत की आजादी के सन्दर्भ को प्रस्तुत करती है। कवि का अभिप्रेत यह है कि आजादी हमारी युगों की साधना का परिणाम है; किन्तु इसे पाकर हमने जो आलोक मंजूषा प्राप्त की है उसमें बंद स्वप्नों को रूप देना भी अभीष्ट है। इसीलिए इस मंजूषा को कवि सिद्धि न मानकर मार्ग में मिली एक उपलब्धि भर मानता है :

साधना रूकती नहीं
आलोक जैसे नहीं बँधता
यह सुघर मंजूष भी
झर गिरा सुन्दर फूल है पथ कूल का
मांग पथ की इसी से चुकती नहीं है।

अब 'बावरा अहेरी' शीर्षक कविता को लीजिए जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण हुआ है। यह मात्र उल्लेख्य कविता नहीं; कवि की चेतना को निरूपित करने वाली सशक्त कविता है। भाव और शिल्प के संतुलित साहचर्य से युक्त यह कविता आत्म परिष्कार और आत्मान्वेषण की भूमिका पर लिखी गई है। यही

आत्म परिष्कार व्यक्तित्व परिष्कार बनता हुआ आगे की रचनाओं में सत्यान्वेषण में बदल गया है। इसमें 'अहेरी' सूर्य है जो अपने आकर्षक जाल में सभी छोटे-बड़े पक्षियों को बाँध लेता। फर्क है तो केवल यही कि शिकारी का शिकार आत्मतृप्ति के लिए होता है और सूर्य का जाल सृष्टि वासियों को आलोकित व उपकृत करने के लिए होता है। सूर्य को 'बावरा' विशेषण से जोड़ दिया गया है—संभवतः इसलिए कि वह अपने भोलेपन से संसार को उपकृत करता है। कवि की कामना है कि जो सूर्य संसार को आलोकित करता है; वही चाहे तो मानव की आत्मा का परिष्कार भी कर सकता है। इसी भाव से भरकर कवि लिखता है :

> बावरे अहेरी रे
> कुछ भी नहीं अवध्य तुझे, सब आखेट है।
> एक बस मेरे मन-विवर में दुख की कलौंस को
> दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जाएगा ?

अज्ञेय का आत्मपरिष्कार आंतरिक परिष्कार है तभी तो वह व्यक्तित्व को माँजने की बात कहता है : ले मै खोल देता हूँ कपाट सारे/मेरे इस खंडर की शिरा शिरा छेद दे/आलोक की अनी से अपनी/गढ़ सारा ढाह कर ढूह कर दे/ विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा/मेरी आँखें आँज जा"/स्पष्ट है इस कविता में कवि आत्मपरिशोधन के सहारे ही उपलब्धियों के शिखर पर जाना चाहता है। उसकी यह चाहत उसके सत्यान्वेषी स्वभाव की ही एक कड़ी है। कविता की भाषा सरल और आत्मीय है। शब्द-शब्द जन-जीवन से कवि की आत्मीयता का गवाह बनकर आया है। 'अहेरी' का रूपक भी बोधगम्य ही है। उसमें क्लिष्टता के लिए कोई जगह नहीं हैं।

इन्द्रधनु को रौंदे हुए ये

सन् 1957 में सरस्वती प्रेस इलाहाबाद-बनारस से प्रकाशित इस संग्रह में अज्ञेय की 59 कविताओं को स्थान प्राप्त है। संकलित कविताएँ कवि की काव्य-यात्रा की नयी कड़ी के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं। 'इत्यलम्' से 'हरी घास पर क्षण भर' तक आकर अज्ञेय ने जो व्यक्तित्व खोजा था और जिस आस्था की लौ प्रज्जवलित की थी, वही 'बावरा अहेरी' के आलोक-पुंज से संस्पर्शित होकर यहाँ समाज के धरातल पर आ गई है। 'काव्य रूप की दृष्टि से देखा जाय तो प्रधानता मुक्तछंद की ही है। कुछ नए छंद भी सहज रूप में निर्मित हो गये हैं। कुछ कविताएँ ऐसी अवश्य हैं जिनमें गीतात्मकता है; अन्यथा प्रायः सर्वत्र मुक्तछंद के वाक्यों का गठन गद्यता लिए हुए है और कम से कम प्रमुख कविताओं में यह प्रवृत्ति अत्यधिक मुखर है।"[1]

1. डॉ० केदार शर्मा : अज्ञेय साहित्य : प्रयोग और मूल्यांकन पृ० 68

'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' की शुरूआत मांगलिक कामना से हुई है। कवि के मानस में भावों का अनन्त क्षीरोदधि है। उसके शब्द शेषनाग के हजार फनों की तरह उसके सामने फैले हैं किन्तु वह करुणा की दो बूँदे पाने को आतुर हैं। 'आत्म-निवेदन' इन कविताओं का पहला सशक्त स्वर है। इसी निवेदन में वे समर्पित होते गये हैं इस विराट 'यूनीवर्स' और उसमें साँस ले रहे मानव के प्रति। इस स्वर को 'एक दिन जब', 'जितना तुम्हारा सच है', 'सत्य तो बहुत मिले', 'मैं तुम्हारा प्रतिभू हूँ', 'यही एक अमरत्व है' और 'क्योंकि तुम हो' में सुना जा सकता है। 'जितना तुम्हारा सच है' में कवि अपने से दूसरे के प्रति सर्वस्व समर्पित करने की बात कहता है। नदी, नाले; खेत, कूप, झरने, मयूर, हिरन, घन, वन और पर्वत सभी इस सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं। इतना ही क्यों सागर, नदी, आकाश का सच भी इस सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं। इतना ही क्यों सागर, नदी, आकाश का सच भी समर्पण का सच है—मौन को ही अभिव्यक्ति का पर्याय मानने का सच है।

कवि ने लिखा है :

> कहा आकाश ने भी—नहीं, शब्द
> मत चाहो।
> तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है
> उसी को निवाहो।

जैसा कि कहा गया है अज्ञेय का स्वभाव यायावरी होने के कारण एक सत्यान्वेषी का स्वभाव है। वे अपनी अनुभूतियों के सहारे सत्यान्वेषण में रत हैं और उन सभी माध्यमों के प्रति विनत है जो सत्य की प्रतीति में सहायक हो सकते हैं। सत्य वही वास्तविक है जो अपने ही रक्त और आँसुओं के साथ अनुभूतियों की सीपी में पला है। बाकी तो सत्य का आभास मात्र है 'सत्य तो बहुत मिले' कविता में इसी सत्य को निरूपित किया गया है अनुभूतियों का सत्य ही सत्य होता है और अनुभूतियों का जन्मस्थान आत्मा है—मानवीय चेतना है। अनुभवों की दात्री यह सृष्टि है। यही कारण है कि अज्ञेय का कवि अपनी निजता को परता—बाह्य सामाजिकता से 'मैं वहाँ हूँ' कविता के माध्यम से जोड़ता प्रतीत होता है। यहीं से मानव की उपस्थिति और उसके बंधुत्व की भूमिका निर्मित होती है।

'बावरा अहेरी' में कवि जीवन की कुण्ठा व आंतरिक जीवन के दमित अंगों से संतुलन स्थापित कर सहजता की ओर अग्रसर हुआ था और एक आस्था की तलाश में था। "कहाँ गया वह ज्वार हमारा जीवन वह हिल्लोलित सागर कैसे कहाँ गया ? लो मुट्ठी भर/रेत उठाओ : उसे अँगुलियों में से/बह जाने दो/बस यों इस यों में ही हैं 'सब जिज्ञासाओं के उत्तर/फिर भी जीवन का कौतूहल है अदम्य/जीवन की आशा नहीं छोड़ सकती अन्वेषण/" जैसी पंक्तियों से लगता है कि कवि जीवन

के हिल्लोलित सागर से हटकर एक आस्थामूलक दिशा में खोज के पथ पर बढ़ रहा है। अनुभूति के क्षणों के प्रति अपने को दे देने वाला कलाकार जीवन को उसकी समग्रता में देख रहा है और यही कारण है कि वह सब कुछ सहते हुए भी आस्था और शांति की तलाश के लिए लालायित है। यही आस्था 'इन्द्रधनु रौंदे हुये ये' में है "मैं वहां हूं" कविता में अज्ञेय ने अपने को व्यापकत्व से जोड़ा है। वह एक सेतु है जो है और जो होगा दोनों को मिलता है। जो है वह समसामयिक परिवेश है और जो होगा वह बदलते हुए परिवेश के साथ जुड़ी हुई आस्था है। इसमें जनजीवन का परिवेश है; उसकी हर साँस का इतिहास है; उसके (जीवन) प्रतिरूप मानव के प्रयत्नों की शृंखला है जिसमें आज की कठिनाई को कल में बदलने का साहस है। तभी तो कवि मिट्टी खोदने वाले से लेकर महल बनाने वाले की साधना और आस्था से, खानों म काम करने वाले, रिक्शा खींचने वाले, बर्तन साफ करने वाले, कपड़ा फीचने वाले, मशक से सड़क सींचने वाले और विमानों को आकाश में उड़ाने वाले की व्यथा से विभिन्न प्रकार के श्रम में लगे पीड़ित और दुर्जेय श्रमिक, शिल्पी और स्रष्टा के साथ अपना तादात्म्य जोड़ता प्रतीत होता है। असल में यह कविता एक साथ ही कवि के व्यक्तित्व और मानव तथा दोनों की अखण्ड आस्था व प्रयत्न की आशा-विश्वास युक्त अभिव्यंजना है :

> दूर दूर दूर मैं सेतु हूँ
> किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं।
> वह सेतु
> जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है
> जो मानव को एक करता है,
> समूह का अनुभव जिसकी मेहरावें हैं
> और जनजीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिनके नीचे बहती है

अनुभूति से प्राप्त इस मानवीय बंधुता को ही स्पष्ट करने वाली कविता "मैं तुम्हारा प्रतिभू हूँ" है। इसमें कवि ने संकेतित किया है कि सफलता का राज समष्टि में आत्म लय होने में निहित है। अतः जहाँ व्यष्टि समष्टि की अनुगता हो गई है वहीं जीवन है और वहीं मनुष्य मृत्युंजय है। मरा तो वे करते हैं जो 'स्व' की संकीर्ण कारा में कैद हैं :

> तुम मर कर प्रेत हो सकते हो क्योंकि तुम अपने हो
> मैं नहीं मर सकता क्योंकि मैं तुम्हारा हूँ !

इस संग्रह में ऐसी और भी कविताएँ हैं जो जीवन की व्यापकता और मानवास्था से संयुक्त होकर विश्वास और समर्पण की शैली में बोलती हैं। उनकी यह आस्था मानव व्यक्तित्व, क्षण और दर्द के प्रति है। अपने आपको दे देने की प्रवृत्ति

अज्ञेय में गहरी है। उनकी आस्था ही इसके प्रति हैं : 'दे दो खुले हाथ से दे दो/कि अस्मिता विलय/एक मात्र कल्याण है।' 'एक दिन जब' 'मैं तुम्हारा प्रतिभू', 'ओ लहर', 'बर्फ की झील' आदि कविताओं में यही भाव प्रतिबिम्बित है।

क्षण विशेष के प्रति उनकी आस्था भी इस संग्रह का उल्लेख्य संदर्भ है। 'बावरा अहेरी' में कवि पीछे लौटने को मात्र गलत समझता था, किन्तु यहाँ उसने पीछे न मुड़कर देखने की प्रवृत्ति को पूरी तरह रोक लिया था तथा 'क्षण के प्रति' आस्था' प्रकट करना आरम्भ कर दिया है। उसका आग्रह है कि हमें भूत और भविष्य के बीच के प्रभामय क्षण को पहचानना चाहिये-उस क्षण को जो हमारे सामने फैला है। क्षण की पहचान और उसकी पकड़ के प्रति आस्थावान अज्ञेय ने 'आत्मनेपद' में लिखा है : "अनुभूति और परिस्थिति में जब विपर्यय और असंतुलन होता है तब कलाकार अनुभूति पर आग्रह करता है। सर्जना के लिए अनुभूति का यह क्षण ही महत्व रखता है। क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है क्षण के दर्शन में आग्रह यह है कि जीवनानुभूति नाम की किसी चीज और आत्यंतिक चीज को दूसरी सब चीजों की अपेक्षा में रखना पूर्वापर को उलटना है।"[1] वस्तुतः जीवन क्षणों का इतिहास है। 'क्यों आज' और 'सर्जना के क्षण' नामक कविताओं में क्षण के प्रति आस्था भाव व्यंजित है :

> एक क्षण भर और
> रहने दो मुझे अभिभूत
> लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।

'दर्द' के प्रति आस्था का कारण यही है कि वह व्यक्तित्व का परिष्कार करता है और यह संकेत देता है कि सभी को मुक्त रखा जाए। 'हरी घास पर क्षण भर' में दर्द की जो अनुभूति कवि को हुई थी वही यहाँ एक नए रूप में अभिव्यक्त हुई है। यह दर्द सृजन के क्षणों का दर्द है जिसमें स्रष्टा जब अपने को होम देता है तब कहीं कोई एक अंकुर फूटता है। 'मरु और खेत' नामक कविता भी इसी दर्द की अभिव्यक्ति करती है। इस कविता में कवि ने विरोधी जीवन मूल्यों में पारस्परिक संघर्ष को भी लिपिबद्ध किया है। सामान्यतः लोग खेत की ओर झुकते हैं न कि मरु की ओर 'कारण 'मरु' विरोधी जीवन मूल्यों का प्रतीकत्व लिए हुए है और 'खेत' इसके विपरीत है। जीवन का यही तो विरोधाभास है कि हम पहले उस सहज की ओर झुकते हैं जो धीरे-धीरे ह्रासोन्मुख होता चला जाता है। ऐसी स्थिति में इस सहज के प्रति आस्था रखना एक प्रकार से शिव के प्रति अनास्था का पर्याय ही माना

1. अज्ञेय : आत्मनेपद पृष्ठ 168—169

जाएगा। कारण, यही है कि "नव सर्जना में जो/अपने को होम कर होते आनंद मग्न/उनकी तो दृष्टि और होती है।

आलोच्य संग्रह में कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जो सृजन, सृजन-पद्धति और स्रष्टा के महत्व और दायित्व को भी विज्ञापित करती हैं। 'क्योंकि तुम हो' कविता में कवि ने उसकी वंदना की है जिसके होने के कारण आस्था का आप्लावन संशय के कल्मष को धो जाता है और कवि अनुभव की कच्ची मिट्टी को कंचन में बदल देता है—"अपने को मिट्टी कर उसका अँकुर पनपाता हूँ", 'शब्द और 'मुझे तीन दो शब्द' कविताओं में काव्य शब्द तथा अपने अभिव्यंग्य की विशेषता संकेतित की गई है। 'शब्द' कविता में बतलाया गया है कि शब्द किसी के लिए कंकड हैं, किसी के लिये सीपियाँ और किसी के लिए नैवेद्य। शब्द को कंकड़ मानने वाले उसकी महत्ता नहीं जानते है और सीपी समझने वाले मोती की तलाश में भरमाते रहते हैं। शब्द का सही प्रयोक्ता तो वह है जो उसे नैवेद्य मानता है:

थोड़ा सा प्रसादवत्
मुंदित, विभोर वह पाता है
उसी में कृतार्थ धन्य,
सभी को लुटाता है
अपना हृदय प्रेममय।

सच्चा कवि शब्द में अनुभव की सम्पूर्णता भरता है। अतः वे केवल तीन शब्द पाना चाहते हैं—पहला वह जो कभी जिह्वा पर न आये, दूसरा वह जो उनके दर्द से ओछा हो और तीसरा खरा धातु; किन्तु जिसे पाकर भी यह भाव रहे कि इसके बिना भी काम चल जाता तो ठीक था। 'साधुवाद', 'देना जीवन', और 'सर्जना' के क्षण' आदि कविताएँ भी इसी भूमिका पर लिखी गई हैं। 'नयी कविता एक संभाव्य भूमिका' कविता विरोधियों पर व्यंग्य करती हुई नयी कविता का घोषणा त्मक मानी जा सकती है। कवि का मूल मंतव्य इन पक्तियों में है:

हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् हम कर लें—
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको कमपि को क ख ग को
अपनी सी पहचनवा सकें
रसमय करके दिखा सकें
शाश्वत हमारे लिए वही है

अजिर, अमर है
वेदितव्य
अक्षर है।

'हमने पौधे से कहा' कविता में अज्ञेय का प्रतिपाद्य यह है कि कवि वही है जो अशुचि और अशिव को अपने अनुभव की मिट्टी में तपा तचाकर काव्य रूपी सुन्दर फूल प्रदान करे। कवितांत में कवि व्यंग्य करता है कि वह खाद बनाने वाली वस्तुओं से दूर रहना चाहता है और आलोचक उनसे फूल माँगते हुए इन जीवन वस्तुओं से दूर रहने की सिफारिश करते है। नयी कविता के आलोचकों पर व्यंग्य का कारण यह है कि या तो वे छायावादी हैं, या प्रगतिवादी हैं, या मानवतावादी हैं या फिर रसवादी हैं। इसलिये अज्ञेय इन सभी की स्थिति को क्रमश: 1. 'नभचारी मिट्टी की ओर मत देखना' 2. 'गतिशील जड़ें मत छोड़ना', 3. 'प्रकाशसुत टोहना न कभी अंधकार को' 4. 'रससिद्ध कर्दम से नाता मत जोड़ना' जैसी पंक्तियों से स्पष्ट करते हुए यही कहते हैं कि—'ओ स्वयंभू ! पुष्टि की अपेक्षा मत रखना।' वस्तुतः इस कविता में पौधे की जड़ परंपरा का प्रतीकार्थ रखती है। यही 'जड़' सृष्टि की शक्ति है, आद्य मातृका है। कवि का सृजन इससे अलग है क्योंकि उसकी दृष्टि जड़ की ओर न होकर मिट्टी की ओर है।

मिट्टी की ओर जमी यह दृष्टि जब खुले आँगन को निहारती है तो उसे प्रकृति की वह सुषमा भी दिखाई देती है जो संग्रह की 'टेसू', 'बैसाख की आँधी', 'मलाबार का एक दृश्य' और 'सूर्यास्त' जैसी कविताओं में आकर सिमट गई है। इन प्रकृति-कविताओं में जागरण मूलक आस्था है; गतिशील उल्लास—भावना है, प्रकृति-दृश्यों की चित्रावली है, 'सूर्यास्त' में प्रकृति का जो चित्र है वस सौन्यर्यानुभूति और भावानुभूति के योग का परिणाम है :

धूप
—माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब-सी शिशु-वदन पर
हुई भासित
नये चीड़ों से कँटीली पार की गिरि शृंखला पर।

'तुम कदाचित् न भी जानो' कविता में प्रणयानुभूति का अंकन सूत्र शैली में किया गया है। प्रिय से अलग होते समय विदा की करुण बेला में जो बोझ हमारे मनोराज्य पर छाकर हमें दबोचता है, उसे ही यहाँ व्यंजक शब्दों और ध्वनि-संकेतों के सहारे अधिक गहरा बनाया गया है : "मंजरी की गंध भारी हो गई है" जैसी पंक्ति में जो करुणा पूरित दर्द है वह बिदाई के क्षणों में मन पर पड़े मनों बोझ का संकेत दे रहा है। 'साँझ मोड़ पर विदा' कविता भी ऐसी ही है और 'धूप बत्तियाँ'

में भी प्रिया की स्मृति की गंध डोरियाँ बुनती दिखाई देती है। असल में ये कुछ ऐसी कविताएँ हैं जो प्रेम के दर्द को करुणा में घोलकर प्रस्तुत करती हैं और दर्द को—प्यार को मौन होकर पीने-जीने की सिफारिश करती हैं। कारण; ऐसा करके ही तो व्यक्ति आत्मान्वेषी और सत्यान्वेषी हो सकता है।

आलोच्य संग्रह में कुछेक कविताएँ ऐसी हैं जो या तो व्यंग्यपरक हैं या पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण स्पष्ट करती हैं। व्यंग्यात्मक रचनाओं में प्रमुख हैं—'साँप', 'रेंक' और 'महानगर रात'। 'साँप' में नागरिक सभ्यता पर व्यंग्य है। 'साँप' शब्द को प्रतीकार्थ प्रदान करके कवि ने नागरिक सभ्यता की विकृत परतों को उजागर किया है। 'रेंक' कविता 'ऊँट और गदहे' की परस्पर की प्रशंसा की कहानी को आधार बनाकर अन्योक्ति शैली में रचित है। 'महानगर रात' का व्यंग्य महानगर की रात्रिकालीन स्थिति के चित्रण में निहित है और है उस बेला में उपस्थित सभ्यता के ठेकेदारों की स्थिति के अंकन में। कवि ने लिखा है:

> होगा ?
> क्या ? ये खेल तमाशे, ये सिनेमाघर और थियेटर ?
> रंग-बिरंगी बिजली द्वारा किये प्रचारित
> द्रव्य जिन्हें वह कभी नहीं जानेगा
> यह गलियों की नुक्कड़ नुक्कड़ पर
> पक्के पेशाब घरों की सुविधा
> ये कचरा-पेटियाँ सुघर, रगीन (आह
> कचरे के लिए यहाँ कितना आकर्षण)

'पश्चिम के जनसमूह' कविता में पाश्चात्य सभ्यता की वर्तमान स्थिति को निरूपित किया गया है तो 'सागर और गिरगिट' में दो दृष्टि-बिन्दुओं के सहारे जीवन की मार्क्सीय व्याख्या की गई है—अन्तर इतना ही है कि सागर पूजित है और गिरगिट कुत्सा-भर्त्सना प्राप्त करता। 'सागर' की तुलना में गिरगिट के प्रति संकेतित उपेक्षा का कारण मानव का ईर्ष्या भाव है जो गिरगिट के जीवमय होने के कारण है: "गिरगिट का जीवनमय होना ही हम मनुजों को खलता है।"

'इतिहास की हवा इस संग्रह की प्रतीकात्मक रचना है। इसमें सभ्यता के विकास के साथ साथ वर्तमान युग की विषम और विसंगत स्थिति का रेखांकन प्रतीकों के सहारे हुआ है। मछलियाँ, हंसावलियाँ, पहाड़ी झील का अपलक पानी और भैंस की आँखें आदि अनेक प्रतीक इस कविता में हैं। 'एकलव्य' असभ्य जाति का प्रतिनिधि है, 'द्रोणाचार्य' वर्तमान युग के राजनीतिज्ञ हैं, 'मुनि' मननशील

व्यक्ति हैं, 'भोले बालक' मानव का भविष्य हैं और 'अंधी भैंस' ज्ञान चेतना विरहित मनुष्य की प्रतीक है जो इतिहास के पन्नों को खाकर पागुर कर रही है। आधुनिक 'एकलव्य' द्रोण को अँगूठा नहीं देता है और न वे माँगते ही हैं। वे तो तीर से धरती को बिद्ध करने की प्रेरणा देते हैं और चुपचाप एकलव्य के कुँए में भाँग डाल देते हैं ताकि सारा समाज नशे में धुत् होकर पड़ा रहे। कवि ने यह लिखकर "धन्य धन्य गुरुदेव आपने अँगूठा नहीं माँगा जो : पितरों को नहीं तो हम क्या दिखाते" जो व्यंग्य किया है वह निर्मम भी है और तीखा भी। 'इतिहास की हवा' लक्ष्यहीन परिवेश के स्वरूप को प्रतीकित करती है। इस कविता का व्यंग्य छीलने वाला है। काम तो करता है मनुष्य; किन्तु नाम प्राप्त होता है राज्य को। हंसमालाएँ और मछलियाँ यहाँ रूढ़ मान्यताओं को व्यक्त करती हैं। ये हंसावलियाँ नीर क्षीर विवेक की प्रवृत्ति को भूल गई हैं और समाज के स्वस्थ जल को गँदला करती रहती है—'ये हंसावलियां/नीर क्षीर नहीं/अन्तहीन सागर में विष-वमन कर रही हैं।"

अब इस संग्रह की केवल एक उल्लेखनीय कविता और उल्लेखनीय प्रतीत होती है : 'सागर-तट और सीपियाँ' आस्थाहीन व्यक्तियों का प्रतीकार्थ रखती हैं जो बाहर से तो शुभ्र और नीलम के सदृश दिखाई देती हैं; किन्तु हैं प्रयोजनहीन या सत्यहीन ही। दर्द की आँखें फटी-सी' कहकर कवि ने यह संकेत किया है कि आस्था के क्षत होने पर मनुष्य का वेदना-बोध भी क्षत हो जाता है क्योंकि आस्था और वेदना परस्पर पूरक हैं—विरोधी नहीं हैं :

सीपियाँ ये शुभ्र-नीलम
दर्द की आँखें फटी-सी
जो कभी अब नहीं मोती दे सकेंगी।
ये टूटी हुई रंगीन
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

कुल मिलाकर यही कह सकते हैं कि 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' की कविताएँ अनेकविध विषमताओं, विसंगतियों और पीड़ाओं को शब्दाकार देती हुई भी आस्था और विश्वास के स्वरों से मुखरित हैं। यथार्थ बोध से संस्पर्शित हैं, प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यंजनाएँ हैं और दर्द-बोध व क्षण-बोध को गहराई से व्यंजित करने वाली रचनाएँ हैं।

अरी ओ करुणा प्रभामय :

'अज्ञेय' की आधुनिकता में मानव आस्था की गूँज सदैव से रही है। वे यथार्थ जीवन की विकृतियों, विसंगतियों, मूल्यों की टकराहट, जीवन व्यापी कटुता, भयावहता और भटकाव सभी कुछ अनुभव करते हैं, पर यह भी सोचते हैं कि यही

काफी नहीं। मानव को इससे भी आगे जाने की जरूरत है। आखिर विरोधों और नकारों की डोर मानव को कब तक साधे रख सकती है ? संशय शंका और 'टेंशन' के नाम पर भोगे गये यथार्थ और उसकी अभिव्यंजना को लेकर हम कविता को कब तक जिला सकेंगे ? गलित, विद्रूप और लिजलिजी जिन्दगी का स्वीकार हमें कहाँ ले जाएगा ? अखिर कहीं न कहीं किसी न किसी कोण पर तो हमें इसे छोड़कर जिन्दगी की नये सिरे से शुरूआत करनी होगी—ऐसी शुरूआत जिसमें मानव मानव होगा और उसके भीतर निहित शक्ति पर हमें आस्था होगी। अज्ञेय निरन्तर इसी कोण से ऐसी ही एक खोज में लगे रहे हैं। यह खोज "हरीघास पर क्षण भर" से ही शुरू हो गई थी और विशेषकर उस बिन्दु में जबकि 'बावरा अहेरी' में कवि ने कहा था—

> "पर नकारों के सहारे कब चला जीवन ?
> स्मरण को पाथेय बनने दो
> कभी तो अनुभूति उमड़ेगी
> प्लवन का सान्द्र घन भी बन।"

अज्ञेय के काव्य का मूल स्वर आस्था और जिजीविषा का है। यही जिजीविषा उन्हें आत्मान्वेषण से जोड़ती है। इसी भूमिका पर उनके आलोच्य संग्रह 'अरी ओ अरुणा प्रभामय' को देखा जा सकता है। यह वह संग्रह है जो कवि के सत्यान्वेषण और आस्थावाद को गरिमाबोध से जोड़ता हुआ एक नवीन संदर्भ प्रस्तुत करता है। इन संग्रह में चार खण्ड हैं—रोपयित्री, रूप के की, एक चीड़ का खाका और द्वारहीन द्वार। रोपयित्री के अन्तर्गत 18 कवितायें संकलित है। इनमें से अधिकतर ऐसी हैं, जो नए कवि और उसकी नयी सर्जना को निरूपित करती है। कुछ में नए कवि के प्रति व्यंग्य-बोध उभरा है, तो कुछ में नये कवि को उपदेश दिया गया है। 'अच्छा खण्डित सत्य शीर्षक से लिखी गयी कविता में कवि का प्रतिपाद्य यह है कि सुघर नीरन्ध्र मृषा से खंडित सत्य कहीं अच्छा है, व्यर्थ के स्वर्ण मधुर छन्द से सार्थक मौन कहीं बेहतर है और झूठ, रूढ़ि और पराई उपलब्धियों की अपेक्षा अपने अनुभव की आँच में तपे हुए वे कण अच्छे हैं जो व्यक्ति की अन्तरात्मा से निकले हैं। वस्तुतः कवि रूढ़िबद्ध समाज से घृणा करता है और यह कहना चाहता है कि माँगे हुए सुख के साज-सामान से मनुष्य का फकीरी ठाठ और कहीं अधिक श्रेष्ठ है। 'हम कृति नहीं हैं' कविता कवि की सत्यान्वेषी प्रवृत्ति को सूचित करती है। इसी क्रम में 'शब्द और सत्य' शीर्षक कविता को भी पढ़ा जा सकता है। कवि ने संकेत किया है कि उसके पास शब्द और अर्थ दोनों हैं। अतः वह इस प्रयत्न में रत है कि शब्द और अर्थ के बीच की दीवार को हटाकर इन दोनों को एक कर दे। इसी भूमिका पर 'नया कवि : आत्म स्वीकार' और 'नया कवि आत्मोपदेश' शीर्षक से लिखी गयी कविताओं को

भी पढ़ा जा सकता है। अभिव्यक्ति के लिए उपकरण हर कहीं से चुन लिए हैं और उन्हें अपनी वस्तुतः अज्ञेय इन कविताओं के द्वारा यह कहना चाहते हैं कि नये कवि ने अपनी विशिष्टता में डाल दिया है। काव्य तत्व की खोज में लगा हुआ कवि जब यह कहता हैं कि मै आधुनिक कवि हूँ तो उसकी सत्यान्वेषी प्रवृत्ति को समझा जा सकता है—

यो मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ नया हूँ
काव्य तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ
चाहता हूँ आप मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें
पर प्रतिमा - अरे, वह तो
जैसी आपको रुचे आप स्वयं गढ़ें

कहने का तात्पर्य यह है कि अरी ओ करुणा प्रभामय संग्रह में अनेक ऐसी कविताएँ हैं जो कवि की मूल वृत्ति को प्रकट करती हैं। नये कवि से शीर्षक कविता में अज्ञेय ने अपने विरोधी कवियों को व्यंग्य का निशाना बनाया है। अज्ञेय को क्षुद्र गतानुगतिकता पसन्द नहीं है। वे तो निरन्तर आगे बढ़ते जाना चाहते हैं और इसीलिए कहते हैं—

न देखो लौट कर पीछे
भृकुटी मत कसो
मत दो ओट चेहरे को
चोट से मत बचो
अनुभव डसे,
न पूछो और कौन पड़ाव अब कब आवेगा ?

इस संग्रह में और भी अनेक कविताएँ हैं जिनमें प्रकारान्तर से यही भाव व्यक्त किया गया है। 'बड़ी लम्बी राह' शीर्षक से लिखी गयी कविता इसी प्रकार की है। 'इशारे जिन्दगी' शीर्षक कविता का मूल भाव यह है कि मनुष्य रूपाकार को ही सब कुछ समझ लेता है। ऐसा समझने से रूप तो उसके हाथ में आ जाता है, किन्तु अर्थ छूट जाता है। अतः अज्ञेय का कवि स्पष्ट शब्दों में अपने अनुभव के आधार पर कहता है—

अर्थ दो, अर्थ दो
मत हमें रूपाकार इतने व्यर्थ दो
हम समझते हैं इशारा जिन्दगी का—
हमें पार उतार दो—
रूप मत, बस सार दो।

'लौटे यात्री का वक्तव्य' शीर्षक से लिखी गयी कविता में एक ऐसे यात्री की कल्पना की गयी है जो सारे जहान का चक्कर लगाकर लौटा है। वह अनुभव करता

है कि सब कहीं सभी का पालन करने वाला किसान अपनी झुकी हुई कमर लेकर जी रहा है, शासन के सूत्रधार अपनी दृष्टि खो चुके हैं और उनका मस्तिष्क भेडिये की तरह हिंसक विचारों से ओतप्रोत हैं। ऐसे व्यक्तियों को मोती अर्थात् सत्य नहीं मिलता है। सत्य को पाने का अभिलाषी कवि अज्ञेय यही कहना चाहता है कि जीवन का वास्तविक मूल्य, गहराई के सच्चे मोती और जीवन की अर्थवत्ता को वही प्राप्त कर सकता है, जिसके मन में सारे संसार को बाँटने के लिए प्रेम है।

आलोच्य संग्रह में कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जो आधुनिक युग और समाज पर व्यंग्य करती चलती हैं। ऐसी कविताओं में 'हरा-भरा है देश', 'औद्योगिक बस्ती' प्रमुख हैं। 'हरा-भरा है देश' कविता में उन व्यक्तियों पर व्यंग्य है जो खलिहानों के खाली होते हुए भी देश को हरा-भरा करते हैं। 'औद्योगिक बस्ती' में समाजव्यापी क्रूरता और उसके अन्तर्गत पल रहे मनुष्य की मूल्यहीनता का चित्रण किया गया है। 'बिकाऊ' शीर्षक से लिखी गई कविता में कवि अज्ञेय ने यह संकेतित किया है कि जिस प्रकार मूर्तियाँ बिकाऊ होती हैं, किन्तु टिकाऊ नहीं होतीं, वैसे ही मनुष्य भी बिकाऊ है, टिकाऊ नहीं। यह कविता वर्तमान समाज की अर्थ लिप्सा पर ही तीखा व्यंग्य करती हैं। 'बांगर और खादर' में राजा और गाँव के गंवार व्यक्तियों के जीवन का विपर्यास दिखलाया गया है। मैंने कहा पेड़' शीर्षक से लिखी गई कविता शिक्षा प्रधान हो गई है। कवि उस पेड़ की प्रशंसा करता है जो खुले मैदान में खड़ा हुआ आंधी, पानी, सूरज और चांद सबकी तपन सहता हुआ सन्तुलित मन से अपनी हरियाली के साथ सिर ऊँचा करके खड़ा हुआ है। पेड़ इस सम्बन्ध में कवि को यह उत्तर देता है कि इसमें मेरा कुछ भी श्रेय नहीं है। यह श्रेय तो उस मिट्टी को ही मिलना चाहिए कि जो कि मेरे पैरों तले बिछी हुई हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस संग्रह की इन सभी कविताओं मे कवि एक ओर तो नये कवियों को उनकी वास्तविक स्थिति से अवगत कराता है और दूसरी ओर आधुनिक समाज की विकृतियों और स्वार्थपूर्ण रीति-नीति पर व्यंग्य करता है। इसी संग्रह में कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जो कवि की आस्था और जिजीविषा को व्यक्त करती हुई उसकी आत्मान्वेषी वृत्ति को स्पष्ट करती हैं। 'मछली' एक ऐसी ही कविता है। 'मछली' आत्मान्वेषण का प्रतीक है। इस संग्रह में जो शेष तीन खण्ड हैं उनमें कवि की छोटी कविताएँ संकलित हैं। 'रूपकेकी' खण्ड में अधिकतर कविताएँ ऐसी हैं जो प्रकृति की सौन्दर्य-सम्पदा को बिम्बों में बाँधती हैं। 'मछलियाँ' और 'रश्मिबाण' शीर्षक से लिखी गई कविताएँ प्रतीकात्मक हैं। 'रश्मिबाण' कविता में मछली जिस प्रतीकार्थ को वहन करती है वह भी आत्मान्वेषण के भाव से युक्त है। 'रश्मिबाण' कविता में कवि बहुत गहरे तक देखना चाहता है। यही मछली कवि की जिजीविषा और आस्था-भावना को भी प्रकट करती है।

'अरी ओ करुणा प्रभामय' के अन्तर्गत कवि के पीड़ाबोध को व्यक्त करने

वाली भी अनेक कविताएँ हैं। इन कविताओं में कवि का पीड़ा दर्शन आत्मीयता की अनुभूति से युक्त होकर शब्दबद्ध हुआ है। 'सागर पर सांझ' शीर्षक कविता में कवि ने दर्द की विशिष्टता को विश्लेषित किया है। वह कहता है—

दर्द स्वीकार से भी मिटता नहीं है
स्वीकार से पाप मिटते हैं
पर दर्द पाप नहीं है
दर्द कुछ मैला नहीं है
कुछ असुन्दर अनिष्ट नहीं
दर्द की अपनी एक दीप्ति है—
ग्लानि वह नहीं देता
जाओ वह लिखा हुआ दर्द यहाँ छोड़ जाओ—
तुम्हें वह बार-बार जाना शुभ रूपों में फलेगा

और भी अनेक कविताएँ हैं जिनमें कवि की वेदनानुभूति अपनी विशिष्टता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। ऐसी कविताओं में 'सागर तट सन्ध्या तारा', 'मोह बन्ध', 'रात कटी' और 'रात और दिन' विशेष उल्लेखनीय हैं। मोह बन्ध में पुनर्मिलन के समय की अनुभूति चित्रित है, तो 'रात और दिन' में जन संकुलता के साथ एकाकीपन के बोध से उत्पन्न पीड़ा का भाव अभिव्यति पा सका है।

'हाइकू' पद्धति पर लिखी गई कविताएँ भी आलोच्य संग्रह में अपना अलग महत्त्व रखती हैं। ये जापानी कविताओं के अनुवाद और अनुकरण पर निर्मित हुई हैं। इन कविताओं में चित्रात्मकता सर्वाधिक मात्रा में मिलती है। ये कविताएँ अधिकांशत: चाक्षुष बिम्बों में बंधी हुई हैं। इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये कवि की चेतना को संक्षिप्ति और सघनता के साथ चित्रित करती हैं। इसी संग्रह में 'द्वारहीन द्वार, शीर्षक से लिखी गई एक कविता भी संकलित है। इस कविता का संकेत यही है कि जीवन अनवरत अन्वेषण का परिणाम है। यहाँ कोई भी सत्य अन्तिम नहीं है। सत्यान्वेषण और आत्मान्वेषण के भाव से युक्त यह कविता अज्ञेय को अगले संग्रह 'आँगन के पार द्वार' की भूमिका प्रस्तुत करती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में कवि अज्ञेय ने अनेक भावभूमियों पर विचरण करते हुए अपना मूल स्वर प्रेम, पीड़ा व्यंग्य और सत्यान्वेषी प्रवृत्ति से जोड़े रखा है।

'आँगन के पार द्वार'

'आँगन के पार द्वार' संग्रह में सन् 1959 से सन् 1961 की रचनाएँ संकलित हैं। यह वह संग्रह है जिस पर कवि को 1964 में साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला था। ध्यान से देखें तो 'हरी घास पर क्षण भर' से लेकर इस संग्रह तक अज्ञेय

का कवि जिस प्रक्रिया से गुजरा है उसका चरम उपलब्ध रूप इसी संग्रह में दिखलाई पड़ता है। यह वह संग्रह है जिसमें संकलित कविताएँ कवि की आत्मान्वेषी, सत्यान्वेषी, गरिमाबोध से युक्त और आस्था व जिजीविषा के स्पर्श से पुलकित कविताएँ संकलित हैं। यह संग्रह तीन खण्डों में विभक्त है : अन्तः सलिला, चक्रांत शिला और असाध्य वीणा। ये तीनों खण्ड एक-दूसरे से भिन्न भले ही दिखाई देते हों किन्तु इनके मध्य जो सम्बन्ध सूत्र विद्यमान हैं, वह कवि की सतत् साधना और सत्यान्वेषी प्रवृत्ति को निरूपित करते हैं।

इस संकलन में जीवन का स्पंदन है, आस्था की लौ का प्रकाश है और है विकृतियों व पाखण्ड से उबर कर संशय और दंभ के सर्प-शिशुओं का दंश सहकर भी अपने आपको जिन्दा बनाये रखने का साहस। साहस और आस्था की यह खोज ही 'आँगन के पार द्वार' में है। कविताओं में स्पंदित आस्था, विश्वास और कभी न हार मानने वाला साहस ही आज की परिस्थितियों में हमें किनारे पर ला सकता है। यदि वह सम्बल भी हाथ से चला गया तो हम 'शव मात्र' से अधिक न होंगे। 'चक्रान्त शिला' और 'असाध्य वीणा' के अलावा और भी कविताएँ इस संकलन में हैं और उनमें भी यही भाव है। वास्तव में आँगन के पार जो द्वार है वह अध्यात्मजगत नहीं और न कोई रहस्यलोक ही है। वह तो इसी संसार के आँगन का वह द्वार है 'जो भीतर की ओर जितना खुलता है, उतना ही बाहर की ओर भी। बाहर को देखते समय जो संक्रान्ति उसे दिखाई देती है, वही उसे जीवनी शक्ति बटोर लेने के लिए भीतर की ओर मोड़ देती है। बाहरी और भीतरी जगत की एकाकारता का अंकन करने वाली 'असाध्य वीणा' भी इसी खोज का परिणाम है। मैं समझता हूँ यदि अज्ञेय रहस्यवादी हुए होते तो वे सरस्वती पुत्र न लिखते 'बना दे चितेरे' का निर्माण न होता और न शायद वे 'अघेरे-अकेले घर में' और 'अन्तःसलिला' कविताओं की कल्पना ही कर पाते ? इन कविताओं का संकलन में मूल्य है और ये उनके मन्तव्य को सम्प्रेषित करती जान पड़ती हैं। 'बना दे चितेरे में' जो कथ्य है वह रहस्यवादियों की सीमा से भी दूर है। उसमें जिजीविषा की जो उत्कटता है वह अध्यात्मवादियों में कहाँ मिलती है ? फिर 'हर टूटने में अपार शोभा लिये' वाली जो आस्था है वह तो किसी भी रहस्यवादी के वश की बात नहीं है। यह तो वही लिख सकता है जो मानव पर आस्था रखे और उसे ही विशिष्ट मानता हो। 'सरस्वती पुत्र' के दूसरे अंश के चित्रण और उसमें भी 'घिग्घी बँधती जाती थी' की विवशता की अभिव्यक्ति कितनी आधुनिक है ? क्या वह 'सरस्वती पुत्र' भी रहस्यवादी लगता है ? नहीं - कदापि नहीं। 'अन्तः सलिला' का संदर्भ भी नया है। इस अर्थ में आज का सघषक्रान्तमानव जो रेत से अधिक नहीं है अपने भीतर 'अन्तः सलिला' का रस लिए हुए हैं। जिन्दगी के थपेड़ों से टूटता, शुष्क और रेतीला व्यक्तित्व वाला मानव भी कितना भी कमजोर हो पर जीने की आस्था और जीवनी शक्ति से

वह भी विरहित नहीं है। 'जब-जब जहाँ भी जिसने कुरेदा नमी पायी और खोदा हुआ रस संचार.........जो भी क्लान्त आया रुका लेकर आस' लिखने वाला कवि बाहरी दबाव, तनाव और ऐंठन सहता हुआ बाहर से ही तो रेत है, उसके अन्तर में जो अन्तः सलिला प्रवाहित है, उसे अनदेखा करके कवि को रहस्यवाद से जोड़ना मनमानी थोपना भले ही हो, कविता का सही मूल्यांकन नहीं। चक्रान्त शिला में 'टाइम एण्ड स्पेस' को ध्यान में रखकर बहुत कुछ लिखा गया है। दिशा और काल के आयामों के बीच में झूलता मनुष्य कितना छोटा, अजनबी और विवशता का का प्रतीक बनकर रह गया है, यह भी इन कविताओं की आत्मा में स्पंदित है।

'अन्तः सलिला' में कवि पूरा सजग और ईमानदार है। उसमें आत्मान्वेषण की व्यग्रता है। इस प्रक्रिया में सभी हाथ लगे सत्य उसे अर्थहीनतर बनाते जाते हैं क्योंकि उसे कोई भी प्राप्ति व उपलब्धि अन्तिम सत्य नहीं लगती है। इसी से वह रिक्तता, अर्थहीनता और निरर्थकता के बोध से भर उठता है।[1] सतत् अन्वेषक और जिज्ञासु कवि अभिव्यक्ति से बचता है क्योंकि व्यक्त होकर वह रिक्तता नहीं चाहता या कहें कि जब अभिव्यक्ति के लिए तलाशे गए माध्यमों की भीड़ की भीड़ सामने आ जाती है तो उसका अभिव्यक्तिगत आवेश निरर्थक हो जाता है। कभी-कभी अभिव्यक्ति के सही उपादानों के अभाव में भी कवि अनभिव्यक्ति की पीड़ा और दंशना को भोगता है :

> पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था
> दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बँधती जाती थी[2]

और अनभिव्यक्ति का दंश :

> यों न जाने कब यहाँ
> वह साँझ ओझल हो गयी
> और मेरे लिए यह
> सूने न रहने की
> रीते न होने की

1. दिया जलाया :
   अर्थहीन तर आकारों की यह
   अर्थहीनतर भीड़ : अंधकार में दीप, पृ. 18
2. सरस्वती पुत्र, पृ. 11

·· बाँझ अनुकंपा समाज की
कितनी ओझल हो गयी ।[1]

इस प्रकार अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति का संकटपरक दंश दोनों ही अन्वेषक कवि के मर्म को छीलते हैं। यह छीलन कवि की निजी होकर भी कितनी सबकी है। यह अनभिव्यक्त अभिव्यक्ति 'यूनिवर्स' की है, यह बोध की चीज है। अभिव्यक्ति के माध्यमों की भीड़ के अलावा सृष्टि व्यापी अजनबी लोगों की भीड़ जिसमें कोई आत्मीय चेहरा नहीं, कवि को पीड़ा देती है। वह अनुभव करता है कि वह भीड़ से घिरा रहकर, लोगों की आवाजें सुनकर और उनकी·······उपस्थिति के बीच भी अकेला है, निपट अकेला।[2] अतः उसके भीतर एक प्रक्रिया चलती है, दाता जगता है और फिर वह विवेक की दीपशिखा से ज्योतित होकर विराट की ओर बढ़ता है। कहना गैर जरूरी है कि अन्तः सलिला की कविताएँ निष्ठा, विश्वास और संकट को एक साथ व्यक्त करती चलती है। मानव-आस्था की खोज में कवि बराबर पीड़ा और त्रास के किनारों को छूता हुआ आगे बढ़ता चलता गया है। इस प्रकार उसकी आधुनिकता के सम्बन्ध में कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता है।

'चक्रान्तशिला' की कविताओं में भी अभिव्यक्ति का संकट है, माध्यमों की उपेक्षा है क्योंकि वे निरर्थकता की सीमा रेखा पर खड़े हैं। अतः वह मौन की ओर बढ़ता है। 'मौन' में सारे माध्यम आकर सिमट जाते हैं, अपनी इयत्ता खो बैठते हैं। इसी से कवि 'मौन' है। आत्मान्वेषण ही उसे महत्वपूर्ण दिखाई देता है। मैं गुन लूँगा। तू नहीं कहेगा आस्था है नहीं कहूँगा तब भी मैं सुन लूँगा और एक चिकना मौन जिसमें मुखर तपती वासनाएँ दाहखोती लीन होती है। उसी में स्वहीन तेरा गूँजता है छंद, ऋत विज्ञप्त होता है। जैसी पंक्तियों में मौन का ही उदात्त रूप है। यह उदात्तता और विराटता सृष्टि के प्रत्येक स्पन्दन से जुड़ी हुई है; 'यूनिवर्स' से कटी हुई नहीं है, वरन् सृष्टि के सृजन—विसर्जन में बराबर साथ है—छूट नहीं गयी है—

मैं सोते के साथ बहता हूँ।
पक्षी के साथ गाता हूँ
वृक्षों के कोपलों के साथ थरथराता हूँ
और उसी अदृश्य क्रम में, भीतर ही भीतर

1. सूनी सी साँझ एक, पृ. 28
2. अन्तरंगचेहरा, पृ. 22

झरे पत्तों के साथ गलता और जीर्ण होता रहता हूँ
नये प्राण पाता हूँ[1]

'चक्रान्त शिला' की कविताएँ एक विशिष्ट मनःस्थिति की द्योतक हैं। लगता है अज्ञेय का कवि मनःशक्ति संचित कर अपने समूचे व्यक्तित्व के सहारे सत्यान्वेषण के लिए प्रयत्नशील है। आदमी के भीतर जो विशिष्ट है वही सत्यान्वेषक हो सकता है और वही है जो तमाम अस्वीकारों, निषेधों और तनावों के बावजूद आदमी को जीने की हिम्मत देता है—ऐसी खोज के लिए प्रेरित करता है जो आस्था और उल्लास के साथ जिन्दगी बिताने की शक्ति दे। कारण मृत्यु का बोध और दबावों में पिसती स्थिति में ही रमे रहने से तो काम चलने वाला नहीं है। उसके लिए कुछ ऐसे मूल्य खोजने होंगे जो बराबर जीवनी शक्ति देते रहें और वे तत्व मनुष्य का विराट रूप ही हो सकते हैं। इन कविताओं में जिस 'मौन' की चर्चा है वह बौद्ध ध्यानियों का वह मौन है जो सत्य का व्याख्याता है और मुखरता उसके लिए अनावश्यक है। मौन ही सबसे बड़ी वाणी है क्योंकि अन्तर्दृष्टि का मूल्य है, न कि वाणी का। यह मौन और मौन के सहारे आत्मान्वेषण और फिर आस्था के साये में अपनी जीवनी शक्ति की पहचान ही अनेक कविताओं का प्रतिपाद्य है। अपने माध्यम से विराट की पहचान और उसकी अपने ही भीतर अनुभूति और फिर उसका ही दान यदि किसी को रहस्यवादी लगता हो तो वह इसका खूब विज्ञापन करें, कौन रोकता है ?

'चक्रान्त शिला' की 19वीं कविता को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि 'बीहड़ काली शिला' अंधेरे समय का, काक काल का और धवल-शिला मानव के भीतरी वैशिष्ट्य से उल्लसित आस्था और जीवनी शक्ति का प्रतीकार्थ लिए हुए हैं। अंधकार में भागता हुआ समय और उसमें होने वाले अन्तहीन चक्रान्त-षड़यन्त्र या दुरभिसंधियाँ मनुष्य को मृत्यु की ओर खींचे लिए जा रहे हैं। यदि जीना है तो आस्था और साहस का योग ही हमें सहारा दे सकेगा। आलोकस्नात उजला ईश्वर योगी' कोई दूसरा नहीं मानव का वह भीतरी वैशिष्ट्य ही है जो किसी भी संघर्ष से नहीं थकता है और तमाम जीवनी शक्ति —मनः शक्ति बटोर कर उस लिखित को मंद स्मित से मिटा रहा है जो जिन्दगी को शव-पूजा की ओर ले जा रही है। फिर कवि का यह कथन कि 'योगी वह स्मिति मेरे भीतर लिख दे'' जिस मानव-आस्था की खोज का परिचायक है वही तो 'आँगन के पार द्वार' का प्रतिपाद्य है। यही वह द्वार है जो भीतर-बाहर दोनों ओर खुलता है।

1. वन में एक झरना बहता है, पृ. 40

'असाध्य वीणा' एक विशिष्ट और अपवाद स्वरूप लिखी गयी रचना है। यह अज्ञेय जैसे शिल्पी के रचना-कौशल का ही परिणाम है कि वह चीनी कथा पर आधृत होकर भी भारतीय संदर्भ में देखी और पढ़ी जा सकती है। यह एक लम्बी कविता है, किन्तु अभिप्रेत को व्यक्त करने में कहीं भी शिथिल नहीं लगती है। इसमें आये वर्णन चरित्रांकन, भाव राशि और शिल्प के क्षेत्र में प्रयुक्त सही शब्दों के द्वारा प्रस्तुत ध्वन्यात्मकता बेजोड़ है। नरेन्द्र शर्मा ने अपने एक लेख में वह कथा दी है जिससे 'असाध्य वीणा' प्रभावित है। उस कथा को पढ़ने से लगता है कि लुगमिन खाल में एक विशाल कीरी वृक्ष था, जो वन का मुकुट जैसा दीखता था। उससे ही वीणा का निर्माण हुआ था। इसका बजाना सबके वश में नहीं था। अनेक वादक प्रयत्न कर हार गये, पर अन्ततः बीनकारों का राजकुमार पीवो ही उसे साध सका। पहली बार उसने ऐसी तान छेड़ी कि उसमें निसर्ग शोभा, ऋतु चक्र और जलधारा के प्रवाह का वर्णन था। गायन से पूर्व काल के विशाल कीरो वृक्ष की संचित स्मृतियाँ जाग उठीं जैसे वृक्ष फिर से जी उठा। पीवो ने स्वर बदला और प्रेम का गीत गाने लगे। फिर राग बदला और युद्ध का गीत गाने लगा। 'पीवो' ने वाद्य साधने का रहस्य बतलाया कि मैं तो अपने आपको भूल गया था। मैं स्वयं भी न जान सका कि वाद्य यंत्र पीवो है या पीवो वाद्य यन्त्र। यहाँ चीनी कथा का संकेत भर है।

अज्ञेय ने इस कथा का भारतीयकरण किया है। वे अतीत की इस कथा को नयी सज्जा दे सके हैं और इस सफलता का कारण अज्ञेय की प्रतिभा और वह एकाकारता है जो कविता से ध्वनित होती है। 'कीरी' को किरीटी और 'पीवो' को प्रियवंद कहकर उन्होंने इन नामों को भारतीय संदर्भ दे दिया है। यही वजह है कि कवि की कलात्मक कारीगरी से वह वीणा उत्तराखण्ड के गिरि प्रान्तर से आयी बतलायी गयी है। इसका परिचयात्मक वर्णन, विवरण और ऐसे शब्दों का जामा पहनाने वाली पद्धति भी एकदम भारतीय लगती हैं। शब्दावली क्लिष्ट है। प्रवाहमय वर्णनों से सजीव अतिशयोक्ति का रंग पाकर भी स्वाभाविकता की रक्षा करने वाली यह कविता बेजोड़ है। इसमें निहित ध्वन्यात्मकता और शब्दों की सही पकड़ अज्ञेय की इतनी सधी हुई है कि तथ्य की एक दो असंगतियों की ओर तो हमारा ध्यान भी नहीं जाता है। नाम, घटना और दृश्यांकन इस चतुराई से किया गया है कि वह अपनी जानी-पहचानी कथा लगती है और चीनी कथा तो जैसे भारतीय सन्दर्भ के प्रवाह में कहीं की कहीं बह गयी है। ध्वन्यात्मकता के साथ-साथ एक विशेषता और है कि आनन्द की अनुभूति पात्र की भावना के अनुकूल होती है। यह निष्कर्ष असाध्य वीणा के सिद्ध हो जाने और उससे निकली संगीत की ध्वनि का राजा, रानी और प्रजाजनों द्वारा अलग-अलग सुने जाने से निकलता है। वस्तुतः यह कविता परिस्थिति विशेष की उपज है। यह विशेष मनःस्थिति और कुछ विशेष क्षणों में लिखी गयी है तभी तो अतीत की साधना इस स्तर पर अभिव्यक्ति पा सकी है। प्रयोगशील कवि

की लेखनी से लिखी जाने पर भी इसमें एक ओर अतीत की स्थिति है और दूसरी ओर 'युग पलट गया' की सांकेतिक व्यंजना से वर्तमान के परिवेश से जुड़े रहने की ललक। वीनकार प्रियवंद वीणा को साधने के बजाय स्वयं को शोधता है, अपने आसपास के परिवेश को भूलकर उसी के प्रति समर्पित हो जाता है। यह स्थिति मौन रहकर अपनी अन्त:शक्ति की खोज है। बाहर से भीतर की ओर मुड़ने की यही प्रक्रिया है। कविता से जो निष्कर्ष निकलता है वह स्वयं को देकर ही सत्य की प्राप्ति का सूचक है। यह भी बौद्ध ध्यानियों की क्रिया के ही अनुरूप है—कोई अध्यात्मजगत नहीं।

वीणा को साधने का काम अपनी शोधना के अभाव में सम्भव नहीं है यह आत्मान्वेषण भी है और उसका शोधन भी। वात्स्यायन जी का शोधन तलाश का हल्का अर्थ भी दे रहा है, पर मुख्यत: यह परिशोधना ही है, अपने को संस्कारमुक्त करके अपने ही को उपलब्ध करने की प्रक्रिया है। "इस शोध की उपलब्धि अपने अस्तित्व को उन्हीं बाह्य उत्पादनों और उनसे उत्पन्न आदिम अनुभूतियों को जिन्हें अपनी साधना से वज्रकीर्ति ने पाया था, व्यक्तिगत रूप में समर्पित कर देने ही से सम्भव हो सकती है।"[1]

"मौन प्रियवद साध रहा था वीणा
नहीं स्वयं को शोध रहा था।"

एक बात और है कि 'असाध्यवीणा' के निर्माण की प्रक्रिया रचना-प्रक्रिया और प्रेषणीयता का प्रतीकत्व भी लिए हुए है। उसमें एक ओर रचना-प्रक्रिया का सन्दर्भ है तो दूसरी ओर प्रेषण—प्रक्रिया की भूमिका—भी। अपने को शोधना आत्मविसिर्जित होना है—अहं का विलयन है। यह विसर्जन और विलयन जहाँ सर्जना की अपरिहार्य शर्त है, वहीं सम्प्रेषणीयता के साथ अलग-अलग होने की प्रक्रिया भी है। यही वजह है कि संगीत की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न धरातलों पर होती है। हरेक को अपने निजीपन का अहसास होता है :

सबने अलग-अलग संगीत सुना
इसको वह कृपा वाक्य था प्रभुओं का
उसको आतंकमुक्ति का आश्वासन
इसको वह भरी तिजोरी में सोने की खनक
उसे बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुदबुद
किसी एक को नई वधू की सहमी सी पायल ध्वनि ……

1. डा. शिवप्रसाद सिंह : आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ. 261

इससे कवि यह सिद्ध करना चाहता है कि कला विशिष्ट तो है, किन्तु उसकी यह वैशिष्ट्यपरक दृष्टि यदि अलग-अलग चरितार्थता नहीं पा लेती तो वह व्यर्थ ही है।

संकलन की शेष कविताओं में जो उल्लेख्य है, वे हैं—'पहचान', 'झील का किनारा', 'पलकों का कँपना', 'सूनी सी साँझ' ये प्रेम और प्रियभाव विषयक रचनाएँ हैं। प्रेम का परिष्कृत रूप ही शुद्ध अनुभूति के धरातल पर व्यक्त हुआ है। 'पहचान' में पुनर्मिलन के क्षण की अनुभूति है तो 'झील का किनारा' में प्रथम पारस्परिक समर्पण के क्षण की अनुभूति है जो फिर दुहराई न जा सकी। 'पलकों का कँपना' में मधुर मादक सौन्दर्यांकन है। 'पास और दूर' में जीवन का अनुभव संचित है। सबसे समीपस्थ ही दूर और क्रूर सिद्ध होता है, किन्तु जो दूर रहकर आघात देते रहते हैं, वे अच्छे हैं क्योंकि वे कम से कम कुछ सोचने और जीवन निर्माण के अवसर तो देते हैं :

> सागर से सागर जोड़ गये
> मिटा गये अस्तित्व
> किन्तु वे
> जीवन मुझ को सौंप गये।

'अंधकार में दीप' विचार तत्व से ओत-प्रोत कविता है। जब तक अंधकार है तब तक वह एकाकार रहता है; किन्तु इस 'एकाकारता' को देखने के लिए दीप जलाने पर वह तो विलीन हो जाता है, केवल अर्थहीन आकारों की अर्थहीनतर भीड़ निरर्थकता व नकारों का निर्जल पारावार उमड़ता दिखाई देता है। सूनी सी साँझ एक में सूनापन और उदासी का वातावरण है। कवि की मान्यता है कि यदि सूनापन अकेलापन और उदासी भी यदि सही और अच्छी हो तो क्या बुरी है? उदासी का लावण्य भी किसी से घटकर नहीं है। कविता के अन्त में यही सूनी सन्ध्या व्यंग्य का माध्यम बनती है। अनुभूति तो एकान्त और मौन होती है, पर समाज उसे भी अपने आघातों में सूनी कहाँ रहने देता है? कुल मिलाकर 'आँगन के पार द्वार' का समग्र प्रभाव न तो आधुनिक बोध से कटा हुआ है और न अध्यात्मवादी ही। उसमें आई शब्दावली वैसा आभास भर देती है और आभास में सत्यांश कम आरोपण अधिक होता है। सचाई यह है कि इसमें शुद्ध अनुभूति रचनात्मक स्तर पर उद्घाटित होने से रहस्य सी लगती है, वैसी है नहीं।

'कितनी नावों में कितनी बार'

इस संग्रह में अज्ञेय की 1862 से लेकर 1966 तक की रचनाएँ सम्मिलित हैं। यह वह प्रसंग है जो अज्ञेय की काव्ययात्रा के प्रमुख स्वर मानवास्था की खोज

को और अधिक गहरे स्तर तक प्रस्तुत करता है। इसमें एक आधुनिक कवि का सत्यान्वेषण है, व्यक्तित्व की खोज है और ठहराव ठण्डापन और पलायन का भाव उसमें नहीं है। इसके विपरीत यहाँ एक कवि की निरन्तर बढ़ती हुई जिज्ञासा और नए नए सन्दर्भ खोजने वाली चेतना का सक्रिय प्रवाह है। इस कृति के फ्लैप पर छपी हुई टिप्पणी काफी संगत लगती है जिसमें कहा गया है कि 'कितनी नावों में कितनी बार में' अज्ञेय ने मनुष्य के प्रति अपनी गहरी संवेदना का एक नया संस्कार दिया है, यह कहना तो कवि को अपना धर्म निबाहने का श्रेय देने के बराबर होगा। अधिक अर्थवान होगा यह कहना कि कवि ने एक बार फिर अपनी अखण्ड मानव आस्था को भारतीयता के नाम से प्रचलित अवाक् रहस्यवादिता से वैसे ही दूर रखा है जैसे प्रगल्भ आधुनिक अनास्था के साँचे से वह उसे हमेशा रखता रहा है अतः वह यही कह सकता है कि मैं "धीरे, आश्वस्त, अक्लांत, अपने अनबूझे सत्य के प्रभामण्डल की ओर कितनी ही नावों में कितनी बार हो आया हूँ"

संकलन की कुछ कविताओं में अस्तित्ववादी चेतना का प्रसार है तो दो तीन कविताएँ ऐसी हैं जिनमें अज्ञेय की राष्ट्रीयता और नागरिकता का उद्घोष है। युद्ध सन्दर्भ की कविताएँ अपने समसामयिक परिवेश और तत्सम्बन्धी चिन्तन का परिणाम हैं। अंधकार में जागने वाले और 'युद्ध विराम' इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। कवि की पकड़ आधुनिक है। आज के व्यक्ति का संकट और विवशता भी इनमें अभिव्यक्ति पा सकी है। यह अकेलापन और मामूलियत ही विश्वसनीय है क्योंकि यही है जिस पर उसे अधिकार है। साथ ही यही वह स्थिति है जिसके सहारे व्यक्ति दूसरों की जिन्दगी जीता है— कितने ही नामहीनों की जिन्दगी जीता हुआ भी वह अन्धेरे में फिर अकेला और मामूली छूट जाता है। यही तो विवशता है, पर मानव-आस्था का साया उसे फिर समूह में विलय कर देता है और :

> 'मेरी मामूलियत एक सामर्थ्य ? एक गौरव,
>
> एक संकल्प में बदल जाती है।
>
> जिसमें मै करोड़ों का साथी हूँ।'

अकेलेपन की यह अनुभूति, यह संकल्पमयी स्थिति कितनी देर रह सकती है ? क्योंकि विवशता यह है कि सबके नियत कर्म हैं, हम सब एक सीमा में बँधे हैं। अकेलेपन की अनुभूति में कवि कितने ही देश की आन पर मिटने वालों, बममार विमान गिराने वालों, वीरों और उन सबकी जिन्दगी जीता है जो गिरे और प्रतीक्षा में रहकर उठाये भी नहीं गये। कवि की यही वह दृष्टि है जिसमें वह अपने माध्यम से भीड़ को, देश को और देशवासियों को जानने की कोशिश करता है। इसे वैयक्तिक परिवेशवादी दृष्टि कहकर उपेक्षित नहीं ठहराया जा सकता है। यह ठीक है कि हर व्यक्ति अपने नियतप रिवेश से बँधा है पर :

इस सबसे क्या
उस सबसे क्या
किसी मन्से क्या
जबकि अकेलेपन में
एक व्याप्त मामूलीपन का स्पंदन है
और वह व्याप्त मामूलीपन एक डोर है
जिसमें हम सब
हर अकेली रात के अन्धेरे में
एक सम्बन्ध और सामर्थ्य और गौरव की लड़ी में
बँधते हैं—
हम, हम, हम, हम भारतवासी ?

ये पंक्तियाँ बतलाती है कि हर आदमी अपने में अकेला है फिर भी 'हम सब' हैं और उसकी यह नियति है या विवशता है कि फिर अकेला छूट जाता है। वस्तुतः यह कविता संकलन की श्रेष्ठ कविताओं में से हैं। इसमें राष्ट्रीयता का एक नया सन्दर्भ उद्घाटित हुआ है। इसमें परिस्थिति विशेष से उत्पन्न हल्की और आवेशमय तीव्र प्रतिक्रिया नहीं है, वरन् अधिक यथार्थता का सीधा अंकन है। 'युद्ध-विराम' में पाकिस्तान से हुए युद्ध का सन्दर्भ है। समसामयिकता इसमें है और संघर्षक्रान्त परिवेश का तीखा और मार्मिक अंकन भी, पर यह उपर्युक्त कविता की अपेक्षा हल्की रचना हैं। इसके कुछ स्थल 'वक्तव्य भर' या ऐसे अवसरों पर दिये गये राजनैतिक भाषण भर लगते हैं। आक्रान्ताओं की पाशविकता पर घृणा औ रव्यंग्य के छींटे हैं तो भारत जैसे शान्तिप्रिय देश का परिचय 'बन्दूक के कुन्दे से हल्के हत्थे की छुअन हमें अब भी अधिक चिकनी लगती हैं, कहकर दिया गया है। राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का यह नया ढंग है और आधुनिक ढंग है। फिर पता नहीं कैसे कह दिया जाता है कि अज्ञेय चुक गये हैं, समय से पीछे हैं।

'ओ निस्संग ममेतर', इतनी बडी अनजानी दुनियाँ, 'पक्षधर', 'उधार', कितनी नावों में कितनी बोर', काँच के पीछे मछलियाँ, और गृहस्थ' आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनके सहारे अज्ञेय के मन्तव्य को समझा जा सकता है। 'ममेतर' ब्रह्म नहीं है। वह तो अपने से बाहर वाला व्यक्तित्व है, कवि से बाहर का संसार है। वे अपने माध्यम से ममेतर' को पहचानते हैं। यही अनदेखा और अरूप भी है क्योंकि इसमें रहकर भी वह उससे (यूनिवर्स) कटा हुआ है। वह यह तो सोचता है कि 'मैं ही विश्व हूँ, विराट हूँ' पर उससे उसका सम्बन्ध घनिष्ठतः जुड़ा हुआ नहीं है। 'ओ निस्संग ममेतर' में वह यही कहता है कि—'मैंने तुम्हें केवल मात्र जाना

हैं, देखा नहीं मैंने कभी, सुना नहीं, छुआ नहीं, किया नहीं रसास्वाद ओ स्वतः प्रमाण मैंने तुम्हें जाना, केवल मात्र जाना है।' यदि कभी भोगा भी तो अनुभूति के स्तर पर ही क्योंकि वह एक ऐसी चीज है जिससे कुछ भी बच नहीं पाता है— 'जीवनानुभूति तो एक पंजा है' जिसकी जकड़ में सभी कुछ आ जाता है। 'यह इतनी बडी अनजानी दुनियाँ है' का सन्दर्भ भी अकेलेपन और अजनबियत का सन्दर्भ है। आदमी भीड़ में खो रहा है। उसकी अनपहचान व अजनबियत ही उसकी पहचान है। कारण वह महासागर में पडी एक बूँद भर है। उसका अस्तित्व दब-सा गया गया है फिर भी उसके भीतर अविराम भीड़ उमड़ती आती है। यही कारण है कि वह अपने से अजनबियत महसूस करता हुआ भी उसे छोड़ने को तैयार नहीं है; उसमें जीने की लालसा बराबर बनी हुई है।

'कितनी नावों में कितनी बार' कविता में स्वाभाविकता और सहजता है। इसका सन्दर्भ और कथ्यआधुनिक दृष्टि का परिणाम है। उसमें एक ऐसी चेतना है जो कवि की पहचान में सहायक है। अखण्ड मानव आस्था का पक्षधर और सतत जिज्ञासु कवि यही कह सकता है: 'धीर आश्वस्त, अक्लान्त अपने अनबूझे सत्य के प्रभा-मण्डल 'की ओर कितनी नावों में कितनी बार' हो आया है जहाँ......

एक नंगा तीखा निर्मम प्रकाश
जिसमें कोई प्रभामण्डल नहीं बतता
केवल चौंधियाते हैं तथ्य तथ्य तथ्य—
सत्य नहीं, अन्तहीन सच्चाइयाँ।
कितनी बार मुझे
खिन्न विकल संत्रस्त
कितनी बार

अज्ञेय की आधुनिकता की परीक्षा के लिए और ताजगी की पहचान के लिए संकलनकी 'पक्षधर' कविता भी अविस्मरणीय है। जन्म लेने का अर्थ पक्षधरता है, जीने की लालसा ही युद्ध की तैयारी है। आदमी अपने अस्तित्व के प्रति जागरुक रहे, परिवेश को पहचाने और उसका पक्षधर बनकर भी कदम-कदम पर यह पहचानने कि 'अब से हर क्षण में, हर दुख-दर्द पराजय और क्षति में भी अपने नित्य प्रति जन्मते चलता है। हर साँस मुक्ति की सांस हो इस आशय के साथ कि हर पक्षधर को हमें वैसी ही मुक्ति और वैसा ही उल्लास देना है। यह दृष्टि प्रत्याधुनिक है। अस्तित्वाद से भी आगे की जीवनवादी दृष्टि है— आस्थावादी दृष्टि है। अस्तित्वादी तो हमें केवल अपने प्रति सतर्क भर रहने

की दृष्टि देता है। उसकी सीमा है। वह सीमा में वरण का अधिकार हैं। कवि ने लिखा है :—

अपनी पहली सांस और चीख के साथ
हम जिस जीवन के
पक्षधर बने अनजाने ही,
आज होकर सयाने
उसे हम वरते हैं।
उसके पक्षधर हैं हम —
इतने घने
कि उसी जीने और जिलाने के लिए
स्वेच्छा से मरते हैं।

कैसी विडम्बना है ? पक्षधरता सयाने होने पर भी वरण की जाती है और उसे बनाये रखने के लिए इन्सान स्वेच्छा से मरता रहता है। अज्ञेय का मन्तव्य यह है कि हर व्यक्ति को नित नए संदर्भों में उसी के अनुकूल बदलते रहना चाहिए। 'पक्षधरता' से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर संघर्ष करना जरूरी है—इसलिए कि हमें जीना है। अपने जीवन के लिए आमरण अविराम युद्ध करना जरूरी है। मृत्यु के ऊपर भी विजय पानी है। ऐसी जीवनी शक्ति और आस्था ही हमें सही अर्थों में जयी बना सकती है।

'गृहस्थ' कविता में कवि ने वही पहले वाला भाव दुहराया है—एक के माध्यम से अनेक को देखने समझने वाली अनुभूति। ''सूनी है सांसें' में मानव के भीतरी सहचर का परिचय है—मुक्तिबोध की तरह। वह सहचर ही मानव के भीतर का देवता है जो हरदम साथ रहता है, किन्तु कोई भी आदमी उसे सामने नहीं आने देता चाहता है। कारण हरेक अपने आप से ही अपने आपको छिपाता रहता है। शायद इसलिए कि ओट थोड़ी बने रहना ही भला है।' यह बड़ी जबरदस्त बात है कि हरेक इस स्थिति से गुजरता है। ये कुछ ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें आज के संकट ग्रस्त मानव की सही स्थिति, विवशता और विडम्बना व्यक्त हुई है। आधुनिक जमाने की फैशन परस्ती या गलित यथार्थ के घिनौने चित्रांकन से तो मात्र यह जाना जा सकता है कि कवि उस बदलते प्ररिप्रेक्ष्य बिन्दु पर उपस्थिति है। सही बात है कि उस बिन्दु पर कलाकार की स्थिति कलाकार की उपस्थिति ही काफी नहीं है वरन् उससे उत्प्रेरित प्रतिक्रिया की सही और सन्तुलित —ऐसी संतुलित उपस्थिति जो कोई मूल्य प्रस्तुत कर सके, आवश्यक है। यही कारण है कि इसकी तुलना में कदम-कदम पर बदलते यथार्थ की आवेशी भाषा में की गई सतही अभिव्यक्ति हल्की पड़ जाती है। अज्ञेय इससे बचे हैं हैं, यह शुभ लक्षण है।

आज हमें जो जिन्दगी मिली हुई है वह उधार ली हुई जिन्दगी है, उसमें हम 'अपने पन' में कहाँ हैं। ऐसा कितना हमारे पास है जो केवल हमारा है। जिन्दगी के पर्याय रूप में हमें आकुलता, अचकचाहट, अकेलापन, असमंजस और असहायता ही मिली है। यह 'क्राइसिस' है जिसे हमें भोगना पड़ रहा है और अज्ञेय ने इसे पहचाना है (उधार कविता) वे सतत जिज्ञासु हैं। उनके अपने व्यक्तित्व की ही खोज उन्हें अपने से बाहर ले जाती रही है। इसीलिए वे यह कह सके हैं :—

अन्धकार में अकेले सहसा जागकर पहचाना कि
जो मेरा है, वही ममेतर है।'

समकालीन मानव-चेतना जिस मूल्यगत संक्रमण को भोग रही है, उससे उसका अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। इसलिए जीवन में क्षोभ और आवेश आता जा रहा है। कवि इसे अभिव्यक्त करने के लिए खतरे उठा रहा है। अज्ञेय इस संक्रमण के सामने कायरता से समर्पित नहीं है। वे निषेध के सहारे नहीं वरन् एक स्वीकार के साथ अकेले रह जाते हैं, किन्तु अकेले रह जाने पर भी पराजय का भाव यहाँ नहीं है :—

सन्नाटे से घिरा
अकेला
अप्रस्तुत
अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र
निष्कवच
वध्य।

संकलन में कितने ही ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि ने आधुनिक परिवेश को बड़ी ही सीधी और सरल भाषा में व्यक्त कर दिया है। जिन्दगी कुछ ऐसी बनती जाती है कि आदमी खुद कम दूसरों द्वारा ज्यादा जिया जाता है। मानो उसकी स्थिति ही दूसरों को जीने और खुद दूसरों द्वारा जिये जाने में है—हर आदमी एक दूसरे का दहेज है' वाली स्थिति 'सन्ध्या संकल्प' कविता में उभर कर सामने आई है। यों इस कविता का मूल भाव दूसरा है। अपनेपन का है जो स्वेच्छा से भीतर से बाहर को दिया गया है। 'प्रातः संकल्प' भी ऐसी ही कविता हैं जिसमें कवि अपने भीतर वाले मानव के प्रति झुका हुआ है। जहाँ वह है और उसके सामने फैला 'यूनीवर्स है। वहाँ तो हर आदमी कितने सन्दर्भों में जिया जाता है। क्यों ? आखिर क्यों ? इसलिए कि हमारे नाते-रिश्ते टूट गए हैं, हम बिखर गए हैं, हमारे सम्बन्ध बिखर रहे हैं, तभी तो नाता रिश्ता' और 'काँच के पीछे मछलियाँ' कविताओं में आए संदर्भों में

ऐसी बात कही गयी है : जिन्दगी के रेस्त्राँ में 'यही आपसदारी है, 'नाता-रिश्ता' है, कि कौन किसको खाता है ?' या तो नाते-रिश्ते टूट गए हैं और यदि हैं भी तो फूँस की झोंपड़ी भर हैं :—

मेरी वह फूँस की मड़िया जिसका छप्पर तो
हवा के झौंके लिए रह गया
पर दीवारें सब बेमौसम की वर्षा में बह गयीं.......
यही सब हमारा नाता रिश्ता है—इसी में मैं हूँ
और तुम हो।'

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस संकलन में खासी ताजगी है। यह वह संकलन है जिसमें कवि पूरी आस्था के साथ मानव, मानव-सम्बन्धों, उसकी विवशता जीवन व्यापी संघर्ष, मूल्यों के विघटन; राष्ट्रीयता, समसामयिक परिवेश और जीवनवादी दृष्टि को प्रस्तुत कर सका है। वैयक्तिक स्तर पर यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं कि इन कविताओं में वह सब कुछ सांकेतिक और सन्तुलित ढंग से कह दिया गया है जो स्वयं अनुभूत है। कहीं कोई आवरण नहीं है जो है वह साफ सुथरा और सधे हुए कलाकार की कलम के रंगों में निखरा हुआ यथार्थ है।

अब दो एक बातें और कहानी हैं : पहली बात तो यह है कि प्रेम, दर्द व प्रकृति जो अज्ञेय के प्रिय विषय रहे हैं, वे संकलन की कुछेक कविताओं में उभरे हैं। यह वय और चिन्तन का ही प्रभाव है कि इनमें धीरे धीरे परिपक्वता और परिष्कृति आती गयी है। यही कारण है कि प्रेम अब प्रौढ़ से प्रौढ़तर अनुभूतियों की लौ में चमक उठा है। अब उन्हें 'विदा के चौराहे पर' अनुचिन्तन की जरूरत पड़ी है और 'प्रस्थान से पहले' की अनुभूति भी क्षणिक आवेग की अपेक्षा शाश्वत मूल्य बनती दिखाई देती है। 'कि हम नहीं रहेंगे कविता की मूलभावना इसी बिन्दु पर है। इसी सन्दर्भ में अज्ञेय की ये पंक्तियाँ उनकी प्रौढ़ भावना की ही परिचायक है :—

'जिसे कुछ भी कभी, कुछ से नहीं सकता मार
वही लो, वही रक्खो साज सँवार
वह कभी बुझने न वाला
प्यार का अँगार।

अज्ञेय की दृष्टि में इस संकलन में यह प्यार कुछ इस तरह व्याख्यायित हुआ है :—

ये स्मारक नये पुराने ढूह नहीं
वह मिट्टी ही है पूज्य
प्यार की मिट्टी
जिससे सर्जन होता मूल्यों का
पीढ़ी दर पीढ़ी ।

आधुनिक दुनियाँ के भटकाव के लिए यह समाधान 'बोरियत' नहीं वरन् एक आस्थामय आलोक है। दर्द को लेकर भी कई कवितायें लिखी गयी हैं। यह दर्द वह नहीं जिसमें कराह हो, निष्क्रिय कर देने वाली भावना हो, वरन् यह तो प्रेरक है, सम्बल है आगे जाने का, पार उतरने का। यह वह दर्द है जिसमें इन्सान खोता कुछ नहीं पाता ही पाता है (उलाहना कविता) वेदना' मनुष्य मात्र की गति है। आज मानव की गागर उस प्यार की प्यासी है जिसका न तो पाना पर्याप्त है और न देना यथेष्ठ है। दर्द में बहुत बडी शक्ति है:—

पास कुछ बचा नहीं
सिवा इस दर्द के
जो मुझ से बड़ा है– इतना बड़ा कि पचा नहीं—
बल्कि मुझ में अँचा नहीं—
इसे कहाँ धरूँ
जिसे देने वाला मैं कौन
क्योंकि वह तो एक सच है
जिसे मैं तो क्या रचता—
जो मुझी में अभी पूरा रचना नहीं।"

दर्द अज्ञेय काव्य का ऐसा स्वर है जो हर संकलन में गाढ़ से गाढ़तर होता गया है। इस संकलन में कवि दर्द से छटपटाता ही दिखाई देता है। उसका यह दर्द एक चिन्तन बन गया है जिसमें डूबते-उतरते कवि को यह सोच है कि हमारी मृत्यु निश्चित है : हमें यहाँ रहना नहीं है और रही वाणी वह भी एक दिन चुक जाएगी। ऐसी कविताओं को देखकर कवि की वेदना की सीमा का स्पर्श किया जा सकता है। "जिसमें मैं घिरता हूँ "कविता में कवि आसपास की स्थिति को देख स्वयं" कनी-कनी किरने लगा है ' उसकी यादों के खण्डहर धीरे-धीरे डूबते जा रहे हैं।" अंगार में :

एक दिन रुक जाएगी जो लय
उसे अब और क्या सुनना ?
व्यतिक्रम ही नियम हो तो
उसी की आग में से

बार-बार, बार, बार
मुझे अपने फूल है चुनना ।

लगता है कवि की वेदना निराशा से मिलकर उसे मृत्यु का तीखा अहसास करा रही है । साँस का पुतला जो जरा-मरण से बँधा हुआ है, यह एकांत के दबाव को सहने में असमर्थ है । बाहरी तनाव और दबाव तो सहे भी जा सकते हैं, किन्तु अकेलेपन के डर से जिसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार है कैसे मुक्ति हो ? यही उसकी उदासी का कारण है :—

"मन बहुत सोचता है कि उदास न हो
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय ?
शहर के दूर के तनाव-दबाव कोई सह भी ले
पर यह अपने ही रचे एकांत का दबाव सहा कैसे जाय ?

'हेमन्त का गीत' प्रकृति का नया सन्दर्भ प्रस्तुत करने वाली कविता है । 'वसन्त' पर सर्वेश्वर ने और हेमन्त 'पर अज्ञेय ने अच्छा लिखा है । उत्तरवासन्ती दिन कविता भी इस दृष्टि से उल्लेख्य है ।'

दूसरी बात अज्ञेय के शिल्प के बारे में कहनी है । उनका शिल्प बेजोड़ है । 'धड़कन' 'रड़कन' जैसी कविताओं को छोड़ दें तो कोई भी कविता हल्की नहीं पड़ती है । शब्दों का ऐसा चुनाव जड़ाव कि उसे हटाने पर सारी इमारत के गिरने का अँदेशा पैदा हो जाये, भावों की ऐसी घनी बुनावट है कि एक शब्द का तागा टूट जाय तो कुछ भी पल्ले न पड़े । कहीं तो शैली की ऐसी सिधाई कि तुरत प्रभावित कर दे और कहीं ऐसी कठिनाई कि पाठक सिर पकड़ कर बैठ जाए—बिल्कुल पहेली टाइप "कहीं इतनी बेलाग कि बड़ी बात भी एकदम मामूली लगे और कहीं ऐसी भारी भरकम कि छोटी सी बात भी बड़ी लगे । ये गुण कवि की प्रतिभा के अनुरूप हैं । विशिष्ट गुण कवितागत अन्विति का है जो कम ही नये कवियों के बाँट आया है । उनका कोई अनुभव चलता हुआ नहीं । उसमें निरन्तर एक संश्लिष्टता बनी रहती है । कविता में आए हर सन्दर्भ-सूत्र को वे बराबर पकड़े रहते हैं ।

'सागर मुद्रा'

'सागर मुद्रा' में सन् 1967 से 1969 तक की 69 कविताओं को स्थान प्राप्त है । इसमें संकलित कविताएँ संवेदना और शिल्प की दृष्टि से कवि की कला-प्रौढ़ता व परिष्कृति की द्योतक हैं । इन कविताओं में कवि "प्रेम प्रकृति और सौन्दर्य की मोहक भंगिमाओं को शब्दबद्ध करता हुआ चिन्तक की मुद्रा में सामने आया है प्रकृति के अंकन में कवि का जीवनानुभव भी आकर मिल गया है । यही वजह है कि प्राकृतिक सुषमा से सिक्त अनेक कविताएँ कवि के यथार्थ अनुभव से जुड़कर अतिरिक्त अर्थवत्ता पा गयी हैं । काल-चेतना और मृत्यु-चेतना की

अबवोधक कविताओं में 'कालकी गदा', 'बालू की घड़ी', 'नदी का बहना', 'गाड़ी चल पड़ी', 'गजर', 'कालस्थिति', 1. काल स्थिति 2. आदि कविताओं में कवि ने काल-वोध से संपृक्त होकर जीवन के मर्म को तलाशने की चेष्टा की है। 'काल' की मार से बचना कठिन है, यह तो सभी जानते हैं, पर वह अबूझ भी है, इसे भी भुलाया नहीं जा सकता है। 'काल स्थिति-1 में कवि ने अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की चेतना को अभिव्यक्त किया है। कवि का अभिप्रेत यही है। काल की कोई भी स्थिति मनुष्य को कुछ भी हस्तगत नहीं होने देती है। फलतः वह अतीत और भविष्य के बीच शून्य में ताकता हुआ— अपनी विवशता को पोसता हुआ खाली हाथ खड़ा रहता है। काल की अबूझता को समझना कठिन है:

काल के सवालों का
नहीं है मेरे पास कोई जवाब,
जो उसे—या किसी को—दे सकूँ
इतना ही कि ऐसी अतर्कित चुप्पियों में
मिल जाती है जब तब छोटी-छोटी अमरताएँ
जिनमें साँस ले सकूँ।"

'सागर मुद्रा' में न तो खिन्नता है और न तनाव, अपितु, इन दोनों के बाद की यह स्थिति है जो 'टैंशन' और 'क्राइसिस' को पचाकर उसी से उत्पन्न होने वाले उद्वेलन के ताप को व्यक्त करती है कवि खिन्नता और संत्रस्त मनस्थितियों से गुजरने के बाद भी उनसे जुड़ा हुआ है वह संतुष्टि की मुद्रा में नहीं सागर की मुद्रा' में है—चेतन मुद्रा में है अज्ञेय ने क्योंकि ज्यादा तीखी, मर्मान्तक और हड़बड़ाहट वाली शब्दावली को नहीं प्रयोगा है, इसलिए युवा मन उन्हें और उनके काव्य को पथराया हुआ और अनाधुनिक की संज्ञा देता है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर दूँ कि हड़बड़ी की कविताएँ या भड़भड़िया कविताओं का तात्कालिक महत्व होता है, उनमें वह स्पंदन और जीवंत चेतना नहीं होती है जो कविता का अनिवार्य गुण है।

कवि की खोज—सत्य की खोज या भीतर की खोज जिस रूप में कितने नावों में कितनी बार में थी, वही चेतना उक्त खोज को यहाँ अनेक रूपों में प्रस्तुत कर रही है। चरम सौन्दर्य या विशिष्ट सत्य को पाने का भाव-बोध तो वही है, पर भाषा का मिजाज बदला हुआ है, अन्दाज नया है। 'कनु' और गोपियों' के प्रतीक लेकर कवि अनुभव करता है कि अनेक शैलियों, अनेक माध्यमों और विचारों में ढाल कर कहने पर भी जो कहना था वह अनकहा रह गया है। वह सत्य को पूरा पकड़ नहीं पाया है:

कवि ने गीत लिखे नये-नये बारबार
पर उसी विषय को देता रहा विस्तार
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं
किसी एक गीत में वह अट गया दिखता
तो कवि दूसरा गीत ही क्यों लिखता ।"[1]

गोपियों में प्रेम ढूँढने वाला कृष्ण किसी में भी वह सच्चाई और प्यार न पा सका, वह उस प्रिया से वंचित रहा जिसमें समस्त सौन्दर्य-सत्य समाया हुआ हो। चरम सत्य को पाने की लालसा और जिज्ञासा के कारण कवि अभी भी संकेत कर रहा है कि खोज जारी है, वह सत्य उसके अभी हाथ में नहीं आया है। यह कविता कवि के अनवरत अन्वेषण को व्यक्त करती है। रचनाकार की स्थिति भी यही होती है कि उसे सही माध्यम नहीं मिलता। कभी-कभी कवि उसी खोज को एक दूसरी शैली में लपेटता है :

"छिलके के भीतर छिलका क्रम अविच्छिन्न
तो क्या यह कैसे हैं सिद्ध कि भीतरम है होगा ही
बाहर से भिन्न ।"[2]

कवि की दृष्टि में माध्यम तो सहारा भर होता है – बिचौलिया भर और उसकी जरूरत थके हारे इन्सान को भी गुलाम नहीं बना सकती है, किन्तु उसका थोड़ा सा आभास-भीतरी पर्दे का एहसास हृदय के भीतरी हिस्सें में खलबली मचा देता है, सारे अनुभव खण्डों को थरथरा देता है।[3] सच यह है कि अज्ञेय अपनी रचना के माध्यम से ही 'टोटल यूनिवर्स' से मिलने का उपक्रम करते हैं। वे पहले बाहर देखते हैं, फिर उस देखे हुए को भीतर समा लेते हैं और फिर उसी को भीतरी तौर पर कहते हैं। अनुभूत को बाहरी खोल में लपेट कर कहने में संकट का वह क्षण आ जाता है जो उसे पीड़ा देता रहता है। यह पीड़ा, वह बैचेनी और भीतर की यह कुतरन और खुसर-पुसर ही उन्हें अधिक कहने से भी रोकती है। उनकी मान्यता है कि "जाने हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच का तनाव ही सृजन का मूल मन्त्र है। लेखन इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न

1. कन्हाई ने प्यार किया, पृ० 38
2. छिलके, पृ० 33
3. मैंने ही पुकारा था, पृ० 17

है। निस्संदेह यह हल अन्तिम नहीं हो सकता, क्योंकि संवेदन ही तो नया अनुभव, नया तनाव पैदा करता है।"[1]

जितना कह देना आवश्यक था
कह दिया गया, कुछ और बताना
और बोलना अब आवश्यक नहीं रहा।"[2]

संवेदना और अभिव्यक्ति के बीच की दरार को छायावादी तो सुनहली भाषा से पाट सकें, किन्तु बौद्धिक चेतना के कवि अज्ञेय अभी भी 'क्राइसिस' से गुजर रहे हैं और यह न तो बेमानी है और न बनावटी ही। वे शब्दों की अपेक्षा 'मौन' को ज्यादा मुखर समझते हैं, उसमें सारी अनभिव्यक्त अभिव्यक्ति आ मिलती है :

आवश्यक अब केवल होगा चुप रह जाना
अपने को लेना सम्हाल
सम्प्रेषित के अर्पित, निभृत क्षणों में
अब जो कुछ उच्चारित होगा, कहा जाएगा।
तब होगा पल्लवन, प्रस्फुटन
इसी द्विदल अंकुर का।"[3]

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि कविता को साध्य और साधन दोनों मानता हुआ भीतरी तौर पर सत्य की, सौन्दर्य की उसके सहारे सारी मानवीय स्थिति की असली खोज में प्रयत्नरत है। कवि की ये पंक्तियाँ पढ़िये और उक्त कथन की सार्थकता को देखिए :—

कविता तो ऐसी ही बात होती है
नहीं तो लयबद्ध बहुत सी खुराफात होती है
ऐसी ही बात
दिल फोड़कर रहस्य से आती है
भीतर का जलता प्रकाश बाहर लाती है
स्वयं फिर नहीं दीखती और सब कुछ दिखाती है
उसी सब में कहीं
कवि को भी साथ लेकर
लय हो जाती है।"[4]

1. अज्ञेय : आलवाल : निबन्ध संग्रह, पृ० 10
2. आवश्यक कविता, पृ० 43
3. वही, पृ० 43
4. कविता की बात, 92

आत्मा का अन्वेष्ण—सत्य का साक्षात्कार, मौन की अनुभूति और चेतना के विविध रूप 'सागर मुद्रा' की कविताओं का प्रमुख कथ्य है। कवि का अन्वेषी अथवा मानवीय स्थिति का अन्वेषी स्वभाव बार-बार कविताओं में मिलता है। साथ ही टोटल यूनिवर्स के प्रति अदम्य आस्था व्यक्त करने वाली अनेक कविताएँ कवि की मानव-आस्था की खोज का ही परिणाम है। 'मौन' को महत्त्व देने वाला कवि इस संकलन में कई जगहों पर मौजूद है। 'दोनों सच हैं', 'गाड़ी चल पड़ी', 'आवश्यक', जो औचक कहा गया है और नदी का कहना आदि इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। कवि का यह अटूट विश्वास बनावटी नहीं है कि मौन द्वारा सम्प्रेषण सम्भव है। संवेदनाओं की सच्ची भाषा में तो मौन ही है शब्द तो बुदबुद हैं जो आकर चले जाते हैं। 'मौन' ही जाने हुए और कहे हुए के बीच के अन्तराल को सही रूप से पाट सकता है।

'सागर मुद्रा' शीर्षक से लिखी गयी कविता लम्बी कविताओं की श्रेणी में आती है। यह 12 अंशों में सँजोयी गयी है। ये सभी अंश परस्पर जुड़े हुए हैं। इनमें एक अनिवार्य अन्विति है, जिसका टूटना असाध्य वीणा में अखरता है। उसमें मुझे स्मरण है मुझे स्मरण है के कच्चे धागे से लम्बी कविता को बाँधने की कोशिश टूट-टूट जाती है, लेकिन 'सागर-मुद्रा' में सागर इन अंशों को तह में लहरा कर इनमें खाली जगह नहीं रहने देता, अपने जल से इसे भरे रखता है, दरारे नहीं पड़ने देता है। इसका बिम्ब विधान भी इसकी गवाही देता है''[1] पहली साँस में कवि 'सत्ता' के निजता भूलने, अपने में सिमट जाने और उसकी दीठ को खोयी सी हो जाने की बात कहता है। सत्ता की निजता भूलकर अपने में सिमट जाना आत्मान्वेषण की पहली भूमिका है तभी तो वह उससे जो कहलाता है कि "तुम सागर क्यों नहीं हो?" बड़ा पेचीदा और जटिल प्रश्न है। 'सागर', 'चेतना' और उसकी भीतरी पर्त उसे वैसा ही होने को ललकारती है। आत्मन्वेषण के दौरान की की मुक्ति यहीं है। इसी से कवि मुक्त होने पर जोर देता है। ' सागर जो न बड़ा है न चौड़ा है वह तो मुक्त कराता है।'' यह मुक्त स्थिति सहज स्थिति है—जीवन की सहजता है। निर्बन्धमुक्त रहने की स्थिति पर पूरा बल है। यह स्थिति आत्मान्वेषण या आत्म साक्षात्कार का परिणाम है। यह बात भी अन्यत्र भी अनेक सन्दर्भों में अनेक ढंग से कही गयी है। मुक्त होने की बात पर जोर देने का कारण यह है कि इस सत्य को सागर की तरह ही बंधन की परिधियों में बाँधकर नहीं रखा जा सकता है। सत्य तो निर्बन्ध है इसीलिए उसको असली और अन्तिम रूप में पाना कठिन है और पाने की यह बीच की क्रिया तनावपूर्ण है। इसी तनाव के कारण कवि जवाब के लिए शब्द नहीं जुटा पाता है।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान : आलोचना और आलोचना कृति की राह से, पृ० 95

आगे चलकर इसी कविता में जीवन के कचरे की ओर संकेत किया गया है। जीवन के विविध संदर्भ, विविध क्षण जिनमें "खाली बोतलें, दफ्ती की तश्तरियाँ, रोटी और पनीर के टुकड़े, टमाटर के छिलके, मुड़ी मुड़ी कागज, बालू में अधदबी पन्नी, कागज के कुचले हुए गिलास समुद्र की रेती में पड़े हैं। ये सब कचरा हमारी जिन्दगी की कहानी की ओर सकेत करता है जिसमें सुख-चैन की कहानी है, प्यार के वायदे हैं, हँसी हैं, उत्सव हैं और दोस्ती व दुनियादारी है। इसी वजह से हम इस रेती को जिस पर हमारी थाप है—जिन्दगी की छाप है चाहे अनचाहे रिश्ते हैं, सीमा में बाँधकर रखना चाहते हैं—साँचे में भरते हैं, किन्तु सागर जो मुक्ति पर बल देता है वह उसे धो देता है, आँधी माँज देती है, समीर बहता हुआ उसे छूकर चला जाता है और फिर :

> "सागर रह जाता है
> तरंग अँगुलियों पर गिनता
> मानव के अद्भुत उद्यम, सनकी अपने
> स्वैरचारिणी चिन्ता।"[1]

यहाँ आकर कवि की यह संवेदना स्पष्ट हो जाती है जिसमें कवि की चेतना बीते हुए भोगे हुए या किये गये सारे मानवीय स्वप्नों को ज्यों का त्यों छोड़कर अलग हो जाती है। सागर पर अँधेरा छा जाता है, सब जगह स्थिरता और जड़ता का जमाव घिरता जाता है। सभी कुछ स्थिर हो जाता है, किन्तु तनाव की ललक 'चिनगियाँ' उसे विकीर्ण करती है; किन्तु कुहरा उमड़कर सबको धुँधला कर जाता है। यहाँ आकर मनुष्य की चेतना, उदासी और ललक सभी कुछ एक में मिल जाता है। यह मिलना ही अस्तित्व का लोप हो जाना है : सब कुछ हममें खो गया। हम भी ही हम में खो गये।" अस्तित्व का लोप कवि को कभी स्वीकार नहीं और मन का रोना उसे रुचता नहीं है। अतः उसकी खिन्नता, उदासी और जड़ता भव्यता और चेतन संदर्भ लेकर आस्था का आलोक बिखेरती है :

> "हमने क्या सागर को इतना कुछ नहीं दिया ?
> भोर, साँझ, सूरज, चाँद के उदय-अस्त
>
> ❀ ❀
>
> जो भी पाया दिया : आदि-आदि"[2]

इस खिन्नता के बाद की भव्यता की प्रक्रिया में कवि की चेतना जो आस्था व्यक्त करती है वह सीमित नहीं, बँधी हुई नहीं वह तो जीवन और जगत पर अदम्य

1. सागर मुद्रा, पृ० 69
2. वही, पृ० 72-73

आस्था—मानवीय आस्था का ही प्रतिरूप है। कवि की आस्था चेतन है तभी तो वह अपने से अलग होकर अपनी इयत्ता को माप रहा है, अपने अस्तित्व का बोध कर रहा है :

"अपने से अलग होकर
अपनी इयत्ता माप सकें—
और सह सकें।"[1]

इसी तरह आगे के अंश में वही सागर चट्टानों से टकरा कर लौट-लौट जाता है—नया ज्वार भरने के लिए। यह चेतना में नई ललक भरने के लिए लोटना है। इस तरह जीवन में न प्रश्नों का अंत हो पाता है, न हार और जीत का बल्कि वह "केवल परस्परता के तनावों का एक अविराम व्यापार बन कर रह जाता है जिनमें भव्यता का बोध है, तृप्ति है, अहं की तुष्टि है और उस विराट सौन्दर्य की पहचान है। जाहिर है कि खोज का क्रम कभी खत्म नहीं होता। सारी हार-जीत के बाद भी यह खोज ही शेष रह जाती है। "निरन्तराल खोज का एक अन्तहीन संग्राम।" आत्मान्वेषण का क्रम कवि को आत्मनिवेदन या आत्मालाप की ओर ले जाता है इसी में कवि की चेतना भव्यता का अनुभव करती हुई याचकी मुद्रा में जीवन से जुड़ने का संकेत देती है। यह संकेत : यह निवेदन और यह सागर की मुद्रा चेतना का रूप उसे मानव और जीवन से गहरे जोड़ देता है, उसकी चेतना अपने आप से, समाज से कटकर नहीं रहना चाहती है। मानवीय आस्था के क्रम में प्रेम, मन, कर्म, दर्द और ज्ञान सभी इस चेतना से जुड़ जाते हैं और जुड़ कर बदल जाते हैं :

यों मत छोड़ दो मुझे सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो सागर,
मेरी दीठ को और मेरे हिए को,
मेरी वासना को और मेरे मन को,
मेरे कर्म को मेरे मर्म को
मेरे चाहे को और मेरे जिये को
मुझको और मुझको और मुझको
कहीं मुझ से जोड़ दो
यों मत दोड़ दो मुझे सागर"[2]

1. सागर मुद्रा पृ. 76

2. वही, पृ. 77

फिर चेतना में सब समा जाता है, कोई किसी से अलग नहीं रहता। कविता को पूरी करते हुए कवि अन्त में 'सागर' और धरती के प्रतीकों से ही अनश्वर और नश्वर का संकेत देता है। उसकी दृष्टि में सागर-चेतना कभी मरती नहीं, उसकी अविराम यात्रा शान्ति और आस्था की यात्रा है जबकि धरती का नभी कुछ बेचैन करने वाला हाहाकार जुड़ता भर है, समाप्त होने वाला है, अपने को बिना पहचाने समाप्त होने की प्रक्रिया है। अन्तिम अंश में कवि की चेतना जिस किनारे पर जा लगती है वह शब्दातीत है, चिन्तन से परे है, तभी तो कवि का हृदय जो राग अलापता है, अनुभूति की जिस प्रक्रिया से गुजरता है, वह मौन की प्रक्रिया है जिसकी व्यंजना के लिए शब्द कमजोर और तर्क अपंग हो जाते हैं।

संकलन का मूल भाव यही है जो 'सागर मुद्रा' कविता में है। इसके अतिरिक्त कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें आत्मान्वेषण तो है पर साथ ही अपने स्वाभिमान और अस्तित्व बोध के प्रति भी कवि सतर्क हैं। वह जिन्दगी के थपेड़ों से थका हारा होकर भी किसी का गुलाम नहीं है। वह तो वहाँ भी अपने को पाने के लिए प्रयत्नरत है। कतिपय कविताओं में वह मृत्यु पर, प्रेम पर तथा जिन्दगी की तड़प और प्रश्नमयी स्थितियों पर सोचता है। इन सभी में वह प्रश्नाकुल है यस प्रश्नाकुलता ही सच है क्योंकि यह भी तो उसे एक खोज के लिए ले जाती है जहाँ न तो खिन्नता है और न तनाव है। वह किसी भी स्थिति में खिन्न और निराश नहीं, 'विदाई गीत' ऐसी ही खिन्नता को काटता हुआ ओ मीत! कोई उदास गीत गाना ना' पर आकर टिक गया है। इस तरह वह सारी संत्रस्त भूमिकाओं को पार कर जिस जगह आता है वह उसकी आस्था की प्रतीक रेखा को व्यक्त करता है, तभी तो उसे 'कसैले भूरे कोहरे में प्रकाश की अनगिन थिगलियाँ दिखाई देती हैं और अधर में लटका हुआ सवाल' भी अपने पीछे जलती हुई बस्तियों में चमका हुआ लगता है। यह आस्था की अनुभूति ही 'मौन' से मिलकर अमर आस्था को जन्म देती है। अतः यह कहना सही है कि अज्ञेय आस्था का अटूट सम्बल लिए हुए हर संघर्ष, हर प्रश्न और अनुताल भोगते सन्दर्भों में भी जी रहे हैं। ऐसी स्थिति में "वे आदमियों से बातचीत करते एक आदमी" अशोक वाजपेयी की की दृष्टि में नहीं भी हैं तो यह उनकी दृष्टि है। वे अपने से ही अपने आप आदमियों की बात जरूर करते हैं। फिर ऐसी स्थिति में अशोक वाजपेयी का यह कथन क्या अर्थ रखता है कि जिसमें वे कहते हैं कि "उनमें मानवीय उपस्थिति अपेक्षाकृत बिरली है"[1] हाँ, मानवीय उपस्थिति सेअज्ञेय की हिस्सेदारी जिस शैली में व्यक्त हुई है, वह नम्रता और सन्तुलन की शैली है। उसमें छितराव नहीं सघनता है। कहने की हड़बड़ी उनमें नहीं है, बराबर एक बौद्धिक संयम है जिसके खाते में वे मानवीय उपस्थिति का हिसाब जमा करते रहते हैं।

"क्योंकि मैं उसे जानता हूँ"

इस कृति में अज्ञेय द्वारा रचित 54 कविताओं को स्थान प्राप्त है। ये वे

1. अशोक वाजपेयी : फिलहाल पृष्ठ 81

कविताएँ हैं जो 1965 से 1968 के बीच लिखी गयी हैं। इसमें संकलित सात कविताओं के अलावा शेष कविताओं को दो उप शीर्षक मिले हैं—गूँजेगी आवाज और 'प्रार्थना का एक प्रकार।' 'गूँजेगी आवाज' के अन्तर्गत 17 कविताएँ हैं तो 'प्रार्थना का एक प्रकार के "के अन्तर्गत 30 कविताओं को जगह मिली है। समग्र दृष्टि से यदि इस सग्रह में निबद्ध रचनाओं के वर्ण्य विषय पर दृष्टिपात करें तो कह सकते हैं कि इनमें कुछ सत्यान्वेषण संयुक्त हैं, कुछ सामाजिक संदर्भों की भूमिका पर लिखी गई हैं, कुछ प्रणय भाव की बोधक हैं और कुछ में कवि आत्मविश्लेषण या कहें कि आत्मान्वेषण का प्रयत्न करता दिखाई देता है। आलोच्य संग्रह का शीर्षक इस बात की गवाही देता है कि कवि अपने परिवेश से प्रतिबद्ध है और अपने आस-पास के संसार को बखूबी जानता है। यह परिवेश प्रतिबद्धता 'कितनी नावों में कितनी बार' में भी थी, किन्तु आलोच्य संग्रह में यह अपेक्षाकृत अधिक फैल गई है। समाज और सामाजिक जीवन से उसकी पहचान न केवल गहरा गई है वरन् वह उसके लम्बे और गहरे अनुभव का परिणाम भी है। असल में कवि की अनुभूतियों के गोलक में वह सब आकर सिमट गया है जो रोजमर्रा की जिन्दगी से जुड़ा है, जो उसने देखा, जाना और समझा है। प्रकृति, प्रेम, दर्द समर्पण, आस्था, जिजीवषा और सत्यानुभूति से प्रेरित आलोच्य सग्रह की कविताएँ जब सामाजिक धरातल का स्पर्श करती हैं तो कवि व्यंग्य लिखता है। उसके व्यंग्यों में कसावट है, वह छिछले स्तर का नहीं है। नपी-तुली शब्द योजना के सहारे बड़ी से बड़ी अनुभूति को अभिव्यक्त करने की कला इस सग्रह की कविताओं में मिलती है।

"क्योंकि मैं उसे जानता हूँ" संकलन अज्ञेय का ताजा संदर्भ प्रस्तुत करता है। इसमें उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की अनेक छटाएँ हैं: कुछ पुरानी पहचान से जुड़ती हुई और कुछ ऐसी जो नयी भूमियों पर उतरती हुई अज्ञेय के नए चिन्तन की पहचान कराती हैं। अज्ञेय शुरू से ही अनुभव और अभिव्यक्ति के बीच के संकट पर हमेशा खड़े रहे हैं। यह संकट यहाँ भी मौजूद है। इस संकट बोध से एक ओर वे अपने कलानुभव को अर्थ देते हैं और दूसरी ओर सारी दुनियाँ को अपने में समेटते हुए उपस्थित है ,दर्द' पर कवि बार-बार विचार करता है, पर हर बार उसे एक नया अर्थ देकर। दर्द का अवमूल्यन नहीं" संशोधन करके पेश करना अज्ञेय की सारी काव्य-यात्रा का एक अनुपेक्षणीय संदर्भ है। पीड़ा का क्षण देशकाल मुक्त होता है, उसकी स्थिति स्वतः सिद्ध और स्वतः पूर्त है। 'मोड़ पर का गीत', 'दास व्यापारी', 'कच्चा अनार', 'बच्चा बुल बुल', औपन्यासिक' 'मैत्री' और 'रात में' आदि कविताओं में कवि कहीं सीधे, कहीं सांकेतिक रूप से दर्द की बात कहता चलता है 'दुख सबको माँजता है कहने वाला कवि यहाँ आकर उसे और नया व्यापक संसार प्रदान करता है। अज्ञेय का दर्द अकेले उन्हीं का दर्द नहीं है; वह तो आदमी दर आदमी का दर्द उसकी परिधि का सीमांकन नहीं किया जा सकता है; वह तो शब्दातीत दर्द है, फिर उसकी व्यापकता स्वतः सिद्ध है क्योंकि यह दर्द मानव का है, कवि का है, मूल्य का है

और अभिव्यक्ति का है। इसी से सारे परिवेश का है। यही 'अस्मिता का संकट' 'आइडेन्टिटी ऑफ क्राइसिस' है जो आज मूल्य बनता जा रहा है। वह परिवेश तथा उसके दबाव को व्यक्त करता है। आज हम जिस विन्दु पर हैं, वह जगह जहाँ हम नहीं हैं, वह जगह जहाँ हम जी रहे हैं या जीने के लिए विवशता के हाथों जकड़ लिए गए हैं, वहाँ सारा परिवेश ही ऐसा है। ऐसे संकट-ऐसी पीड़ा को जिसमें समूचा परिवेश समाया हुआ है अज्ञेय ने व्यापकता दी है। 'औपन्यासिक' कविता में वे कहते हैं :

"कौन या कब अकेले बैठकर शराब पीता है ?
यों या जब अपने को अच्छा नहीं लगता अपने को
सहन नहीं सकता।"[1]

शराब-खाने की जरूरत नदी किनारे के अभाव को व्यक्त करती है— सुख की अनुपस्थिति को बतलाती है। आज चारों ओर दर्द ही दर्द है। हर मानव दर्द से कराहता हुआ दर्द की शराब पी रहा है, अकेलापन दर्द का अहसास है और अकेला न होने पर :

"नदी के किनारे तुम मुझे अकेला
नहीं होने दोगी, तो शराब पीना कोई
क्यों चाहेगा, यह भी कभी सोचा है ?,'[2]

'हँसते हुए दर्द' को झेलना जहाँ एक ओर हमें शक्ति देता है, वहीं दूसरी ओर हम पल भर के लिए सारी थकान को भूल जाते हैं। यह पल ही सत्य है और इस सत्य में न दर्द है न शराबखाना।"[3] इसी प्रकार समय की धुन्ध से दबकर प्यार तो ज्यों का त्यों रहता है, पर उदासी की भूमिका निभाता हुआ आपसी मिलन जिस दर्द को शब्दों में बाँधने की कोशिश करता है, वह नाम हीन दर्द है— नया दर्द है :

"और आज तुमने कहा :
कितना उदास है
यह बरसों बाद मिलना।
प्यार तो हमारा ज्यों का त्यों है
पर क्या इस नये दर्द का भी कोई नाम है।[4]

इसी प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच का तनाव क्षण भी अज्ञेय के इस संकलन में मौजूद है :

1. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृ. 60
2. वही, पृ. 61
3. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृ. 62
4. वही, पृ. 69

गहरी बात यह है कि दोनों के बीच
एक क्षण है कहीं एक मोड़ है
जिस पर स्वयं सिद्ध जोड़ है और वहीं,
उस पर ही
गाना है
यह गीत जो मरेगा नहीं[1]

इस तनाव को वे 'मौन' से 'चुप्पी' से वाणी देते हैं क्योंकि अनुभव की गहराई और अभिव्यक्ति की दूरी को पाटने का यही सही लक्षण है। इसी कारण कवि गाना गुनगुनाने से दूर रहता हुआ 'मौन' से ही निहाल है :

"शब्द सूझते हैं जो गहराइयाँ टोहते हैं
पर छन्दों में बँधते नहीं
बिम्ब उभरते हैं जो मुझे ही मोहते हैं,
मुझसे सधते नहीं,
एक दिन होगा।—तुम्हारे लिए लिख दूँगा
प्यार का अनूठा गीत,
पर अभी मैं मौन में निहाल हूँ
गाना गुनगुनाना नहीं चाहता।[2]

'प्यार' और 'करुणा' की कविताएँ भी संकलन में मिल जाती है : कुछ उदाहरण देखिए :—

1. नहीं तो और क्या है प्यार
सिवा यों
अपनी ही हार का अमोघ दाव किसी को सिखाने के
किसी के आगे
चरम रूप से बेध्य हो जाने के।[3]

2. प्यार :
एक यज्ञ का चरण जिसमै मैं मेध्य हूँ
प्यार

1. वही, पृ. 2
2. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृ. 48
3. वही, पृ. 48

एक अचूक वरण
कि जिसके द्वारा
मैं मर्म में वेध्य हूँ[1]

कुछेक कविताओं में परम्परा को रास्ते का रोड़ा बताया गया है तो कहीं अस्ति और नस्ति की व्याख्या आम भाषा में की गई है।" फूल से पंखुड़ी तो झरेगी को 'और फूल मुरझायेगा : वही तो नियति है। होने का फल है" पंक्तियों में सृष्टि के निर्माण और विनाश की प्रक्रिया की ओर संकेत है। अधिकांश कविताओं में दिया जाना "देना-दे देना" या समर्पित होने से उत्पन्न सुख और उल्लास का वर्णन है। "पाना" प्राप्त करने का सुख देने के सुख से हल्का है। पा लेना तो "अस्मिता" का टूट जाना है। इससे तो सहना कठिन है। "देने का भाव" ही इस भावना को उद्दीप्त करता है कि "देना नहीं है निःस्व होना और वह बोध तुम्हें फिर स्वतन्त्रतर बनायेगा।" जैसा कि मैंने कहा है अज्ञेय की कविताओं ते निरन्तर एक खोज दिखाई देती है। यहाँ भी वह आस्था की खोज के लिए बैचेन है। वह सोचता है कि कभी तो मानवीय अस्तित्व की रक्षा के लिए आस्था निष्ठा की आवाज, जो अनिवार्यता है, सारे परिवेश में छा जाएगी। निश्चय ही अज्ञेय इस संकलन में कतिपय "रिपीटेड" भाव-बोध को छोड़कर काफी ताजा और आधुनिक लेखक के आधुनिक होने के संकट को झेल रहे हैं। उनमें सारा परिवेश सिमट गया है। वे अधिकांश जगहों पर मानव उपस्थिति के साथ है—दर्शक ही की तरह नहीं, बरन् सच्चे गवाह या भोगते हुए मनुष्य की तरह कविताओं में जो परिवेश है वह कवि की अस्तित्व के प्रति जागरुकता को भी व्यक्त करता है, भले ही उसका सन्दर्भ निजी हो। मनुष्य से मनुष्य का हो या राजनीति का हो, प्यार का हो, दर्द का हो, अभिव्यक्ति का हो। सभी के प्रति आश्वस्त भाव से-आस्था से ही वह जी रहा है। उसकी आस्था की आवाज गूँजेगी क्योंकि :

'जल जायेंगे नगर, समाज, सरकारें
अरमान, कृतित्व, आकांक्षाएँ,
नहीं मरेगा विश्वास :

नही निकलेगी गले की फाँस
टूट जाएंगी मानवता·
नहीं चुकेगी कमबख्त मानव की साँस[2]

1. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ पृ. 65
2. वही, पृ. 39

और
'तब वे आयेंगे
वे जिन्होंने
धरती में विश्वास नहीं खोई
जिन्होंने जीवन में आस्था नहीं खोई
जिनके घर
उन पहलों ने नष्ट किये
महासागर में डुबोये,
पर जिन्होंने अपनी जिजीविषा
घृणा के परनाले में नहीं डुबोयी
उनकी डोंगियाँ
फिर इन तरगों पर गिरेंगी

अजर अजस्त्र शृंखला में
जनमेगा पनपेगा
ऐल मनु अजित अघर्ष
अविधीत आत्मतन्त्र[1]

जाहिर है कि कवि यहाँ मानवीय उपस्थिति के साथ है और उसकी पीड़ा को पूरी आस्था से पूर देने की कोशिश में लगा हुआ है 'क्योंकि मैं कविता' उस आलोचना के भाल पर प्रहार है जिसमें कवि को ऊपर ही ऊपर, सतह पर घूमने का अपराधी ठहराया गया है। असल में कवि उस आदमी को जानता है, उसके अभावों, पीड़ाओं और मेहनत 'कश' जिन्दगी को उसने करीब से देखा है जो उसका पार्श्ववर्ती है। उस मानव से कवि को प्यार है, क्योंकि उसकी पीड़ा से वह भी तिलमिला उठता है :

क्योंकि मैं
उसे जानता हूँ
जिसने पेड़ के पत्ते खाये हैं,
और जो उसकी जड़ की लकड़ी भी खा सकता है
क्योंकि उसे जीवन की प्यास है।

❀ ❀ ❀

1. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ पृ. 13

क्योंकि जिसने कोड़ा खाया है
वह मेरा भाई है

मैं उसका पड़ौसी हूँ
उसके साथ रहता हूँ ।'[1]

संकलन की कविताओं का एक संदर्भ वह भी है कि जिसमें राजनीति और कुल, राजनीति और धर्म, राष्ट्रीयता और उससे जुड़े मानव की बात कही गयी है। इन कविताओं में समसामयिक ससार है जो बोलता है : व्यंग्य करता है और किसी में किसी से कोई भेद न करता हुआ कवि बड़ी मार्के की बात कहता है। इस सन्दर्भ की कविताओं में 'आजादी के बीस बरस,' दिया हुआ न पाया हुआ,' अहं राष्ट्र संममनी जानानाम, 'दास-व्यापारी' तू-फू को : बारह सौ वर्ष बाद', 'जनपथ×राजपथ', हथौड़ा अभी रहने दो, 'केले का पेड़' और देश की कहानी :' दादी की जबानी' आदि प्रमुख हैं। इन सभी में राजनीति, उसमें घुटते, आदमी, प्रजातन्त्र, भारतवासी, संस्कृति का विघटन, जीवन की सच्चाई, धर्म निरपेक्षता का ढोंग, इन्सान की लाचारी, उसकी नियति और आजादी की विडम्बना पर कवि जमकर बड़े सधे हुए ढंग से कभी हँसता और कभी व्यंग्य करता चलता है। इन कविताओं में वह सारा परिवेश अंट गया है जिसमें आजादी 'के बाद का इतिहास है। आजादी' एक नंगा शब्द है जिससे कुछ नहीं हाथ लगा, न आदमी आदमी को पहचानने लायक हुआ और न कोई ऐसा परिवर्तन ही हाथ लगा जिसमें इन्सान इन्सान बनकर रह सके। मिला तो यह :

आजादी के बीस बरस से
बीस बरस की आजादी से
तुम्हें कुछ नहीं मिला :
मिली सिर्फ आजादी।'[2]

'मिली सिर्फ आजादी' की व्यंजना मर्मान्तक है। इन्सान क्या बना ? लाचारी और बेवसी का अजूबा बनकर रह गया जिसके पास सब कुछ है : आँख, कान, नाक और दिमाग भी, किन्तु फिर भी नारे लगाना, प्रयाणगीत भर गाना और उसी में मगन रहने का ढोंग या बेबसी, जो चाहे नाम दें, बची है। कहने को सब मिला पर वह नहीं मिला जिसे सही अर्थों में मिलना कहते हैं। इन्सान किसी अनजाने अधर में लटका हुआ है। वह अकेला और बेसहारा बन गया है :

1. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृ. 25
2. वही, पृ. 13

'मैं तुम, यह वह, हम सब सारा जहान थैली का हर चट्टा-बट्टा हर इन्सान' ऐसा हो गया है। इसे न तो जीतना आता है और न जीतने का संकल्प उसके पास है। वह तो हारा हुआ है, हारने का शील उसे बपौती दरौती में मिला है जैसे हारखाना, पिट जाना ही हमारी परम्परा है। इन्सान के पास न कोई दृढ़ता है, न पक्की भीत और न कोई पक्का मीत' फिर भी वह यह मानने को तैयार नहीं कि मुझे कुछ नहीं आता है। प्रजातांत्रिक पद्धति में जीने वाला इन्सान इसके अलावा और हो भी क्या सकता है ? सिवाय इसके कि वह दूसरों द्वारा जिया जाय—भोग लिया जाय और अपने भोगे जाने पर भी वह खुश है वह 'केले का पेड़' है जिसके पास रीढ़ नहीं है—पूरी तरह लुजलुज है—तनकर खड़ा होने या अपने ऊपर निर्भर रहने की उसकी आदत ही नहीं है।

'अहं' राष्ट्र संगमनी जनानाम् कविता धर्मनिरपेक्षता के नाम पर चल रही धर्मान्धता और शोषक वृत्ति पर व्यंग्य करती हुई आगे बढ़ती है। कवि लगे हाथों थोथी इन्सानियत पर भी चोट करता है। उसकी पीड़ा की गवाह निम्नांकित पंक्तियाँ प्रजातन्त्र के ढकोसले और उसके नाम पर ली जाने वाली गैर कानूनी सुविधा को भी साफ जुबान में बोलती हैं—

> यों सब आये मेला जुट गया।
> यही मैं न जान पाया कि इस पंचमेल भीड़ में
> वह समाज कहाँ छुट गया ?
> और जिसमें पहचानना था देश का चेहरा
> वह आईना कहाँ लुट गया ?[1]

आज हमारा समाज जिस भ्रष्टता की ओर जा रहा है, जिस शोषण और स्वार्थ का ही प्रजातन्त्र का मूल्य मान बैठा है, वही सब पूरी सफाई के साथ इस कविता का प्रतिपाद्य है। इस परिवश में घिरे कवि की पीड़ा इस बात को लेकर है कि यह देश सही मानियों में राष्ट्र कब हो सकेगा जिसमें आदमी सुख-चैन की जिन्दगी बसर कर सके ? हमारा प्रजातन्त्र प्रजापत्य विरोधी नारों से गूँज रहा है और ये नारे ही हमारी आजादी की अब तक की ईजाद हैं।

आज हम जिस पाशविक संस्कृति की रौ में बहे जा रहे हैं, वह उधार की संस्कृति है—सही अर्थों में यह वह सभ्यता है जिसने हमें लगातार खाते रहने वाले शब्दातीत दर्द, ईर्ष्या, वासना, हिंसा, अपमान, बेइज्जती, आत्म प्रवंचना और अनेक जानलेवा खाईयाँ और पशुता जैसे तत्व दिये हैं। इन्हें लेकर हम अपनी पीढ़ियों का इतिहास लिख रहे हैं और जो एक ओर मानवता की इति का सबूत है तो दूसरी

1. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृ, 20

और तात्कालिक हास-आनन्द का थोथा दस्तावेज भी है। हम फिर भी खुश हैं— अपना इतिहास बनाने में और उधर पश्चिमी संस्कृति की भैंस देश में बीचोंबीच बैठकर आराम से जुगाली कर रही है हम क्या करें ? योजना आयोग क्या करे ? वह तो :

> विचार उगाते हैं
> आयातित रासायनिक खाद से
> अन्तर्राष्ट्रीय करमकल्ले ।[1]

कैसा तीखा व्यंग्य है ? कितनी मर्म को चीरने वाली पीड़ा है और कितनी सरल लाचारी है यह ? अनुभूति की चीज है। इन्सान जैसे न गर्म रहा न सर्द, उसकी सूरत बेपानी हो गयी है और वह जरा सी ठेस लगने से शीशे सा दरक जाता है, किन्तु उसे अपने इन्सान होने से कोई सरोकार नहीं रह गया है। वह अपने तिरस्कार के लिए खुद जिम्मेदार है। इस तरह अज्ञेय मानव की सही स्थिति के सच्चे गवाह बनकर आये हैं। आक्रोश की गलीज़ भाषा और एकदम चौंकाने वाली शैली उनकी नहीं है। वे तो मानवीय परिवेश से सीधा साक्षात्कार करते हुए भी उसे बड़े इन्सानी ढंग से जिसमें कहीं-कहीं भोलापन भी है, कहकर चुप हो गये हैं जैसे देख रहे हों कि इन्सान को अपनी ही तस्वीर देखकर कैसा लग रहा है ? देश की कहानी : दादी की जबानी और साँझ सवेरे कविताएँ हमारे जीवन से खिसके यथार्थ और वर्तमान की अनुपस्थिति पर व्यंग्य की कविताएँ हैं। इनमें आम भाषा को अपनाकर तो कवि ने जान डाल दी है। एक में पहले से लेकर लोकतन्त्र के क्षण तक का इतिहास है— ऐसा इतिहास जिसमें हमारी उपलब्धि सही स्मारकों और संग्रहालयों तक सीमित होकर रह गयी है यानी हम और हमारी दृष्टि अतीत धर्मी है, या सिर्फ औपचारिकता के निर्वाह की स्थिति है। यथार्थ से हम कतराते हैं या हम उसे अपने पिछड़ेपन के कारण अभी भी नहीं जान पाये हैं। व्यंग्य आजादी की सारी स्थितियों को एक शब्द में कह रहा है। दूसरी में भी व्यंग्य है और बहुत तीखा है। कवि की वेदना भी इसमें है और हमारे जन-मानस को छलनी किये दे रहे मध्ययुगीन संस्कार भी हैं, जो हमें अतीत की स्मृति या भविष्य की कल्पना के दो पाटों के बीच पिसने को मजबूर करते हैं—

> रोज सबेरे मैं थोड़ा सा अतीत में जी लेता हूँ —
> क्योंकि रोज शाम को मैं थोड़ा भविष्य में मर जाता हूँ ।[2]

1. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृ. 28
2. वही, पृ. 63

कहीं-कहीं कविताओं में निराशा का स्वर भी सुनाई पड़ जाता है : 'कहीं राह चलते-चलते है मुझे ज्ञात दिन चुक जाएगा'[1] या फिर 'इथर मैं निःस्व हुआ। पर चुभन अभी सालती है कि मैंने तुम्हें कुछ दिया नहीं।'[2]

चुकने का भय और उसमे उत्पन्न उदासी निःशेष हो जाने पर भी न कुछ दे पाने की चुभन अभी भी कवि के मानस की कितनी ही पर्तों की बखिया उधेड़ती है। लगता है दर्द, करुणा, प्यार, बेवसी, अचकचाहट, अपने को दे देने का भाव और मानवीय आस्था व उससे जुड़ा समूचा संकट कवि चेतना को बार-बार झकझोरता है। इसी से वह सारे जहान की सैर के बाद भी घूम-फिर कर इसी रेखा पर आ जाता है : रेखा जो समूचे देश, समाज और मानव की रक्षा-पंक्ति है। इस तरह अज्ञेय की अब तक की काव्य-यात्रा ऐसे यायावारी कवि की यात्रा है जो लगातार खोज में लगा रहा उस आदमी की, देश की, उस समाज की, उस स्थिति की, उस क्षण की जिसमें आस्था चुपके से आकर बगल में बैठ गयी है एक संकल्प लेकर, किन्तु वह उसे अभी मिली नहीं है। मिला है एक बेजुबान संसार, एक अपंगु समाज, एक ढीला इन्सान और उससे जुड़ी कितनी ही घिनौनी, कमजोर, लाचार, असमंजसभरी यातनाएँ और भयावह व निमर्म-क्रूर स्थितियाँ जिसमें जीने, भोगने, दिये जाने और न कुछ पाने की पीड़ा है। ये सारे सन्दर्भ मानवीय सन्दर्भ हैं। इनमें आज के परिवेश का दबाव है और है चाहते हुए भी न कुछ कर पाने की लाचारी, किन्तु इन सारी बातों के ऊपर कवि को एक आस्था-बिन्दु दीख रहा है जो रेखा बनकर कभी भी, किसी भी क्षण मानव के सारे पीड़क घावों को धो देगा। वह मरहम-पट्टी ही सच है, उसके बिना जीवन कब चलता है ? इस संग्रह की भाषा आम आदमी की भाषा है। इसमें न आभिजात्य शब्दावली का भार है और न कच्चे माल की खपत ही इतनी कि उसका कथ्य और स्वरूप ही बिगड़ जाये। निस्संदेह इस भाषा के निर्माण में कवि ने बड़ा श्रम किया है। इसके शब्द बोलते हैं और अपना अर्थगर्भ भाव सही रूप में पाठक तक भेज देते हैं। भाषा की तरह प्रतीक भी सीधे और ऋजु हैं। उपमान और बिम्ब भी सादगी से सराबोर और रसमग्न करने वाले हैं। उनमें जीवन का स्पंदन है। शैली भी रोजाना की जिन्दगी से तालमेल बिठाती है। उसकी धमनियों में लोकजीवन का रक्त प्रवाहित हो रहा।

पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ :

इस काव्य संग्रह में अज्ञेय की 1970 से 1973 के बीच लिखी गई कविताओं को स्थान मिला है। कुल 48 कविताओं के इस संग्रह को तीन उप शीर्षक

1. क्योंकि मैं उसे जानता : पृ. 49.
2. वही, पृ. 54.

मिले हैं : 'वन झरने की धार', खुले में खड़ा पेड़' और 'नन्दा देवी'। यों तो अज्ञेय प्रारम्भ से ही चिन्तनशील रहे हैं; किन्तु उनके चिन्तन की धार 'आँगन के पार द्वार' से उत्तरोत्तर पैनी होती गई है। क्यों न होती ? जिस कवि ने एक विराट व्यक्तित्व की खोज को ही अपना लक्ष्य मान लिया हो, वह कविता के सहारे क्रमशः सूक्ष्म और गहरा न होगा तो कौन होगा ? 'आँगन के पार द्वार' में सत्यान्वेषण प्रमुख था; 'कितनी नावों में कितनी बार' में आत्मा-वेषण के सहारे जो भी पाया उसे निर्भ्रान्त कहने का आग्रह प्रबल रहा; 'सागर मुद्रा' म उसका अनुभूत और लब्ध सत्य उसके व्यक्तित्व का संस्कार बन गया तो 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' में उसी संस्कारित सत्य को समकालीन परिवेश की सच्चाईयों का सार्थवाह बनाकर प्रस्तुत किया गया है और 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' में अब तक पाया सत्य काल-चिन्तन की धुरी पर घूमता हुआ अपने अन्वेषित को पूरी ईमानदारी से कह गया है। जाहिर है कि अज्ञेय का सत्यान्वेषण यहाँ पूर्वापेक्षा न केवल गहरा और ईमानदार होकर आया है; अपितु यहाँ उसे भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन की धारणाओं के पात्र में ढालकर पूरे विश्वास के साथ आसव की तरह पिलाया भी गया है।

संग्रह की पहली कविता ही महत्वपूर्ण संकेत देती है। 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' शीर्षक से लिखी गई यह कविता 'आँगन के पार द्वार' की 'पर सबसे अधिक मैं सन्नाटे के साथ मौन हूँ; वही बतलाता है कि मैं कौन हूँ' जैसी पंक्तियों का ही एक विस्तृत संदर्भ है। बुनकर का आरोप करके इस कविता में जो अनुभूति संकेतित है वह काव्य की रचना-प्रक्रिया; उसके माध्यमों; स्थितियों और तटस्थ द्रष्टा –उन्मेष्टा सर्जक के गहरे सत्यान्वेषण का ही परिणाम है। कवि का कथ्य यह है कि सृजन के प्रारम्भिक क्षण मौन के होते हैं। दूसरे क्षणों में सर्जक मौन की अनुभूतियों की व्यंजना के लिए शब्दों के तार और अनुभूतियों के स्वरों–अभिव्यक्ति के माध्यमों की तलाश और चुनने की प्रक्रिया से गुजरता है। वह उन्हें मजबूत ताने में–अर्थात् उपयुक्त शब्दों में गाँधता है; रसों में डुबोता है, तब कहीं वह अपने इन स्वरों के ताने को 'बाने'—छन्द में बिठाता है। काव्य रचना की यह प्रक्रिया कवि मानस की गिर्री पर भावानुभूति की डोरी के रूप में इधर से उधर घूमती हुई जो नक्शा उभारती है, वह मात्र कवि का ही नहीं होता है; इस संसार का भी होता है जिसमें वह जीता रहता है। यही सन्नाटे का जाल है जिसे बुनकर कवि का भोक्ता मन बाहर आ जाता है उससे बँधता नहीं है। इस जाल का बुनकर तो कवि है। उसी के हाथों यह कविता तैयार हुई है; पर वह इसमें होकर भी बँधा नहीं है और यह जाल में न बँधना ही उसके सच्चे सर्जकत्व की पहचान है :

> यों बुन जाता है जाल सन्नाटे का
> और मुझ में कुछ है कि उससे घिर जाता हूँ।

सच मानिये, मैं नहीं है वह
क्योंकि मैं जब पहचानता हूँ तब
अपने को उस जाल के बाहर पाता हूँ।
फिर कुछ बँधता है जो मैं न हूँ, पर मेरा है।
वही कल्पक।"[1]

'हरा अंधकार' कविता में अंधकार ही चरम रूपाकार का प्रतीक बनकर आया है। यही सत्य और यथार्थ का विस्तार है। परम्परा से प्राप्त प्रकाश में सत्यान्वेषण के कपाट नहीं खुल पाते हैं क्योंकि तब हम उपलब्ध सत्य के ही अनुगत हो जाते हैं। अतः कवि उस कच्चे और हरे अंधकार को ही अपना सगा समझता है क्योंकि वह जानता है कि यही वह अनसंधेय मार्ग है जो तिमिरावृत है और अभी तक अप्रविष्ट है। इस कविता में अज्ञेय ने प्रतिपादित किया है कि सत्यान्वेषण का कार्य अपने बूते ही किया जा सकता है और उसी दिशा-कक्ष में किया जा सकता है जो अभी तक अनछुआ रहा है। ठीक भी है हर कलाकार को अपनी लड़ाई अपने बलबूते पर ही लड़नी होती है।

अज्ञेय की चिन्तना को निरूपित करने वाली इस संग्रह की कविताओं में वे कविताएँ भी शामिल हैं जो 'सागर-मुद्रा' 12, 13 और 14 शीर्षकों से लिखी गई हैं। इसी शीर्षक से वे 11 कविताएँ पहले लिख चुके हैं। उन्हीं की एक कड़ी के रूप में इन कविताओं को समझा जा सकता है। 'सागर-मुद्रा 12' में कवि 'सागर' की पहचान को तलाशता प्रतीत होता है। सागर से टकरा कर बहुत कुछ टूट जाता है; पर वह खुद से कभी टकरा नहीं पाता है; अतः किसी भी टूट फूट का दायित्व उसका नहीं है। कवि का प्रश्न है कि हे सागर तुम्हारी पहचान कहाँ है? क्या वहाँ है 'जहाँ धरती और आकाश/देश और काल मिलते हैं;/जहाँ सागर तल की मछली छटपटाकर उछल कर/वायु माँगती है/जहाँ आकाश का पक्षी सनसनाता गिर कर/नीर को चीरता है/जहाँ नौका पतवार खोकर पलट कर तल की ओर/डूबने लगती है/वहाँ तब, देश और काल और अस्ति के उस/त्रितय सन्निपात की धार पर/तुम्हारी पहचान कौंधती है और लय हो जाती है कि तुम प्राण हो/कि तुम अन्न हो/कि तुम मृत्यु हो/कि तुम होते हो तो खो जाते हो/क्योंकि हम खोते हैं तो होते हैं'/कवि का संकेत यही है कि सागर जब जब मथा जाता है तब तब उससे सत्य का अमृत मिलता है और उस पल सारे भेद तिरोहित हो जाते हैं। सागर यहाँ इस विशाल 'यूनीवर्स' का प्रतीक है—विराट चेतना का प्रतीक है। वही प्राण देता है—जीवन देता है; पोषण कर्त्ता है और वही अन्ततः मृत्यु की गोद में धकेल देता है। अतः सागर को

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ : पृष्ठ 11

पहचान इन तीनों स्थितियों के समीकरण के मन्त्र से ही समझी जा सकती है। इसी अभेदत्व को निरूपित करती हुई कवि की चेतना जिस बिन्दु पर आकर टिकी है, वह यह है:

'रात होगी/जब तूफान तुझे मथेगा/
जब ऊपर और नीचे/ठोस और तरल और वायव/
आग और पानी/बनने और मिटने के भेद लय हो जाएंगे :
तो क्या हुआ ? वहीं तो अस्ति है !
तूफान ने मुझे भी मथा है और वह लय/मैंने भी पहचानी है/
छोटी ही है, पर सागर/मेरी भी एक कहानी है'/[1]

'सागर मुद्रा 13' में कवि ने सागर को अपनी 'धमनियों की आग', 'लहू में स्पंदित राज-रोग', महाकाल, मेघ, ज्वार, बीज, दिग्विहीन, निदाघ, कीट दंश आदि कहा है। यहाँ आंतरिक चेतना को सागर कहा गया है जो इस बाहरी सागर की तरह ही दिग्विहीन और निरन्तर उद्वेलित रहता है। बाहरी सागर तो आँधी, तूफान, वर्षा आदि अनेक प्राकृतिक और भौगोलिक कारणों से आन्दोलित-उद्वेलित रहता है, किन्तु मानवीय चेतना की आंतरिकता से जुड़ा यह सागर व्यक्ति की अन्त-हीन वासनाओं के कारण उद्वेलित होता रहता है। हर पल व्यक्ति की कामनाएँ अन्तहीन प्रश्नों में उलझती रहती है। 'सागर मुद्रा 14' में कवि ने सागर को मरण का भी मरण; मृत्यु का भी काल और बीज का भी बीज माना है। इतना ही नहीं वह तो 'आदिम रस जिसमें समस्त रूपाकार/अपने को रचते हैं/जिसमें जीवन आकार लेता है, बढ़ता है बदलता है/ओ सागर, काल-धाराओं के संगम/काल-वाष्प के उत्स/काल-मेघ के लीलाकाश/काल-विस्फोट की प्रयोग भूमि/ ' भी है। 'सागर' को कवि ने वृहत् आंतरिक चैतन्य माना है जो जीवन की समस्त स्थितियों का नियामक और सूत्रधार है। वह महत् शक्ति है—चैतन्य शक्ति है जो सबमें और सर्वत्र व्याप्त है। यही व्यक्तित्व की आन्तरिकता है जो मानव की हरेक स्थिति का सूत्र-धारिणी है।

'खिसक गयी है धूप', 'तुम सोये', मेज के आर-पार', 'शिशिर का भोर' मे 'वन झरने की धार' जैसी कविताओं में कवि की अनुभूतियाँ चिन्तन के गाढ़े रंगों से निकल कर तरल, मधुर और प्रेमिल हो गयी हैं। 'मेज के आर-पार' में प्रणयबोध से जुड़ी अकथित व्यग्रता और मधुर स्पर्श की नामहीन अनुभूति को 'एक के पैर पर दूसरे का निर्मम दबाव/एक हथेली में दूसरी की निर्दयी चिकोटी' कहकर व्यजित किया गया है। 'शिशिर का भोर' में प्रकृति बोध की अनुभूति अंकित है तो 'वन

1. पहले मै सन्नाटा बुनता हूँ : पृष्ठ 27

झरने की धार' में प्रेम की एकांतिक अनुभूति से उत्पन्न स्मृति जन्य वेदना की तरलता चित्रित हुई है तभी तो वन-झरने की धार को अंजुरी पसार कर ग्रहण करने से क्लान्ति, तृषा, अवसाद की रेखाएं विलुप्त हो जाती हैं और एक स्मृति कवि के मन को भिगोती रहती है :

'मैं ठिठक रहा/मुड़ गई डगर/
वन-झरने-सी तुम/मुझे भिजाती/
चली गयीं/सो चली गयीं …/[1]

'खुले में खड़ा पेड़' खण्ड के अन्तर्गत जो 18 कविताएँ हैं; उनमें से अधिकांश में आधुनिक मूल्यों और विसंगतियों पर व्यंग्य किया गया है। जो पुल बनायेंगे' कविता में कवि का कथ्य यह है कि जो मार्ग तलाशते हैं, सेतु का निर्माण करते हैं वे पिछड़ जाते हैं। निर्माता होकर भी बन्दर कहलाते हैं। यही तो विडम्बना है कि मूल्यों के निर्माता उपेक्षित और तिरस्कृत होकर जीते हैं और जो उन मूल्यों और माध्यमों के सहारे आगे बढ़ जाते हैं वे मान पाते हैं—पूजित होते हैं। 'हीरो' में

भी व्यंग्य है जो हल्के हास्य से मिलकर आया है : 'सिर से कंधों तक ढ़के हुए/वे कहते रहे/कि पीठ नहीं दिखायेंगे/पर जब गिरने पर/उनके नकाब उलटे/तो उनके चेहरे ही नहीं थे'/[2] 'बाबू ने कहा' का व्यंग्य भी प्रभावी बन पड़ा है; पर यह वह व्यंग्य नहीं है जो भीतर से छील दे; यह तो सहज अस्वीकार की मुद्रा से जन्मा है। आज की पीढ़ी की यह विशेषता है कि वह स्थापित का विरोध करती है और निषेध को पहले स्वीकारती है :

"बाबू ने कहा : विदेश जाना/तो और जो करना सो करना
गो-मांस मत खाना/
अन्तिम पद निषेध का था/स्वाभाविक था उसका मन से उतरना
बाकी/बापू की मानकर/करते रहे और सब करना।/"[3]

आलोच्य संग्रह में कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जिनमें अस्तित्व बोध उभरा है। 'कोई है जो' में काल-बोध की सापेक्षता में अस्तित्व का प्रश्न उठाया गया है। अतीत में जीने वाले और भविष्य धर्मी चेतना वाले भग्यवान हैं क्योंकि उन्हें न अतीत का बोध है और न भविष्य की जानकारी है। आज जो वर्तमान हो जाना चाहता है या वर्त-

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता 22
2. वही पृष्ठ 38
3. वही पृष्ठ 40

मान में संघर्ष करता हुआ अपने अस्तित्व को पाने के लिए प्रयत्नशील है वह 'अस्ति' को पकड़ना चाहता है; किन्तु उसकी ट्रेजेडी यह है कि वह भी वर्तमान को कहाँ पकड़ पाता है ? कारण; वर्तमान को पकड़ने के प्रयास में ही वह व्यतीत होने लगता है। वर्तमान अपनी निरन्तरता में लगातार संक्रमित होता रहता है। 'मृत्युर्धावति पंचम:' में कवि ने मृत्यु बोध के सदर्भ में अस्तिबोध को उजागर किया है। कवि का प्रश्न है कि क्या कहीं भी कोई ऐसा द्वार नहीं है ? जो व्यक्ति को मृत्यु से बाहर कर दे : 'क्या कोई नहीं है द्वार/इस भय के पार ?/इससे क्या नहीं है निस्तार/या कि वह भय ही है/एक द्वार/उस तक जो/सबको दौड़ाता है/निर्विकार'[1] 'देखिए न मेरी कारगुजारी' कविता में कवि की चिन्तना का विषय यह है कि आज मनुष्य खाली हाथ है; उसका खुद का उसके पास कुछ भी नहीं है; सबका सब मँगनी का है जिसे लौटाकार जो बचता है वह यह मिथ्या दर्प है कि 'सारा समाज मेरा अहसानमन्द है'। व्यक्ति की विडम्बना का यह रूप व्यंग्य शैली के सहारे अतिरिक्त प्रभावी बन गया है। 'दुस्साहसी हेमंती फूल' की ये पंक्तियाँ देखिए जिनमें संकेतित है कि समाज में परिवर्तन हो रहा है। किन्तु कुछ दुस्साहसी अपनी जिद पर अड़े हैं कि हमें मानव की अपसृष्टियों से लड़कर अपने को कायम रखना है, किन्तु कवि की व्यंजना तो देखिए कि जीवन किन विडम्बनाओं से ग्रस्त है :

> 'शैतान/केवल शैतान से लड़ सकता है/
> हम अपने अस्त्र चुन सकते हैं : अपना शत्रु नहीं/
> वह हमें/चुना-चुनाया मिलता है'/[2]

इसी खण्ड की 'खुले में खड़ा पेड़' कविता भी महत्वपूर्ण है। इसमें कवि भी एक प्रकृति दृश्य को देखकर उद्दीप्त हो जाता है और खीझ उसके मन को झिंझोड़ती है। फलत: प्रकृति के बहाने वह बँधनों के विरुद्ध विद्रोही हो उठता है : घरवाली को डाँटता है; बच्ची को पीटता है, दफ्तर में जाकर बॉस पर कुढ़ता है और खीझ के कारण बड़े बॉस को दाँतों के बीच से सिसकारती गाली देता है। वह सामाजिक बन्धनों से कुढ़ता हुआ अन्ततः यह कह देता है 'क्यों मेरी अकल मारी गई थी कि मैं/देहात में देखने गया/खुले में खड़ा पेड़ ?'[3] 'देहात' यहाँ सामाजिक बन्धनों के अतिरेक का और 'खुले में खड़ा पेड़' स्वच्छंद स्थिति का प्रतीक बनकर आया है।

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ : पृष्ठ 53
2. वही : पृष्ठ 55
3. वही : पृष्ठ 56

'नन्दा देवी' खण्ड के अन्तर्गत जो 15 कविताएँ संकलित हैं, उनमें नन्दा देवी की पहाड़ी की भव्यता, गरिमा–सुषमा और महत्ता को तो चित्रित किया ही गया है; प्रकृति की विविध आकर्षक छवियों के साथ-साथ अनेक प्रश्नों को भी उठाया गया है जिनमें व्यक्ति, व्यक्ति का मन, उसकी समस्याएँ और सभ्यता के प्रसार से सम्बन्धित स्थितियों तक को निरूपित किया गया है। ऊपर तो नन्दा है और नीचे धरती पर मनुष्य के अन्तहीन गोरख धन्धे चल रहे हैं। इस खण्ड की दूसरी कविता में यदि सामाजिक विपन्नता, विषमता प्रशासन के मिथ्या आश्वासनों का हवाला दिया गया है तो तीसरी में नन्दा की ऊँचाई; मन्दिर की स्थिति और व्यक्ति के मन की प्रश्नाकुलता और अस्थिरता संकेतित है। कवि की ये पंक्तियाँ देखिए :

'कल के लिए हमें/नाज का वायदा है—/
आज ठेकेदार को/हमारे पेड़ काट ले जाने दो;/
कल हाकिम/भेड़ों के आयात की/योजना सुनावेंगे/
आज बच्चों को/भूखा ही सो जाने दो''/[1]

आधुनिक सभ्यता के क्रूर हाथों से प्राकृतिक सुषमा ध्वस्त और छिन्न-भिन्न होकर विवर्ण होती जा रही है। मनुष्य बेतहाशा दौड़ रहा है और जीवन के प्राणद मूल्यों से वियुक्त हो रहा है। यह स्थिति कवि को पीड़ा देती है। अतः वह वैज्ञानिक प्रगति का सही अनुमान करते हुए वेदनासिक्त होकर कह उठा है :

'नंदा,
बीस, तीस, पचास वर्षों में
तुम्हारी वन-राजियों की लुगदी बनाकर
हम उस पर
अखबार छाप चुके होंगे
हमारे धूँधुआते शक्तिमान ट्रक
तुम्हारे सन्नाटे को चीथ रहे होंगे।'....[2]

संक्षेप में यही कि 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' कविता-संग्रह में अज्ञेय की चिन्तना काल-बोध, समयबोध और अस्तित्वबोध की पहचान कराती हुउ समसामयिक स्थितियों को शब्दबद्ध करती हुई सत्यान्वेषण में रत दिखाई देती है। प्रदर्शन यहाँ नहीं है; आरोपित स्थितियों का अभिव्यंजन भी यहाँ नहीं है और अविश्वसनीय संदर्भ भी यहाँ रेखित नहीं हैं, है तो एक कवि की निश्छल और ईमानियत से भरपूर अन्वेषणी वृत्ति जो अपने लब्ध सत्य को सार्थक भाषा में बाँधकर पाठक को सौंपती है। शब्द शब्द से गहरे अर्थ को पकड़ती, पंक्ति-पंक्ति से जीवन मूल्यों की स्थिति को

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ पृष्ठ : 60
2. वही : पृष्ठ 65

व्यक्त करती और हर अनुभूति मे पाठक को विस्मित-विमुग्ध करती कवि की प्रतिभा का अभिव्यंजन-संप्रेषण ही यहाँ है।

महावृक्ष के नीचे :

'महावृक्ष के नीचे' संग्रह में अज्ञेय की 1974 से 76 तक की बयालीस कविताओं को स्थान मिला है। इसमें संकलित कविताओं में जहाँ एक ओर अज्ञेय परिपक्वता और गहराई की ओर बढ़े हैं वहीं अपनी अभिव्यंजना में सरलता की ओर भी अग्रसर हुए हैं। इन कविताओं के विषय तो प्रायः वे ही हैं; किन्तु उनकी प्रस्तुति बदली हुई है। वे आभिजात्य शब्दावली के चमक-दमक वाले पाश को यथार्थ की तीखी छुरी से काटते हुए सड़क के मध्य चल रही भाषा को काव्य-सर्जना का सक्षम माध्यम बनाने में सफल हुए हैं। यहाँ शब्दों का मिजाज नर्म तो है; पर उनकी नरमाई में अर्थ की गरमाई भी काफी है। अधिकतर शब्दों की आत्मा में अपने आस-पास फैले अर्थ अनुभव और संदर्भ आकर कुछ इस ढंग से जमा हुए हैं कि लगता ही नहीं कि कोई भी अनुभूति कच्ची और कोई भी शब्द अजनबी है। यदि संग्रह की पहली कविता को छोड़ दें तो अधिकतर कविताएँ प्रकृति-बोध अथवा सौन्दर्य-बोध को जमीन पर रची गई हैं। इतना ही नहीं शरद, वसंत हेमंत पर पहले भी अज्ञेय ने अपनी अनुभूतियों को शब्दबद्ध किया था और यहाँ भी कई कविताओं में कई कोणों से उन्हें उजागर किया गया है। अन्तर इतना ही है कि अज्ञेय की अधिकांश अनुभूतियाँ यहाँ प्रकृति-बोध की जमीन पर आकर भी पूरी तरह प्रकृति से नहीं जुड़ी हुई हैं; अपितु वे व्यक्ति-मानस की छवियों से भी दीप्त और अनुरंजित हैं और यह अनुरंजन करुणा प्रधान अधिक है। कहीं-कहीं 'सेटायर' और 'ड्रामेटिक स्टाइल' के कारण तो निजी से लगने वाले संदर्भ भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पढ़े-समझे जा सकते हैं। जर्मनी-प्रवास के दौरान लिखी गई कविताओं में संदर्भ विदेशी होते हुए भी वे कवि की चेतना या संस्कारवत्ता को दबा नहीं पाये हैं। एक दो कविताएँ ऐसी भी हैं जो सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिम्बित करती हुई; आपात् स्थिति को सांकेतिक व्यंजना प्रदान करती हुई कवि की परिवेश प्रतिबद्धता को स्पष्ट करती हैं। आलोच्य संग्रह की पहली कविता 'नाच' है। इसमें अस्तित्ववादी चिंतक नीत्शे की भाँति अज्ञेय ने मानवीय तनाव को प्रस्तुत किया है। दो खंभों के बीच तनी हुई रस्सी पर कवि इधर से उधर नाच रहा है—अनवरत श्रम कर रहा है। दुनियाँ के लोग उसके नाच अथवा कौशल को देखते हैं। "वे न तो मुझे देखते हैं जो नाचता है/न रस्सी को जिस पर मैं नाचता हूँ/न खंभों को जिस पर रस्सी तनी है/न रोशनी को ही जिसमें नाच दीखता है/लोग सिर्फ नाच देखते हैं।" कवि का संकेत यह है कि मेरा नाच नाच नहीं है; वह तो इस खंभे से उस खंभे तक की अनवरत, किन्तु निरर्थक दौड़ है। अस्तित्ववादी चेतना में रँगी ऐसी ही पंक्तियाँ शमशेर ने भी लिखी है : "एक आदमी दोनों कुहनियों से पहाड़ों को ठेलता..."। निरर्थकता का यह बोध ही कवि-

मानस में या कहें कि व्यक्ति की चेतना में तनाव पैदा करता है। कवि यहाँ एक सिरे से दूसरे सिरे तक की दौड़ लगाता तो है और लोग उसके इस कौशल से विस्मित भी हैं; किन्तु इस दौड़ के दौरान वह जिस तनाव और 'हॉरर' को झेलता है उसे नहीं देखता है। आस्था और जिजीविषा के कारण कवि उस तनाव से मुक्ति भी चाहता है :

> "मैं केवल उस खंभे से इस खंभे तक दौड़ता हूँ,
> कि इस या उस खंभे से रस्सी खोल दूँ
> कि तनाव चुके और ढील में मुझे छुट्टी हो जाये—
> पर तनाव ढीलता नहीं।"[1]

मानवीय आस्था के विश्वासी अज्ञेय यह संकेत भी दे रहे हैं कि मानव में यदि यह जिजीविषा न हो तो वह जिन्दा कैसे रहे? यह आस्था ही तो है जो उसे जिलाये हुए है। कभी तो वह पल आयेगा ही जब इस तनाव से मुक्ति मिलेगी। बस इसी उम्मीद में व्यक्ति अपनी जिन्दगी को खतरों के हवाले करके लोगों से प्रशंसा पाता रहता है और अपना नाच दिखाता रहता है क्योंकि यही उसकी विवशता है। आम व्यवहार की भाषा में ही अज्ञेय ने यहाँ अपने मंतव्य को स्पष्ट कर दिया है। 'चुपचाप नदी' कविता में भी मानवीय विवशता को पोसते हुए आधुनिक व्यक्ति का संदर्भ संकेतित है। एक ओर तो आज का आदमी चुपचाप सब सहता जाता है और दूसरी ओर उसके भीतर स्मृतियाँ कसमसाती रहती हैं—उसकी इच्छाओं से टकराती रहती हैं। निःशब्द होकर इस स्थिति को भोगने के अलावा कोई विकल्प भी नहीं है। 'झर गयी दुनियाँ' कविता में अज्ञेय ने आज के जीवन की स्थिति को रूपायित किया है कि आज आदमी; उसके प्रश्न और उसकी समस्याएँ सभी अर्थहीन हैं क्योंकि जीवन का यही सब तो दुनियाँ है। और यही दुनियाँ अपने समूचे संघर्षों और प्रश्नों के साथ कवितावद्ध हो रही है। इसी से मिलती जुलती कविता 'मथो' है। मनुष्य का अन्तर्वाह्य मानस संघर्षरत है। इन दोनों के मध्य का संघर्ष ही मथानी है। आज हम 'जो है' और 'जो नहीं है' के दो वर्गों के बीच पिस रहे हैं ठीक उसी तरह जैसे देवासुर के मध्य समुद्र मिथा था। जिन्दगी अमृत के बजाय हलाहल बाँट रही है। संकेत यही है कि सुख और दुख के मध्य अथवा बाहर और भीतर के मध्य जो संघर्ष चल रहा है; वह क्या देगा कहा नहीं जा सकता है। 'हट जाओ' कविता में आपात् स्थिति के संदर्भ में देश के नेतृत्वधारियों पर तीखा व्यंग्य किया गया है।

'जियो देश' शीर्षक कविता में समकालीन भारत, भारतवासियों और भारत के सत्ताधीशों पर व्यंग्य किया गया है। व्यंग्य की धार पैनी कम है, किन्तु फिर भी

1. महावृक्ष के नीचे : पृष्ठ 11

समकालीन जीवन के एक परिदृश्य को उभारती है। 'सम्भावनाएँ' कविता में जिन्दगी की औपचारिकताओं पर चोट की गई है तो 'बौद्धिक बुलाय गये' कविता में आधुनिक जीवन की विडम्बना का एक चित्र है और अन्त मे वही व्यंग्य मे जुड़ गया है : "जिन पर श्रद्धा थी/वे चेहरे भीतर/उतार लिये गये थे/सुना है उनका निर्यात होगा/विदेशों में श्रद्धावान चेहरों की बड़ी माँग है।"[1] प्रकृति-सौन्दर्य से सिक्त कविताओं में अज्ञेय पूर्वापेक्षा यहाँ अधिक उदात्त भूमिका पर हैं। वे प्रकृति के अनुरागी कवि हैं और उसी अनुराग भाव से प्रेरित होकर वे प्रकृति की न केवल अनाघ्रात छवियाँ उठाते हैं; अपितु अपनी मौलिक भावनाओं को भी प्रस्तुत करते हैं। 'साल दर साल' में पार्वतीय सुषमा के चित्र हैं। "पारसाल तो वनाग्नि के कारण सारी वनराजि झुलस गई थी; किन्तु इस बार वर्षा में उसकी डालों पर काही झूल गई है।" कवितांत मे कवि की आस्था-जिजीविषा रेखांकित हुई है। 'नन्दा' शीर्षक कविता में पहाड़ी-विनसर की वनवीथियो म खड़े चीड़ो की पत्तियों के तमियाये रग उनके कोरों की पीतिमा और डालो के मुड़-मुड़कर तथा हवा के झौंके के साथ मंडल बनाती चीड़ की पत्तियों को दीप-लक्ष्मी का रूपक प्रदान कर नन्दा की आरती उतारती चित्रित किया गया है :

> "डालें मुड़-मुड़कर/ऊपर को जाती-सी
> हवा के झौंके के साथ, मंडल बनाती-सी
> चीड़ : दीप लक्ष्मी/निर्जन में/नन्दा की/
> आरती उतारती।"[2]

घावे; धूप-सनी छाया; 'वसंत आया तो है; पिछले वसत के फूल' और 'शरद विलायती' आदि कविताओं में प्राकृतिक सौन्दर्य की छवियाँ चित्रित हुई हैं। इन सभी में कवि हृदय की करुणा, पीड़ा और प्रेमिल भावनाओं को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। अतः कह सकते हैं कि विषय की दृष्टि तो इस सग्रह में लगभग वैसे ही संदर्भ हैं जो पहले की कृतियों में आये हैं; किन्तु यहाँ सहज अनुभूतियों और सादगी भरी भाषा के कारण पुराने विषय भी नवीन और आकर्षक बन गये हैं। यहाँ पार्वतीय सौन्दर्य की आभा को अज्ञेय ने कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। इन कविताओं की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये चिंतन के भार को उतार कर और अभिजात्यपूर्ण शब्दावली की केंचुल फाड़ कर अपने सहज किन्तु आत्मीय शिल्प में बंधकर आई हैं।

1. महावृक्ष के नीचे पृष्ठ 45
2. वही पृष्ठ 17

प्रवृत्ति-विश्लेषण

अज्ञेय का काव्य विद्रोह और निराशा से शुरू हुआ; व्यक्तिवादी चेतना के साये में पला; जिजीविषा में रंगा एक ऐसा आस्थावादी काव्य है जिसमें अन्वेषण के सशक्त आयाम विकसित हुए हैं। उनका प्रारम्भिक काव्य छायावादी चेतना के सूत्र लेकर लिखा गया है; किन्तु वे सूत्र नये इसलिये लगते हैं कि उनका रंग स्वतन्त्र है। कवि की विद्रोही भावना ने उन्हें छायावाद से जोडकर भी अलग रखा है। अपने मध्यवर्ती काव्य में उनका अहं समाजोन्मुख होकर मानवास्था की शक्तियों से जुड़ गया है। उसमें परिष्कार, अन्वेषण, संकल्पीवृत्ति, समसामयिक परिवेश प्रेरित नवीन और आधुनिक चेतना विकसित हुई है। परवर्ती काव्य में आकर वे सत्यान्वेषण करते-करते एक ऐसे बिन्दु पर आ गये हैं जहाँ आत्मविसर्जन प्रमुख हो गया है। इस समस्त काव्य में जो प्रमुख प्रवृत्तियाँ उभरी हैं वे उनकी राग-संवेदना; बौद्धिकता, क्षणवादिता; व्यक्तिवादिता, मानवास्था, जिजीविषा, वेदनानुभूति, प्रणयानुभूति, सौन्दर्यानुभूति, सत्यान्वेषण, आत्मान्वेषण, समसामयिकता और राष्ट्रीयता आदि की भावनाओं से सम्बद्ध हैं।

वैयक्तिकता और सामाजिकता

अज्ञेय के प्रारम्भिक काव्य में व्यक्तिवादिता का स्वर गहरा है। उनकी मान्यता रही है कि समाज व्यक्ति को अनुशासन में बाँधकर उसकी स्वतन्त्र व्यक्ति सत्ता को आहत करने की चेष्टा करता है जो अनुचित है। हाँ; व्यक्ति स्वतः ही समाज से अपनत्व रखकर उसके प्रति समर्पित हो तो ठीक है। ऐसा होने से व्यक्ति का अहं भी तुष्ट होता है और आत्मदान का मार्ग भी प्रशस्त होता है। इस दृष्टि से यदि अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन करें तो स्पष्ट होता है कि पहले उन्होंने अनेक ऐसी कविताएँ लिखी हैं जिनमें उनकी व्यक्तिवादिता, अहंनिष्ठता और व्यक्ति-भावना अभिव्यक्त हुई है। कवि ने व्यक्ति पर समाज के अवांछित बोझ और नियंत्रण को अपने अहं से अस्वीकार कर दिया है। 'भग्नदूत' की कतिपय कविताओं में यह प्रवृत्ति अधिक है। व्यक्ति-वैशिष्ट्य का यह स्वर 'दिवाकर के प्रति दीप' में स्पष्टतः प्रतिध्वनित है। वहाँ दीप अपनी लघुता के प्रति सजग-स्वीकार लेकर भी 'दिवाकर' से कह ही देता है : "ज्योति तुम्हारी अक्षय है पर/जला-जलाकर नहीं बनी है/और इधर यह शिखा कंपमय/यह मेरी कितनी अपनी है।" कवि का 'उद्धत विद्रोही' जग से घिरा होकर भी सदा उससे अलग बना हुआ है किन्तु जैसी कि अज्ञेय की मान्यता है वे अपने व्यक्तित्व को समाजोन्मुख करने में भी बड़ी तत्परता दिखाते हैं। उनका अहं 'मैं' से 'हम' हो जाता है क्योंकि 'मैं' का मिथ्या अहंकार उसे अधिक समय तक शक्ति नहीं दे पाता है। यही कारण है कि अज्ञेय के काव्य में आई व्यक्तिवादिता और अहंनिष्ठता समाज के भीतर घुलती गई है। असल में अज्ञेय

अहंवादी और व्यक्तिवादी हैं नहीं। उनका व्यक्तिवाद समाज में विसर्जित होने के लिए ही है। कारण वह जानता है कि 'निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह'। स्पष्ट ही कवि अपने सामाजिक बोध के प्रति सजग है; अपने दायित्व के प्रति सचेतन है। यह प्रारम्भिक व्यक्तिवादिता ही अज्ञेय के काव्य में व्यापक सामाजिकता में परिणत हो गई है। हाँ; यह बात अवश्य है कि अज्ञेय ने स्पष्ट सामाजिक लेबुल लगी कविताएँ नहीं लिखी हैं क्योंकि उनकी दृष्टि किसी सीमा में बँधकर नहीं रह पाती है। साँचे में ढली सामाजिकता अज्ञेय की रचनाओं में भले न हो; किन्तु उन्हें घोर व्यक्तिवादी नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने अपनी कविता को किसी विशेष वाद के लिए विज्ञापनी कविता नहीं बनाया है। वे तो सहज भाव से 'नदी के द्वीप' में अपने अहं का पर्यवसान कर देते हैं। उनकी समष्टि चेतना में 'मम' के बिना 'ममेतर' का कोई अर्थ नहीं है। वस्तुतः 'मम्' और 'ममेतर' की संधि रेखा पर ही कवि की सामाजिकता का महल खड़ा हुआ है : "जो मेरा है वही ममेतर है"। 'नदी के द्वीप' कविता में कवि ने स्वीकार किया है कि व्यक्तित्व की सुरक्षा—द्वीप की सुरक्षा आवश्यक है : "किन्तु हम हैं द्वीप, यदि नदी अपने प्रवाह से द्वीपों को नष्ट कर भी दे तो भी कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार/मातः उसे फिर संस्कार तुम देना"/आगे चलकर यह व्यक्तिमत्ता स्पष्ट ही समाज की पंक्ति में मिल गई है। कवि ने स्पष्ट लिखा है :

"यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्वभरा मदमाता पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।"[1]

स्पष्ट है कि अज्ञेय की कविताओं में सामाजिकता का स्वर मुखरित है और जरूर है, किन्तु अपनी व्यक्तिमत्ता को साथ लेकर। वस्तुतः अज्ञेय की यह यात्रा जो 'मैं' से शुरू हुई और 'हम' तक आई, उनके व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की वह यात्रा है जो क्रमशः, स्तर दर स्तर सामाजिकता में विलीन होती गई है। उनकी यह स्वस्थ सामाजिकता स्पष्टतः 'मैं वहाँ हूँ' कविता में अभिव्यक्त हुई है :

"मैं सेतु हूँ, वह सेतु
जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है
जो हृदय से हृदय को; श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
अनुभव के स्तंभ से अनुभव के स्तंभ को मिलाता है,
जो मानव को एक करता है
समूह के अनुभव जिसकी मेहरावें हैं
और जनजीवन की अजस्त्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से

1. बावरा अहेरी पृष्ठ 62

चिर परिवर्तनशीला; सागर की ओर जाती, जाती जाती बहती है
मैं यहाँ हूँ—दूर दूर दूर।"[1]

'यही एक अमरत्व है' कविता में भी 'अस्मिता के विलय' को ही सामाजिकता और जीवन-कल्याण की परम महत्तम् निधि माना गया है। लगता है कवि अपनी भटकन को पहचान गया है। अतः वह अब समाज के जीवन के साथ खड़ा है। वह केवल निजी जिन्दगी नहीं जीता; अपितु सबकी जिन्दगी को अपनी मानकर सब के साथ जीता है। उसने 'कितनी नावों में कितनी बार' संग्रह की एक कविता में स्पष्टतः लिखा है :

"मैं उन सब की जिन्दगी जीता हूँ
जिन्होंने दुश्मन के टैंक तोड़े
जिन्होंने बममार विमान गिराये
जिन्होंने राहों में बिछाई गई विस्फोटक सुरंगें समेटी

× × ×

मैं मामूली, अकेला दुर्दम अनश्वर
मैं जो हम सब हूँ"[2]

अज्ञेय की सामाजिक चेतना इतनी गहरी है कि वे अपने 'अकेलेपन' को समूह में विलय कर देते हैं और तदुपरान्त कर्त्तव्य बोध से भर जाते हैं : "मेरा अकेलापन एक समूह में विलय हो जाता है/जिसके हर सदस्य का एक बँधा हुआ कर्त्तव्य है"/ स्पष्ट ही अज्ञेय के काव्य में व्यक्तिवादिता सामाजिकता के समक्ष नतशिर है। उनकी कविताओं में सामाजिकता की अभिव्यंजना मौन नहीं मुखर है; अप्रत्यक्ष नहीं प्रत्यक्ष है क्योंकि वे जानते हैं कि 'जिसने कोड़ा खाया है वह मेरा भाई है'। अज्ञेय की इस सामाजिकता का एक रूप वह है जो उन्हें समाज से देश तक ले आया है :

"यों सब आये, मेला जुट गया
यह मैं नहीं जान पाया कि इस पचमेल भीड़ में
वह समाज कहाँ छूट गया
और जिसमें पहचानना था देश का चेहरा
वह आईना कहाँ छूट गया ?"[3]

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृष्ठ 21
2. कितनी नावों में कितनी बार पृष्ठ 41
3. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : पृष्ठ 20

अज्ञेय समाज-विमुख कभी नहीं रहे. किन्तु यह भी उतना ही बड़ा सच है कि उन्होंने अपनी व्यक्तिमत्ता — निजीपन को कभी भी आहत नहीं होने दिया। 'भवन्ती' में उन्होंने साफ कहा है : "मैं फिर कहता हूँ, मैं नागरिक भी हूँ, कवि भी हूँ। हर समय दोनों हूँ। दोनों में से कोई सा अधिकार भी मैं छोड़ना नहीं चाहता हूँ। लेकिन आप से मेरा निवेदन यह है कि दोनों में से जिसे भी जब भी आप खरीदना या बरगलाना चाहते हैं, वह मैं तब नहीं हूँ।"[1] असल में जो लोग अज्ञेय को घोर व्यक्तिवादी और अहंनिष्ठ मानते हैं वे चालू बात करते हैं; कवि की कविताओं के किनारे-किनारे टहलने के शौकीन हैं; उनके भीतर प्रवेश कर सही अर्थ पाना उनके वश की बात नहीं। जब अज्ञेय यह कहते हैं कि "व्यक्ति को अपने प्रति भी उत्तर-दायित्व मानता हूँ समाज के प्रति भी ...... पर मैं अपने प्रति उत्तरदायित्व को प्राथमिक मानता हूँ और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को उसी से उत्पन्न'[2] तो यह संकेत देते हैं कि सर्जक की सर्जना का उद्देश्य दुहरा होता है। उसके (कलाकार) अपने सम्बन्ध से वह आत्मसुख और आत्मबोध पाता है तो सामाजिक भूमिका पर उसका उद्देश्य लोक-कल्याण होता है। यदि ऐसा न होता तो अज्ञेय यह क्यों लिखते कि "भावनाएँ तभी फलती हैं जबकि उनसे लोक-कल्याण का अकुर फूटे।" ऐसी स्थिति में अज्ञेय और उनके काव्य को नितान्त वैयक्तिक और असामाजिक मानना भ्रान्ति का शिकार होकर अक्षम्य भूल को न्यौतना है। समाजवादी चेतना से संयुक्त, मानवास्था के गायक और मानव की वेदना को हर पल भीतर हो भीतर सुमिरते हुए जब वे कहते हैं कि "मेरे हर सुख में/हर दर्द में, हर यत्न, हर हार में/हर साहस, हर आघात के हर प्रतिकार में/धड़के, नारायण! तेरी वेदना/जो गति है मनुष्य मात्र की"[3] तो भी क्या वे असामाजिक लगते हैं? नहीं न! वे तो अपने अस्तित्व की पचमुखी गागर को मानव के प्यार से भरना चाहते हैं। 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' में भी अनेक ऐसे संदर्भ-संकेत हैं जो कवि की सामाजिकता की गवाही देते हैं। उनकी यह सामाजिकता नागरिक जीवन से ही सम्बद्ध नहीं है; वह तो 'पर्वती गाँव' तक फैली हुई है जहाँ "छोटी से छोटी चीज की भी दरकार है/ आज की भूख-बेवसी की बेमुरव्वत मार है"/[4] 'महावृक्ष के नीचे' संग्रह की 'जियो मेरे' शीर्षक कविता में कवि की सामाजिकता उसकी समाज सम्पृक्ति से भी आगे जाकर देश की विविध स्थितियों से जुड़ गई है। फलतः कवि का स्वर व्यंग्यमय हो गया है :

1 भवन्ती पृष्ठ 80
2 भवन्ती पृष्ठ 81
3. कितनी नावों में कितनी बार पृष्ठ 34
4. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ पृष्ठ 60

"जियो मेरे आजाद देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधियों !
जो विदेश जाकर विदेशी नंग देखने के लिए पैसे देकर
टिकट खरीदते हो
पर जो घर लौट कर देसी नंग ढकने के लिए
खजाने में पैसा नहीं पाते;
और अपनी जेब में,— पर जो देश का प्रतिनिधि हो वह
जेब में हाथ डाले भी
तो क्या जरूरी है कि जेब अपनी हो ?"[1]

2. आस्था और जिजीविषा :

नयी कविता में आस्था और जिजीविषा को स्वर गहराई से उभरा है। यह उसकी प्रमुख विशेषताओं में से एक है। आस्था से तात्पर्य जीवन के प्रति आस्था से है। यह आस्था मानव की जिजीविषा में और अधिक निखरने लगती है। अज्ञेय का काव्य मानवास्था और जिजीविषा का काव्य है। उनकी आधुनिकता आस्था और जिजीविषा वलयित है। वे यथार्थ जीवन की विकृतियों. विसंगतियों, मूल्यों की टकराहट, जीवन व्यापी कटुता, भयावहता और भटकाव सभी कुछ का अनुभव करते हैं, परन्तु यह भी सोचते हैं कि यही काफी नहीं है। मानव को इससे भी आगे जाने की जरूरत है। आखिर विरोधों और नकारों की डोर मानव को कब तक साधे रख सकती है ? गलित विद्रूप और लिजलिजी जिन्दगी का स्वीकार हमें कहाँ ले जायेगा ? कहीं न कहीं किसी न किसी कोण पर तो हमें इसे छोड़कर जिन्दगी की शुरुआत नये सिरे से करनी होगी—ऐसी शुरुआत जिसमें मानव-मानव होगा और उसके भीतर निहित शक्ति पर हमें आस्था होगी। अज्ञेय निरन्तर इसी कोण से ऐसी ही खोज में लगे रहे हैं। आस्था की यह खोज 'हरी घास पर क्षण भर' से ही शुरू हो गई थी, किन्तु इसे ठोस आधार तब मिला जब कवि ने 'बावरा अहेरी' में कहा था : "पर नकारों के सहारे कब चला जीवन/स्मरण को पाथेय बनने दो/ कभी तो अनुभूति उमड़ेगी/प्लवन का सान्द्र घन भी बन"[2] 'बावरा अहेरी' में कवि जीवन की कुंठा व आंतरिक जीवन के दमित अंगों से संतुलन स्थापित कर सहजता की ओर बढ़ा है : "लो मुट्ठी भर रेत उठाओ/उसे अँगुलियों में से यों ही बह जाने दो/इस यों ही में हैं/सब जिज्ञासाओं के उत्तर/फिर भी जीवन का कौतूहल है अदम्य/जीवन की आशा नहीं छोड़ सकती अन्वेषण/"[3]

1. महावृक्ष के नीचे पृष्ठ 42
2. बावरा अहेरी पृष्ठ 54
3. बावरा अहेरी पृष्ठ 26

इन पंक्तियों से लगता है कि कवि जीवन के हिल्लोलित सागर से हटकर एक आस्थामूलक दिशा में खोज के पथ पर बढ़ रहा है। 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' और 'आँगन के पार द्वार' में भी कवि की यही आस्था और जिजीविषा अनेक कविताओं में व्यक्त हुई है। 'मैं वहाँ हूँ' तो पूरी तरह मानवास्था की कविता है। इसमें आज की कठिनाई को कलके साहस और आस्था में बदलना कवि को अभीष्ट रहा है। कवि मिट्टी खोदने वाले से लेकर महल बनाने वालों की जिजीविषा और आस्था से; खानों में काम करने वाले, रिक्शा खींचने वाले बर्तन माफ करने वाले और मशक उठा सड़क सींचने वाले सभी की जिजीविषा कवि को मानवस्था से जोड़ती प्रतीत है। "आस्था न काँपे मानव मिट्टी का भी देवता हो जाता है" का विश्वासी कब 'चक्रान्त' शिला खण्ड की कविताओं में भी गहरी जिजीविषा और आस्था से युक्त है। "योगी वह स्मित मेरे भीतर लिखदे" की कामना वाला कवि जीवन के प्रति जीने की इच्छा लिए हुए है। 'बना दे चितेरे' कविता भी मानव की जिजीविषा और आस्था को व्यक्त करती है :

"पहले सागर आँक
विस्तीर्ण प्रगाढ़ नीला
ऊपर हलचल से भरा पवन के थपेड़ों से आहत
फिर आँक एक उछली हुई मछली
जिसकी मरोड़ी हुई देहवल्ली में
उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।"[1]

कवि निरन्तर विश्वास को अमर बनाये रखना चाहता है। भले ही नगर, समाज और सरकारें खत्म हो जायें क्योंकि "तब वे आयेंगे जिन्होंने विश्वास नहीं खोया।' 'कितनी नावों में कितनी बार' संग्रह में भी कवि की जिजीविषा मुखरित है। उसका जीवन दूसरों के लिये है; उनकी जिजीविषा सदैव कायम रहेगी। वस्तुतः कवि जहाँ-जहाँ मानवीय उपस्थिति के साथ है वहाँ-वहाँ उसकी जिजीविषा और आस्था व्यंजित हुई है। 'बनादे चितेरे' कविता के साथ ही 'सोन-मछली' जैसी कविताओं में भी अज्ञेय ने 'मछली' को प्रतीक बनाकर जीवन के प्रति आस्था और कभी न खत्म होने वाली जिजीविषा को व्यक्त किया है। 'महावृक्ष के नीचे' संग्रह में भी जहाँ सत्यान्वेषण का आग्रह प्रबल है, वहाँ भी अज्ञेय का कवि प्राकृतिक सुषमा को अंकित करते हुए आस्था का दीप जलाये बैठा है। 'साल-दर साल' कविता में कवि एक फुनगी के लकड़हारों, आरों, बसूलों और कुल्हाड़ों द्वारा काट लिये जाने पर भी निराश-हताश नहीं है क्योंकि 'अगले बरस फिर/कहीं किसी गाँठ में/दरार से/एक नयी कोंपल/फूट आयेगी/जिस पर मँडरायेगी, उतरेगी/चिड़ी-सी

1. आँगन के पार द्वार : 'बना दे चितेरे'

फूल चुही....''[1] इसी संग्रह की 'उस से' कविता में कवि की आस्था ही उसकी असली पहचान बनकर प्रतीक्षा-बोध में ढल गई है। कहने का तात्पर्य यही है कि अज्ञेय हर स्थिति में मानवास्था के कवि हैं। 'सागर मुद्रा' में यदि कवि समूची खिन्नता और उदासी को विश्वास की कैंची से काटता हुआ यदि यह कहता है कि "ओ मीत! कोई उदास गीत गाना ना" तो 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' में कवि की आस्था की आवाज नगर, समाज, सरकार, कृतित्व और वैभव आदि सभी कुछ के समाप्त हो जाने के बाद भी गूँजती रहेगी। कवि ने लिखा है :

'जल जायेंगे नगर, समाज, सरकारें
नहीं मरेगा विश्वास''[2]

तब वे आयेंगे
वे जिन्होंने
धरती में विश्वास नहीं खोया
जिन्होंने जीवन में आस्था नहीं खोई
जिनके घर
उन पहलों ने नष्ट किये
महासागर में डुबोये,
पर जिन्होंने अपनी जिजीविषा
घृणा के परनाले में नहीं डुबोयीं
उनकी डोंगियाँ
फिर इन तिरंगों पर तिरेंगी।''[3]

3. सत्यान्वेषण-आत्मान्वेषण :

अज्ञेय के काव्य की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति सत्यान्वेषण की है। यह सत्यान्वेषण जीवन-सत्य पाने की ललक है : अर्थ पाने का आयाम है और आत्मान्वेषण की भूमिका पर स्थित है। उन्होंने जिस सत्य का अन्वेषण किया है वह आस्था-विरहित नहीं है। अतः उसे जीवन निरपेक्ष भी नहीं माना जा सकता है। आत्मान्वेषण करते-करते जब वे सत्य के अन्वेषण के लिए तत्पर हुए तो उन्होंने कितने सत्यों-अर्धसत्यों को देखा। 'आँगन के पार द्वार' आकर तो वे यह तय कर गये हैं कि कोई भी सत्य अन्तिम सत्य नहीं है; कोई भी उपलब्धि आखिरी नहीं है, सब निरन्तर

1. महावृक्ष के नीचे : पृष्ठ 15
2. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : पृष्ठ 38
3. वही : पृष्ठ 39

अन्वेषण के आयाम हैं। सत्यान्वेषण कभी न खत्म होने वाली प्रक्रिया है। इसी अनवरत अन्वेषण के कारण कवि ने लिखा है : "आँगन के पार द्वार, द्वार के आगे आँगन और फिर द्वार" सभी आँगन ही आँगन हैं जो द्वारों की दहलीज पार करके सब कहीं दिखाई देते हैं। अन्तः सलिला' खण्ड की कविताओं में भी कवि अपने सत्यान्वेषण में रत है। सतत अन्वेषक और जिज्ञासु कवि अभिव्यक्ति से बचता है क्योंकि व्यक्त होने के बाद की रिक्तता उसे काम्य नहीं है। यों भी अभिव्यक्ति के उपादानों से सही उपादान का चयन भी उसे अन्वेषक बनाये हुए है। इसीसे उसकी अनेक कविताओं में अनभिव्यक्ति की पीड़ा का दंश है : "पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था/दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बँधती जाती थी/" 'सूनी सी साँझ एक' कविता में अभिव्यक्ति का भय और अनभिव्यक्ति की पीड़ा दोनों ही अन्वेषी कवि के मर्म को छीलते हैं। 'चक्रान्त शिला' की कविताओं में कवि आत्मान्वेषण करता हुआ; अनभिव्यक्ति का दंश सहता हुआ 'मौन' की ओर बढ़ता है। जब सारे माध्यम मौन में सिमट जाते हैं और अपनी इयत्ता खो बैठते हैं तब आत्मान्वेषण ही उसे महत्वपूर्ण दिखाई देता है क्योंकि वह जानता है कि यही उसे सत्य की उपलब्धि तक ले जायेगा। 'चक्रान्त शिला' की अधिकांश कविताएं इसी सत्यान्वेषण के विविध आयामों को प्रस्तुत करती है। 'मौन' महत्वपूर्ण हो गया है। यही कारण है कि मौन रहकर कवि ने जो पाया है वही जीवन-सत्य जिजीविषा के साये में कविताओं की अधिकांश पंक्तियों में बैठा मिलेगा।

'असाध्य वीणा' कविता में वीणा को साधना आत्मान्वेषण की प्रक्रिया को ही स्पष्ट करता है। यह आत्मान्वेषण अपने को परिशोधित करके सत्य को पाने का अर्थ दे रहा है। कवि ने स्पष्ट लिखा है : "मौन प्रियवंद साध रहा था वीणा नहीं स्वयं को शोध रहा था।" इस आत्मपरिष्कार के बाद ही प्रियवद को सत्य की प्रतीति हुई है और उपस्थित व्यक्तियों ने इसी सत्य को अलग-अलग ढग से पाया है। कवि के शब्द है :

"सबने अलग-अलग संगीत सुना
उसको वह कृपा वाक्य था प्रभुओं का
उसको आतंक मुक्ति का आश्वासन
इसको वह भरी तिजोरी में सोने की खनक
उसे बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुदबुद
किसी एक को नई बधू की सहमी सी पायल ध्वनि"[1]

परवर्ती कृतियों 'कितनी नावों में कितनी बार' और 'सागर मुद्रा' में भी आत्मान्वेषण से होती हुई कवि की भावधारा सत्यान्वेषण के लिए व्यग्र है। 'उधार'

1. आँगन के पार द्वार : असाध्यवीणा कविता।

कविता और अंधकार' आदि कविताओं में भी सत्यान्वेषण की प्रक्रिया स्पष्ट है। उन्होंने यह कहकर कि "अंधकार में सहसा जागकर पहचाना कि जो मेरा है, वही ममेतर है" सत्यान्वेषण को ही स्पष्ट किया है। आत्मान्वेषण, सत्यान्वेषण, और मौन में ही सत्य की खोज आदि विशेषताएँ 'सागर मुद्रा' शीर्षक से लिखी गई अनेक कविताओं में भी मिलती है। सत्ता का निजता भूल जाना आत्मान्वेषण की ही भूमिका है। इसी आत्मान्वेषण में कवि मुक्त होने पर जोर देता है और यहीं पर सत्यान्वेषण का मार्ग प्रशस्त होता दिखाई देता है। इस खोज में अस्तित्व लुप्त हो गया है तथा "सब कुछ हममें खो गया तुम भी हम में खो गये", किन्तु इसके बाद भी सत्य की खोज-जीवन-सत्य की पहचान की ललक बनी रहती है क्योंकि अन्वेषण एक अंतहीन संग्राम है।

अज्ञेय के समूचे कृतित्व पर दृष्टिपात करें तो 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग बहुतायत से मिलता है। इस प्रयोग से कवि-मानस की मुक्ति-लालसा व्यक्त होती है। कारण; स्वातंत्र्य में ही व्यक्तित्व की सार्थकता प्रमाणित होती है। अतः जब हम कहते हैं कि मुक्ति और जिजीविषा अज्ञेय-काव्य के महत्वपूर्ण संदर्भ हैं तो इसका अर्थ यही है कि कवि व्यक्तित्व या स्वातंत्र्य की खोज में निरत है। प्रारंभ से लेकर आज तक अज्ञेय की समस्त काव्य यात्रा इसी मुक्ति या स्वातत्र्य की खोज की कहानी है। 'मछली' का प्रतीकार्थ जिजीविषा अर्थात् अस्तित्व की खोज को ही व्यक्त करता है। जल से अलग होकर मछली तड़फती-हाँफती है। आखिर वह हर हालत में जीना ही चाहती है न ! उसकी यह चाहत ही मुक्ति है और मुक्ति की कामना स्वातंत्र्य की खोज है जो आत्मान्वेषण का ही एक संदर्भ है : "अर्थ हमारा/जितना है/सागर में नहीं हमारी मछली में है/सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है"/ यह मुक्ति; यह जिजीविषा, यह व्यक्तित्व की खोज अज्ञेय काव्य में 'मछली' के अतिरिक्त 'हारिल' सागर, हरी घास, धूप आदि सभी प्रतीक इसी आत्मान्वेषण को संकेतित करते हैं। मुक्ति की यह खोज या कामना जिस बिन्दु को उभारती है वह जीवन से पलायन नहीं है; अपितु सत्य को जानने और पाने के लिए किया गया प्रयत्न भर है। अज्ञेय की दृष्टि में जीवन का अर्थ ही है :

> क्योंकि यही सब तो जीवन है
> गरमाई मिठास हरियाली, उजाला
> गंधवाही मुक्त खुलापन,
> लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह
> और बोध भव्य
> निर्व्याज निस्सीम का"[1]

1. कितनी नावों में कितनी बार पृष्ठ 1

अज्ञेय का दुखवाद भी मुक्ति पाने का—व्यक्तित्व की खोज या आत्मान्वेषण या सत्यान्वेषण का ही माध्यम है। कवि ने तभी तो लिखा है :

"और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने
किन्तु जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है
कि सबको मुक्त रखे।"[1]

'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' संग्रह में भी कतिपय संदर्भ ऐसे आये हैं जो व्यक्तित्व की खोज या सत्यान्वेषण के भाव को स्पष्ट करते हैं। संग्रह की पहली कविता ही ऐसी है। कवि एक सन्नाटे का जाल बुनता है जिसमें उसके भीतर का कुछ घिर जाता है, किन्तु वह इस जाल में फँसता नहीं है। जैसे ही वह अपने को पहचान लेता है वैसे ही अपने आपको उस जाल के बाहर पाता है। यह जाल से बाहर जाना ही मुक्ति की कामना है—व्यक्तित्वान्वेषण का संदर्भ है। कवि का द्रष्टा मन भोक्ता से अलग हो जाता है। यद्यपि वह मरण से बँधा है किन्तु फिर भी वह स्वर तारों के माध्यम से अपने को काल के बाहर पाता है :

"मैं तो मरण से बँधा हूँ; पर किसी के और इसी तार के सहारे
काल से पार पाता हूँ।

यों बुन जाता है जाल सन्नाटे का
और मुझ में कुछ है कि उससे घिर जाता है
सच मानिए, मैं नहीं है वह
क्योंकि मैं जब पहचानता हूँ तब
अपने को उस जाल के बाहर पाता हूँ

'महावृक्ष के नीचे' संग्रह में आई 'नाच' शीर्षक कविता में भी अज्ञेय 'नाच' के सहारे तनाव से मुक्ति पाकर अपने अन्तम् का विश्लेषण करते हुए सत्यान्वेषण में रत दिखाई देते हैं। दो खंभों के बीच तनी हुई रस्सी पर कवि निरंतर इधर से उधर दौड़ता रहता है, किन्तु उसकी कामना इससे मुक्ति की है। यह कामना ही उसे जिजीविषा से जोड़ती हुई आत्मान्वेषण के बिन्दु से मिला देती है और कवि लिख देता है :

1. हरी घास पर क्षण भर पृष्ठ 55
2. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ : पृष्ठ 11

"मैं केवल उस खंभे से इस खभे तक दौड़ता हूँ
कि इस या उस खभे से रस्सी खोल दूँ
कि तनाव चुके और ढील में मुझे छुट्टी हो जाये—
पर तनाव ढीलता नहीं।

कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मान्वेषण—सत्यान्वेषण या मुक्ति-प्राप्ति की ललक की प्रवृत्ति अज्ञेय काव्य का महत्वपूर्ण संकेत है उसकी समस्त काव्य-यात्रा का अपरिहार्य सदर्भ है। आत्मान्वेषण के द्वारा एक ओर तो कवि अद्वैत की भूमिका को पकड़ने का प्रयास करता है और दूसरी ओर यह भी निश्चित है कि वर्तमान जीवन क्षण की वह उपेक्षा नहीं करता है। 'भवन्ती' में उन्होंने लिखा भी है : "काल का डमरूमध्य : इधर स्मृति उधर आकांक्षा, बीच में यह चेतन क्षण; इधर कृत, इधर ऋत, बीच में यह जगत्—यह जागता हुआ, बीतता हुआ जीवन-क्षण; क्या इसी को नहीं ईशावास्य की तरह जिया जा सकेगा, बिना इसे पकड़े रहना चाहे-मा गृधः ?"[2]

4. प्रणय भावना : किशोर मन की अभिव्यक्ति और औदात्य की भूमिका :

अज्ञेय के काव्य में प्रणय भावनाओं की गहरी और सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में प्रणय का भावुक और किशोरोचित वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिये।

'दृष्टि पथ से तुम जाते हो जब; तब ललाट की कुंचित अलकें
तेरे ढरकीले आँचल को; तेरे पावन चरण-कमल को,
छू कर धन्य भाग अपने को; लोग मानते हैं सब के सब।"[3]

'हरी घास' पर क्षण भर' तक पहुँचते न पहुँचते कवि की प्रणय-भावना में परिष्कार आ जाता है। वह किशोर भावना को त्याग देता है और प्रणय उसके लिए जीवन-सार और जीवन-सत्य बन जाता है। यद्यपि अज्ञेय ने प्रेम की क्षणिकता को स्वीकार तो किया है, किन्तु मात्र-भोग तक ही उसे नहीं रहने दिया है। वियोग के ताप में तप-तप कर उनका प्रणय निष्ठा, समर्पण और गंभीर भावों में बदल जाता है। उसमें तल्लीनता आ जाती है; परिष्कार आ जाता है। तथा कवि औदात्य भूमिका की ओर बढ़ता जाता है 'हरी घास पर क्षण भर' में प्रेम की तीव्रता तो है, किन्तु नगरबोध की जटिलताओं के समक्ष कवि प्रेम की अनुभूतियों के ताप में डूब नहीं पाता है। वह अंत में यह कहने को बाध्य हो जाता है :

1. महावृक्ष के नीचे : पृष्ठ 11
2. अज्ञेय : भवन्ती : पृष्ठ 125
3. पूर्वा : पृ. 19।

"केवल बना रहे विस्तार हमारा बोध
मुक्ति का सीमाहीन खुलेपन का हो
चलो उठें अब;
और रहे बैठे तो, लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं।
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने"[1]

आगे की कविताओं में कवि की प्रणय भावना समर्पणशील हो गई है। वह 'आँगन के पार द्वार' की कतिपय कविताओं में समर्पण और स्मृति-चित्रों की भूमिका पर व्यक्त हुई है। 'पहचान' कविता के माध्यम से कवि की प्रणय भावना पुनर्मिलन के माध्यम से व्यक्त तो होती है, किन्तु उसमें ढलती उमर के दागों से पवित्रता और उदात्तता भी आ गई है। इस उदात्त और पवित्र अनुभूति में भी प्रेम की उत्कटता तो है ही जिसे 'पलकों का कँपना' कविता में इस प्रकार व्यक्त किया गया है -

"और सब समय पराया है
बस उतना क्षण अपना
तुम्हारी पलकों का कँपना।"[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञेय की प्रणय भावना में शनैः शनैः परिष्कृति उदात्तता और प्रौढ़ता आती गई है। वय और चिन्तन के प्रभाववश या तो वह प्रणय की किशोर अभिव्यक्तियों का स्मरण करता है या फिर चिन्तन या महत्वांकन। 'विदा के चौराहे पर; 'प्रस्थान से पहले' और 'अंगार' जैसी (कितनी नावों में कितनी बार) कविताएँ इसी भूमिका पर प्रस्तुत हुई हैं। उसका प्यार संस्कार से संस्कारी बनता गया है और इस रूप में वह यही कह सकता है :

"जिसे कुछ भी कभी, कुछ से नहीं सकता मार
वही लो, वही रक्खो साज-सँवार
वह कभी बुझने न वाला
प्यार का अंगार।"[3]

यही 'प्यार का अंगार' 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' की कविताओं में 'यज्ञ का वरण' और एक अचूक वरण' बन गया है। स्पष्ट है कि अज्ञेय की प्रणय

1. हरी घास पर क्षण भर पृ. 57
2. आँगन के पार द्वार 'पलकों का कँपना'
3. कितनी नावों में कितनी बार पृ. 91

भावना किशोर मन की अनुभूतियों को पार करती हुई एक परिष्कृति, प्रौढ़ता और उदात्तता की ओर बढ़ती गई है।

'हरी घास पर क्षण भर' और 'इन्द्रधनुरौंदे हुए ये' में प्रेम की सहजता और उन्मुक्तता को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कवि ने संस्कार प्रेरित झिझक को छोड़कर प्रकृतिस्थ होने की बात कहते हुए यही कहा है कि "कब कहाँ यह नहीं/ जब भी जहाँ भी हो जाय मिलना/ केवल यह : कि जब भी मिलो/तब खिलना।"[1] प्रेम के सम्बन्ध में व्यक्त की गई ये अनुभूतियाँ आधुनिक हैं और नगरीय सभ्यता की देन है। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' के बाद की कविताओं में अज्ञेय का प्रेम चिन्तन का सहयात्री बनता गया है। 'आँगन के पार द्वार;' 'कितनी नावों में कितनी बार', 'सागर मुद्रा' पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ और महावृक्ष के नीचे' सग्रहों में प्रेम क्रमशः उदात्त, परिष्कृत, गंभीर और गंभीरतम रूप धारण करता गया है। यों 'सागर मुद्रा' की कुछेक कविता-पंक्तियों में कवि प्रेम के माँसल रूप की ओर भी झुका हुआ है। "तुम्हारी छातियों के बीच मेरा घर है" और "आओ मैं तुम्हें छिपा लूँगी" जैसी पंक्तियों में प्रेम शारीरिक धरातल पर उतरता दिखाई देता है। यों 'सागर मुद्रा' की अनेक कविताओं में अज्ञेय की प्रेमानुभूति का स्वरूप गंभीर और उदात्त भीहै। कवि की दृष्टि में व्यक्ति अपने भीतर बैठे हुए अनुरागी मानस के सौन्दर्य और प्रेमप्रसूत कल्पना को ही प्यार करता है। कृष्ण ने बार-बार अनेक गोपियों से प्यार किया तो इसका कारण यही था कि वे जिस प्यार की तलाश में थे वह उन्हें मिल नहीं पाया था। उन्हें मनचाहा प्यार यदि मिल गया होता तो फिर प्यार की आवृत्ति ही क्यों करते :

कभी किसी प्रेयसी में उसी को पा लिया होता
तो दुबारा किसी को प्यार क्यों किया होता !"[2]

अज्ञेय की प्रेम भावना में मुक्ति-कामना का रंग भी गहरा है। प्यार में एक सीमा के बाद उन्होंने निकटता और अधिकार भावना को छोड़कर एक तटस्थ और निर्लिप्त भाव ही के प्रति जो स्वीकृति बोध दिखाया है वह उनकी मुक्ति-कामना को व्यक्त ही व्यक्त करता है। इस व्यंजना को कवि ने सागर और उसकी लहरियों से व्यक्त किया है। सागर लहरों से प्यार भी करता है उन्हें मुक्त भी रखता है। यही स्थिति 'सागर मुद्रा' की निम्नांकित पंक्तियों में प्रतिध्वनित है। अज्ञेय ने लिखा है।

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ. 52।
2. सागर मुद्रा : पृ. 38।

देखो न, सागर बड़ा है, चौड़ा है,
जहाँ तक दीठ जाती है फैला है,
मुझे घेरता है, धरता है मढ़ता है, धारता है, भरता है,
लहरों में सहलाता है, दुलराता है, झुमाता-झुलाता है,
और फिर भी निर्बन्ध मुक्त रखता है, मुक्त करता है—
मुक्त मुक्त, मुक्त करता है।"[1]

मुक्ति-भाव से युक्त इस प्रेम में एक सहज दीप्ति है और यही वह दीप्ति है जो मनुष्य मात्र को जीवन से जोड़ती हुई उल्लास के कण बाँटती है। प्रणय भावना में इस मुक्ति के बोध का व्यापक रूप ही कवि को 'आँगन के पार द्वार' में यदि यह कहने को बाध्य करता है कि "जब तक बाणी हारी नहीं और वह हार मैंने अपने में पूरी स्वीकारी नहीं/अपनी भावना-संवेदना भी बारी नहीं—तब तक वह प्यार भी/निरा संस्कार है, सस्कारी नहीं"/[2] तो यही प्रणय-बोध 'कितनी नावों में कितनी बार' संग्रह में जाकर अनश्वरता की सीमाओं का स्पर्श कर लेता है। 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ', की एकाध पंक्ति भी ऐसा संकेत देती है कि प्यार जीवन की अनिवार्यता है और 'स्वच्छन्दवरण' है। यहाँ भी कवि प्रेम की मनोभूमि पर विचरता हुआ उसमें स्वच्छंदता और मुक्ति को महत्व देता है। ऐसा इसलिए कि प्रेम मन की सहज क्रिया है। उसमें जो समर्पण अथवा अपने आपको पूरी तरह देने की जो लालसा रहती है वही उसे उदात्त भूमिका पर ले जाती है। 'महावृक्ष के नीचे' संग्रह की इन पंक्तियों को देखिए जिनमें कहा गया है कि "कितनी निर्व्याज, अजटिल/होती हैं स्थितियाँ/जिनमें प्यार जन्म लेता है"/[3] यही प्यार मनुष्य का मनुष्य के प्रति समर्पण अथवा कहें कि पूरी तरह दे दिये जाने और देने के लिए प्रेरित करता है। प्यार में दोहरे मरण की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है :

"उस दोहरे मरण की पहचान को ही
कभी विदा, कभी जीवन व्यापार
हम कहते हैं।"[4]

कहना यही है कि अज्ञेय की प्रणय भावना में सहजता; निश्छलता; समर्पण; मुक्ति, स्वच्छंद समर्पण और अनासक्ति का भाव विद्यमान है। उनका प्रेम न तो आरोपित है, न कृत्रिम और न वासना के कर्दम में फँसा हुआ है। उसमें शरीर की

1. सागर मुद्रा : पृष्ठ 66
2. आँगन के पार द्वार पृष्ठ 30
3. महावृक्ष के नीचे पृष्ठ 26
4. महावृक्ष के नीचे पृष्ठ 56

स्वीकृति है और खूब है; रूपाकर्षण है और गहरा है; किन्तु इस सबके होते हुए भी उसमें निरंतर उन्नत होने का भाव भी है। यही कारण है कि आत्मदान; निश्छल समर्पण; अनासक्ति और निस्संगता अज्ञेय की प्रेम भावना के अविस्मरणीय सहचर हैं। वस्तुतः अज्ञेय के यहाँ प्रेम का अर्थ है—नि शेष भाव से दे देना और सहजता के साथ सब कुछ देकर प्रिय को मुक्त छोड़कर स्वयं निस्संग हो जाना।

5. वेदनानुभूति :

अज्ञेय का काव्य प्रणय, वेदना, सौन्दर्य और मानवास्था का काव्य है। वे प्रणय के धरातल से वेदना की ओर आये हैं। उनकी धारणा यही रही है कि वेदना में बड़ी शक्ति निहित है। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिष्कारित और शक्ति सम्पन्न बनाती है। वेदना और उसकी स्वीकृति से सम्बन्धित अज्ञेय ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। उनकी दुखवाद प्रेरित कविताओं में वेदना की एक ऐसी अन्वि ते मिलती है जो मन को द्रवित कर देती है। एक कविता में अज्ञेय ने 'अहं' को पिता और 'वेदना' को माँ कहा है। वेदना के सम्बन्ध में कवि की निश्चित धारणा 'हरी घास पर क्षण भर' की कविताओं के इस अंश में देखो जा सकती है :

> "दुख सबको माँजता है
> और
> चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने
> किन्तु जिनको माँजता है
> उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"[1]

वस्तुतः अज्ञेय को दुख की पावन शक्ति में अटूट आस्था है तभी तो वे दुख से ही व्यक्तित्व के विकास और मन के परिष्कार की बात करते हैं। जो दुख व्यक्तित्व को माँजता हो; उसे एक रूप और व्यवस्था प्रदान करता हो; उसके सम्बन्ध में कवि की यह कामना ठीक ही है : "जीवन देना ऐसा सुख जो सहा न जाय, इतना दर्द कि कहा न जाय, जो भी देना, इतना भर-भर एक अंह में वह न समाय—एक जिन्दगी एक मरण का घेरा जिसको बाँध न पाय।" एक अन्य स्थान पर कवि ने दर्द की दीप्ति की भी चर्चा की है। उसकी मान्यता है कि दर्द पाप नहीं है; यदि वह वैसा होता तो स्वीकार से धुल जाता। इसके विपरीत दर्द की अपनी दीप्ति है :

> "दर्द स्वीकार से मिटता नहीं है
> स्वीकार से पाप मिटते हैं,

1. हरी घास पर क्षणभर पृष्ठ 55

पर दर्द पाप नहीं है,
दर्द कुछ मैला नहीं
कुछ असुंदर, अनिष्ट नहीं
दर्द की अपनी एक दीप्ति है
ग्लानि वह नहीं देता।
तुमने यदि दर्द ही लिखा,
भद्दा कुछ नहीं लिखा
झूठा कुछ नहीं लिखा''[1]

स्पष्ट ही अज्ञेय के यहाँ वेदना एक जीवन-दर्शन बनकर आई है। उनके दर्द में आह-कराह नहीं है और न ही वह मनुष्य को निष्क्रिय और कमजोर बनाने वाला है। यह तो एक ऐसा दर्द है जिसमें इन्सान खोता कुछ नहीं पाता ही पाता है (उलाहना कविता) दर्द की पूँजी को लेकर कवि यही कहता है : ''पास कुछ बचा नहीं सिवा इस दर्द के जो मुझसे बड़ा है—इतना बड़ा कि पचा नहीं—बल्कि मुझसे ऊँचा नहीं···· यह तो एक सच है जिसे मैं तो क्या रचता जो मुझी में अभी पूरा रचा नहीं। ध्यान से देखें तो स्पष्ट होता है कि दर्द का अवमूल्यन नहीं संशोधन करके मूल्य के रूप में प्रस्तुत करना ही अज्ञेय की काव्य-यात्रा का एक अनुपेक्षणीय संदर्भ है। 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' संग्रह की 'मोड़ पर का गीत', 'दास व्यापारी', 'कच्चा अनार बच्चा बुलबुल', औपन्यासिक', 'मैत्री' और 'रात' शीर्षक मे लिखी गई कविताओं में कवि कहीं सीधे, कहीं सांकेतिक रूप से दर्द की बात कहता गया है। 'आँगन के पार द्वार' तक की कविताओं में दर्द या वेदना एक जीवन-दर्शन बनकर आई है और परवर्ती रचनाओं में वह स्पष्टतः एक जीवन-मूल्य बन गई है। अज्ञेय का दर्द अकेले उन्हीं का दर्द नहीं है, वह तो आदमी दर आदमी का दर्द है। उसकी परिधि का सीमांकन नहीं किया जा सकता है। वह तो शब्दातीत दर्द है। यह दर्द मानव का है, कवि का है, मूल्यों का है और अभिव्यक्ति का है। अतः वह सारे परिवेश का हो गया है। 'औपन्यासिक' कविता में प्रतिपादित किया गया है कि शराब खाने की जरूरत नदी के किनारे के अभाव को व्यक्त करती है—दर्द की महत्ता व व्यापकता को रेखांकित करती है। आज मानव दर्द की शराब पी रहा है :

''कौन या कब अकेले बैठकर शराब पीता है ?
जो या जब अपने को अच्छा नहीं लगता
अपने को सहन नहीं सकता''[2]

1. अरी ओ करुणा प्रभामय पृष्ठ 137
2. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृ. 60

6. क्षण की महत्ता और स्वीकार :

अज्ञेय के काव्य की प्रवृत्तियों के विवेचन में 'क्षणवाद' को भी नहीं भुलाया जा सकता है। अज्ञेय से क्षण को पहचानने; पूरी तरह जीने, पीने और पीकर आत्मसात् करने की बात कही है। ध्यान रहे अज्ञेय का क्षणवाद क्षणिकता का आग्रह नहीं है। उसे शाश्वत बोध का अविरोधी मानना ही उचित है। अज्ञेय का क्षण को पकड़ने का आग्रह उनकी व्यक्तिवादी दृष्टि का तो प्रभाव है ही; अस्तित्व वास का भी संस्पर्श लिए हुए है। उन्होंने क्षण के महत्वांकन को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

"हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात करलें
उसकी विविक्ति अद्वितीयता में
आपको, कमपि को क ख ग को
अपनी सी पहचनवा सकें
रसमय कर दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिए यही है"[1]

क्षण ही अमरत्व कविता में तो अज्ञेय ने क्षण-दर्शन का ही महत्व प्रतिपादित किया है। वे स्पष्ट लिख गये हैं कि "नहीं बाँधकर रखा जा सकता छोटा सा पल छिन; चढ़ डोले पर चली जा रही काल की दुलहिन।" क्षणों का क्रमिक प्रवाह शाश्वत से कम नहीं होता है। क्षण का सत्य कभी-कभी कितना आकर्षक और मूल्यवान होता है, इसे 'कितनी नावों में कितनी बार कविता संग्रह की 'औपन्यासिक' शीर्षक कविता से भी समझा जा सकता है। अकेलेपन का दर्द जब पल भर की हसी से काफूर हो सकता है तो क्षण का सुख किसी अमरत्व की उस कल्पना से कैसे कम महत्वपूर्ण हो सकता है जिसे पाने में न जाने कितनी जिन्दगियाँ गुजार देनी पड़ती है। हँसते हुए दर्द को झेलना जहाँ एक ओर हमें शक्ति देता है वहाँ दूसरी ओर हम क्षण भर के लिए सारी थकान भूल जाते हैं। अतः वह क्षण ही सत्य है और इस पल तक न तो शराबखाने की पहुँच है और न किसी ओर की :

"इस पर हम दोनों हँस पड़े! वह उपन्यास वाली नदी
और कहीं हो न हो; इस हँसी में सदा बसती है
और वहाँ शराबखाने की कोई जरूरत नहीं है।"[2]

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ. 47
2. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : पृ. 62

7 सौन्दर्यानुभूति

अज्ञेय प्रणय और सौन्दर्य को बराबर अपने काव्य में स्थान देते रहे हैं। उनकी सौन्दर्यानुभूति सूक्ष्म और कलात्मक है। प्रेम पूरित भावों की अभिव्यंजना में कवि का सौन्दर्य बोध भी स्पष्ट होता गया है। प्रकृति निरूपण में तो उनके सौन्दर्य बोध को देखा ही जा सकता है; स्वतन्त्र रूप से भी उन्होंने नारी-सौन्दर्य की अनाघ्रात छवियाँ प्रस्तुत की हैं। उनके प्रणय का आलम्बन रूप का सागर है किन्तु उन्होंने 'ये उपमान मैले हो गए' की भावनानुसार अपनी सौन्दर्य भावना को प्रकाशित किया है। यही कारण है कि अज्ञेय ने प्रिया को न तो ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका कहा है और न शरद के भोर की नीहार स्नात कुमुदिनी ही कहा है। उसका स्पष्ट कथन है :

"अगर मैं कहूँ
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की ?
या शरद के साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की"[1]

'नख शिख' कविता में भी अज्ञेय ने रूपांकन के लिए पारंपरिक उपमानों को भी नए संदर्भ प्रदान किये हैं। इससे उनका सौन्दर्यांकन नवीन और ताजा प्रतीत होता है :

"तुम्हारे नैन, पहले भोर की दो ओस बूँदे हैं
अछूती ज्योतिमय, भीतर द्रवित
मानो विधाता के हृदय में; जग हो गई हो
भाप करुणा की अपरिमित"[2]

अज्ञेय के परवर्ती काव्य में सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यंजना हेतु चिन्तन की रेखाएँ काम में ली गई हैं। उन्होंने देहवल्ली के रूप को महत्व देते समय यह तथ्य भी विस्मृत नहीं किया है कि आत्मा देह से ही उपजी है। 'बावरा अहेरी की 'देहवल्ली' कविता में वे लिख गए हैं :

1. पूर्वा : पृ. 245
2. बावरा अहेरी : पृ. 35

"देह-बल्ली/रूप को/एक बार बे झिझक/देखलो।
पिंजरा है/पर मन इसी से उपजा है।
जिसकी उन्नीत शक्ति/आत्मा है/"[1]

अज्ञेय की सौन्दर्यानुभूति का एक पक्ष प्रकृति के अंचल से सीधा जुड़ा हुआ है। उनकी प्रकृति से गहरी मैत्री है। इसी से छायावादी कलाबोध और सौंदर्यबोध दोनों से प्रेरणा लेकर उन्होंने प्रकृति के सूक्ष्म व आकर्षक चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनके प्रत्येक कविता संकलन में प्रकृति के आकर्षक बिम्ब अनुभूतियों से सजे हुए दिखाई देते हैं। हाँ; अज्ञेय के प्रकृति काव्य में प्रकृति के तटस्थ, निर्लिप्त और शुद्ध चित्र हैं तो पर अपेक्षाकृत कम हैं। 'अरी ओ करुणाप्रभामय' में प्रकृति के 'स्नेपशोट्स' बड़े प्रभावी बन पड़े हैं। 'रात में गांव', 'धूप', 'पहाड़ी यात्रा', नदी तट : एक चित्र आदि अनेक कविताएँ इसका प्रमाण हैं। इन कविताओं में अज्ञेय की सोन्दर्य-चेतना प्राकृतिक दृश्यों को एक नया अर्थ प्रदान करती है। 'अँधेरा' उन्हें आकाश से अंजन की तरह बरसता प्रतीत होता तो 'धूप- शिशुवदन पर माँ की हँसी बिखेरती प्रतीत होती है :

"धूप
—माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब सी शिशुवदन पर—
हुई भासित !

और यही 'धूप' कवि के सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध के प्रतीक शब्दों के चौखटे में जड़कर कवि और पाठक के मन को चुँधा देती है : "सूप सूप भर, धूप कनक यह सूने नभ में गयी बिखर : चौंधाया बीन रहा है; उसे अकेला एक कुरर"।

अज्ञेय के प्रकृति-काव्य में अनेक ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ प्रकृति के सहारे कवि ने भोगातुरता की व्यंजना की है। ऐसे चित्रों में कहीं नभ में घिर आये काले बादल भूमि के कंपित उरोजों पर विशद श्वासाहत और चिरातुर होकर झुके हुए चित्रित किये गये हैं; कहीं धारयित्री "वासना के पंक सी फैली हुई थी धारयित्री सत्र-सी निर्लज्ज, नंगी" के रूप में और कहीं नदी की जाँघ पर सोते हुए अँधियारे का चित्र है :

"सो रहा है झौंप अँधियाला
नदी की जाँघ पर
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उझक कर; झाँक जाती"

1. बावरा अहेरी पृष्ठ 36

इसी प्रकार पूर्णिमा की संध्या का गत्वर और रंगीन बिम्ब प्रस्तुत करने में कवि की मौलिक कल्पना शक्ति को देखा जा सकता है : "पति सेवारत साँझ, उचकता देख पराया चाँद, ललाकर ओट हो गयी"। अज्ञेय के प्रकृति काव्य में सर्वाधिक भाग उन कविताओं का है जिनमें प्रकृति के परिवेश में भाव या मनःस्थिति का चित्रण किया गया है। 'ये मेघ साहसिक सैलानी' इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कविता है। इसमें सैलानी मेघों का वर्णन उद्दीपन रूप में है और कवि की स्मृति-शेफाली के फूलों का झरना तो एक मनोरम व्यापार बन गया है। 'तुम फिर आग बे क्वार', 'जागर' और 'शरद की साँझ के पंछी' आदि कविताएँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। 'शरद की रात' का शब्दांकन प्रशान्त, किन्तु गतिमान होने से मनःस्थिति को बेचैन कर देने वाला है। प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित अज्ञेय की पीड़ा भी प्रेयसी के अभाव को संकेतित कर देती है :

> "किन्तु अधूरा है आकाश/हवा के स्वर बन्दी हैं/
> मैं धरती से बँधा हुआ हूँ—तब तक
> जब तक नहीं तुम्हारी लम्बायित परछाँही
> कर जाती आकाश अधूरा—पूरा।"

कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञेय के काव्य में प्रकृति का संवेदनात्मक और अनुरागमय अंकन गहराई से हुआ है। प्रकृति के प्रति कवि की आसक्ति और संवेदन-शीलता का सर्वाधिक मधुर और उत्कृष्ट चित्र इन पंक्तियों में है :

> पार्श्वगिरि के नम्र चीड़ों में
> डगर चढ़ती उमंगों-सी
> बिछी पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा
> विहग-शिशु मौन नीड़ों में
> मैंने आँख भर देखा।
> दिया मन को दिलासा—पुनः आऊँगा
> भले ही बरस-दिन अनगिन युगों के बाद !

यह प्रकृति के प्रभाव में स्नात मानस से उत्पन्न प्रतिक्रिया है और इस प्रति-क्रिया में प्रकृति का योग भी कम नहीं है तभी तो कवि लिख गया है : 'क्षितिज बे पलक सी खोली, तमककर दामिनी बोली। 'अरे यायावर' रहेगा याद !'

प्रकृति के अद्भुत चित्रकार अज्ञेय की परवर्ती कृतियों तक में प्रकृति के प्रति एक अनुराग प्रेरित उल्लास-संवेदना भाव दिखाई देता है। प्रकृति के मानवीकरण में भी अज्ञेय पर्याप्त पटु हैं। मानवीकरण की इस प्रक्रिया में प्रकृति के अनेकानेक उपादान आकर सचेतन व्यक्तित्व प्राप्त कर गए हैं। फूल, रात, तारे, धरती, आकाश, अंधकार

और चांदनी से लेकर पगडंडी तक का मानवीकरण अज्ञेय की रचनाओं में उपलब्ध है। सूनी सी सांझ' का यह मानवीकरण देखिए :

सूनी सी सांझ एक/दबे पांव मेरे कमरे में आई थी/
मुझको वहाँ देख/थोड़ा सा सकुचाई थी'/

इसी क्रम में 'पगडण्डी' का यह मानवीकृत रूप भी देखिये :

'यह पगडंडी चली लजीली
इधर-उधर अटपटी चाल से नीचे को, पर
वहाँ पहुँचकर घाटी में खिलखिला पड़ी'

अज्ञेय के काव्य में प्रकृति का प्रयोग प्रतीक रूप में भी मिलता है। वासन्ती दिवस में 'कचनार के फूल' प्यार के प्रतीक बन जाते हैं तो 'पलाश की कली' दीप्त प्यास का और 'बावरा अहेरी' में सूर्य ही बावरा अहेरी हो गया है। प्रतीकात्मक प्रकृति रूप की बोधक पंक्तियाँ 'बावरा अहेरी' शीर्षक कविता में देखी जा सकती हैं। 'सागर', मछली और आकाश की नीलिमा को प्रतीकवत् प्रस्तुत करके कवि अज्ञेय ने लिखा है :

'उस प्राणों का एक बुलबुला भर पी लेने को—
उस अनन्त नीलिमा पर छाये रहते ही
जिसमें वह जनमी है, जियी है, पली है, जियेगी
उस दूसरी अनन्त प्रगाढ़ नीलिमा की ओर
विद्युल्लता की कौंध की तरह
अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
एक अकेली मछली'

तात्पर्य यह है कि अज्ञेय के काव्य में प्रकृति के विविध ताजगी भरे संवेदनात्मक, मानवीकृत और राग भावना से सिक्त प्रभावी चित्र मिलते हैं। उनके काव्य का बहुत बड़ा अंश प्रकृति की चेतन, सरस और मधुर भावोर्मियों से तरंगित है। उनकी सौन्दर्य-चेतना में प्रकृति का योग सर्वोपरि है। अज्ञेय की सौन्दर्य भावना में भी कुछ समीक्षकों ने अध्यात्म का रंग पाया है। मेरी धारणा है कि अज्ञेय का सौन्दर्य-दर्शन रूप की आत्मामकता को तो स्वीकारता है, किन्तु उसके तईं लिप्ति को कभी बरदाश्त नहीं करता है। वह तो देहन्लता को बेझिझक देखने की बात महज इस भाव से कहता है कि उसी से आत्मा को तृप्ति मिलती है और वही परिष्कृत होकर चैतन्य के शिखरों का स्पर्श करती है। ऐसी स्थिति में 'अज्ञेय वस्तु जगत से विच्छिन्न कोरी आध्यात्मिकता में कोई अर्थ नहीं देखते हैं। वे तो उसी अध्यात्म को

सार्थक समझते है जो वस्तु जगत् के साथ संपृक्त है, जो ऐन्द्रिय अनुभव में भी वर्तमान हैं।'[1] असल में अज्ञेय का सौन्दर्य-बोध मात्र फूल की सुकुमारता और सुन्दरता पर रीझने वाला नहीं है और न पुष्प के सौन्दर्य को कुचलकर या डाली से अलग करके देवार्पित करते हुए श्रद्धाभिव्यंजन में ही निहित है। वे तो समग्रता और संपूर्णता में ही सौन्दर्य की सार्थकता मानते हैं :

'जो कली खिलेगी जहाँ/खिला जो फूल जहाँ है/जो भी सुख/
जिस भीडाली पर/हुआ पल्लवित पुलकित/ मैं उसे वहीं पर/
अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल—
अर्पित करती हूँ तुझे
वहीं-वहीं प्रत्येक भरा प्याला जीवन का'/[2]

'कितनी नावों में कितनी बार' और उसके बाद की कविताओं में अज्ञेय की सौन्दर्य-भावना निरन्तर पुष्ट, परिष्कृत और उदात्त होती गई है। शरद, बसन्त, हेमन्त पर अज्ञेय ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं का सौन्दर्य भी मारक है, किन्तु एक अनकहे दर्द की भाप से सिक्त भी हैं। 'महावृक्ष के नीचे' संग्रह तो ऐसी सौन्दर्य-सिक्त छवियों का संग्रहालय प्रतीत होता है। 'धूपसनी छाया', 'घावे', 'बसत आया तो है', 'जाड़ों', 'शरद तो आया' और पिछले वसन्त के फूल' आदि अनेक कविताओं में अज्ञेय की प्रकृति-निरीक्षण क्षमता, परिष्कृत सौन्दर्यानुभूति बेदना और करुणा के छींटों से रंजित होने के कारण मन को गहरे छूती है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए :

'झरते-झरते
पिछले वसन्त के फूल
डालियों पर उमगाते गए
फलों के नाना-विध आश्वासन:
कहाँ-कहाँ, पर चली गई
पिछले जाड़ों की हिम पंखड़ियाँ'[3]

8. परिवेश के प्रति सतर्कता :

अज्ञेय के काव्य की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि कवि अपने परिवेश

1. विद्यानिवास मिश्र : लोक प्रिय कवि अज्ञेय पृष्ठ 30
2. अरी ओ करुणा प्रभामय पृष्ठ 84
3. महावृक्ष के नीचे पृष्ठ 31

के प्रति जागरूक है उसने यथार्थ को पहचाना है, दैनिक जीवन के प्रसंगों पर दृष्टिपात किया है और आधुनिक बोध के सहारे वह लोक से प्रतिबद्ध है। लोक संपृक्ति की यह भावना अज्ञेय के काव्य में अनेक स्तरों पर उद्घाटित हुई है। राष्ट्रीयता, जीवन के कटु-तिक्त प्रसंग, राजनीति में जमा होते जाते कूड़े-करकट और यांत्रिक और कृत्रिम जिन्दगी पर कवि ने गहरा व्यंग्य किया है। समसामयिकता और आधुनिकता की तुलना में अज्ञेय मानवता के प्रति अधिक जागरूक हैं। वे चिन्तक हैं, भावुक कलाकार हैं, किन्तु अपने परिवेश को कभी नहीं भुलाते हैं। उनकी यथार्थ प्रेरित दृष्टि में समग्र परिवेश सिमट गया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि मुक्तिबोध की तुलना में अज्ञेय की परिवेश प्रतिबद्धता शालीन और संयत है। वे व्यंग्य भी करते हैं तो शिष्टता से—एक अतिरिक्त विनयशीलता से।

अज्ञेय ने अपने परिवेश के यथार्थ को शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है। वर्तमान युग की यान्त्रिकता से दुखी होकर कवि उसके प्रति विद्रोही रुख अपनाता है और कहता है: 'यन्त्र हमें दलते हैं/और हम अपने को छलते हैं/थोड़ा और खट लो/थोड़ा और पिस लो'/ यांत्रिक परिवेश के दमघोंट स्वरूप के प्रति अज्ञेय की कविताओं में जुगुप्सा का भाव मिलता है। वे लिखते हैं:

> घनी और कुछ हो जाने दो
> रासायनिक धुंध के इस चीकट कम्बल की नई घुटन को
> मानव का समूह जीवन इस झिल्ली में ही पनप रहा है।'

स्पष्ट ही नगरीय परिवेश के प्रति कवि की दृष्टि जागरूक है। मशीनी माहौल में साँस लेती जिन्दगी के प्रति कवि पर्याप्त सहानुभूतिशील हो उठा है। परिवेश के प्रति संपृक्ति दिखाते हुए अज्ञेय कहीं-कहीं व्यंग्यशील भी हो उठे हैं। 'साँप' कविता इसका प्रमाण है:

> 'साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं
> नगर में बसना भी तुम्हें आया नहीं
> एक बात पूछूँ—(उत्तर दोगे?)
> तब कैसे सीखा डसना—
> विष कहाँ पाया?'

'हमने पौधे से कहा' कविता में कवि का व्यंग्य उन लोगों पर बरसा है जो नभचारी हैं और मिट्टी की उपेक्षा करते हैं। इसी प्रकार परिवेश के प्रति सतर्क होने के कारण अज्ञेय ने कभी राख होते हुए लोकाचारों की विफलता और अनुपयुक्तता पर व्यंग्य किया है और कभी विज्ञापनों की चकाचौंध में भटके मनुष्य पर उदाहरणार्थ:

"बेकल दौड़ रहे उजड़े लोगों की भीड़ों में
मोड़ मोड़ पर जिन्हें इश्तहारों के रंग-बिरंगे कीड़े

परिवेश के प्रति सतर्कता बोध और यथार्थ परक दृष्टि के कारण अज्ञेय के काव्य में जो व्यंग्य-विद्रूप का स्वर मिलता है वह परवर्ती रचनाओं में तो और भी साफ़ सुना जा सकता है। 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' काव्य-संकलन की 'अहं राष्ट्र संगमनी जनानाम' कविता धर्मनिरपेक्षता के नाम पर चल रही धर्मान्धता और शोषक वृत्ति पर व्यंग्य करती हुई आगे बढ़ती है। कवि लगे हाथों थोथी इन्सानियत पर भी चोट करता है। उसकी पीड़ा की गवाह निम्नांकित पंक्तियाँ प्रजातंत्र के ढकोसले और उसके नाम पर ली जाने वाली गैर कानूनी सुविधा को भी साफ़ जुबान में बोलती हैं :

"यों सब आये मेला जुट गय
यही मैं नहीं जान पाया कि इस पचमेल भीड़ में
वह एक समाज कहाँ छुट गया ?
और जिसमें पहचानना था देश का चेहरा
वह आईना कहाँ लुट गया"

आज हमारा समाज जिस भ्रष्टता की ओर जा रहा है, जिस शोषण और स्वार्थ को ही प्रजातन्त्र का मूल्य मान बैठा है, वह सब पूरी सफाई के साथ अज्ञेय की अनेक कविताओं का प्रतिपाद्य बन गया है। हमारा प्रजातन्त्र प्रजापत्य विरोधी नारों से गूँज रहा है और ये नारे ही हमारी अब तक की आजादी की उपलब्धि हैं। 'जनपथ × राजपथ' शीर्षक कविता में भी अज्ञेय ने पारम्परिक संस्कृति और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाववश हुए विघटन को संकेतित किया है। ईर्ष्या, वासना, हिंसा, अपमान, बेइज्जती व आत्म प्रवचना आदि के कारण मनुष्य और उसकी तमाम पीढ़ी जो इतिहास बना रही है वह थोथा है। एक ओर यह सब है और दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति की भैंस देश के बीचोंबीच बैठकर आराम से जुगाली कर रही है। फिर भी हम क्या करें? योजना आयोग क्या करें? वह तो : "विचारे उगाते हैं आयातित रासायनिक खाद से अन्तर्राष्ट्रीय करमकल्ले"। कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञेय अपने परिवेश और उसमें साँस लेते मनुष्य की स्थिति के सही गवाह बनकर आये हैं। आक्रोशी व गलीज भाषा शैली उनकी नहीं हैं। वे तो मानवीय परिवेश से सीधा साक्षात्कार करते हुए भी उसे बड़े इन्सानी ढंग से

जिसमें कहीं-कहीं भोलापन भी है, कहकर चुप हो गए हैं जैसे देख रहे हों कि इन्सान को अपनी ही तस्वीर देखकर कैसा लग रहा है ?

अज्ञेय की कविताओं में चित्रित परिवेश राजनीति और उससे सम्बन्धित अनेक समस्याओं को भी मूर्तित करता है। समसामयिक राजनीतिक व साँस्कृतिक परिवेश को व्यक्त करने वाली कविताओं में 'आजादी के बीस बरस', 'दिया हुआ न पाया हुआ', 'अहं राष्ट्र संगमनी जनानाम', 'दास—व्यापारी', 'जनपथ×राजपथ', हथौड़ा अभी रहने दो', 'केले का पेड़' व देश की कहानी दादी की जुबानी', आदि प्रमुख हैं। इन सभी में राजनीति, उसमें घुटते आदमी, प्रजातन्त्र, भारतवासी, संस्कृति का विघटन, जीवन की सच्चाई, धर्म निरपेक्षता का ढोंग, इन्सान की लाचारी, उसकी नियति और आजादी की विडम्बना पर कवि जमकर बड़े सधे ढंग से कभी हँसता और कभी व्यंग्य करता चलता है। आजादी एक नंगा शब्द है जिससे कुछ भी हाथ नहीं लगा। न तो आदमी आदमी को पहचानने लायक हुआ और न वह इन्सान ही बन पाया। हुआ तो केवल यह और मिली तो केवल आजादी :

> "आजादी के बीस बरस से
> बीस बरस की आजादी मे
> तुम्हें कुछ नहीं मिला :
> मिली सिर्फ आजादी !"

ध्यान से देखें तो इन पंक्तियों में मोहभंग की स्थिति स्पष्ट है। प्रजातंत्र की खाट को सिर पर रखे जाट का जो बिम्ब अज्ञेय की 'अहं राष्ट्र संगमनी जनानाम्' कविता में है वह प्रजातांत्रिक पद्धति; मूल्यों और आजादी के खोखलेपन को व्यक्त करता है। वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर भारत का परिवेश ऐसी और भी कुछ कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञेय के काव्य में परिवेश के प्रति जागरूक दृष्टि मिलती है। कवि की निगाह से वह उपेक्षित और निरादृत 'पर्वती' गाँव भी नहीं बचा है जहाँ लोग छोटी-छोटी चीजों को पाने के लिए तरस रहे हैं और सरकारी अधिकारी सिर्फ वायदे करते रहते हैं। कवि ने लिखा है : "कल के लिए हमें/नाज का वायदा है/आज ठेकेदार को/हमारे पेड़ काट लेने दो/कल हाकिम/भेड़ों के आयात की/योजना सुनाने आवेंगे/आज बच्चों को/भूखा ही सो जाने दो"/[1] देश के प्रशासकवर्ग की स्वार्थान्धता के कारण नगरीय जन-जीवन में व्याप्त अव्यवस्था-गंदगी, भ्रष्टाचारी वृत्ति, लूट-खसोट और प्रदर्शनी वृत्ति के अनेक 'स्नैप्स'

1. पहले मैं सन्नाटा बुनतहूँ पृष्ठ 60

'महावृक्ष के नीचे' संग्रह की 'जियो मेरे' शीर्षक कविता के कैमरे में आकर कैद हो गये हैं। कवि का व्यंग्य भीतर तक हिलाने वाला है :

"जियो मेरे आजाद देश के शानदार शासको
जिनकी साहिबी भेजे वाली देसी खोपड़ियों पर
चिट्टी दूधिया टोपियाँ फब दिखाती हैं,
जिनके बाथरूम की संदली, अंगूरी, चम्पई, फाख्तई
रंग की बेसिनी, नहानी, चौकी तक की तहजीब
सब में दिखता है अंग्रेजी रईसी ठाठ ·······
जियो मेरे आजाद देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधियों
जो विदेश जाकर विदेशी नंग देखने के लिए पैसे देकर
टिकट खरीदते हो
पर जो घर लौटकर देसी नंग ढकने के लिए
खजाने में पैसा नहीं पाते·········"[1]

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि अज्ञेय का काव्य प्रमुखतः प्रणय, सौन्दर्य, मानवास्था, सत्यान्वेषण और यथार्थबोध का काव्य है। उसमें जीवन के प्रति संसिक्ति; जिजीविषा और दर्द का जीवन-दर्शन है। अज्ञेय ने वेदना को शक्ति का केन्द्र; परिष्कार का साधन और मुक्ति का प्रेरक माना है। उनके समग्र काव्य में जीवन के लिए एक अनिवार्य उमंग मिलती है; एक जागरूक दृष्टि मिलती है। अपनी व्यक्तिमत्ता को कायम रखते हुए भी सामाजिकता या समष्टि के प्रति गहरा सम्मान अज्ञेय काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है।

काव्य-शिल्प

भाषा :

अज्ञेय एक सजग शिल्पी हैं। उनकी मौलिकता और प्रातिभ क्षमता को उनके शिल्प-प्रयोगों के सहारे समझा जा सकता है। शिल्प-विधि के उपकरणों में सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण भाषा है। भाषा के पश्चात् बिम्बों और प्रतीकों व अप्रस्तुत-प्रयोग को स्थान प्राप्त है। मेरी धारणा है कि कथ्य का जितना महत्व है उससे कहीं अधिक महत्व उस भाषा का है जो उसे सार्थक अभिव्यंजना प्रदान करती है। स्वानुभवों को प्रेषणीय बनाने में कवि किस भाषा का प्रयोग करता है यह अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अनुभूत को अभिव्यक्त करने में यदि कवि को भाषा साथ नहीं देती तो कथ्य महत्वपूर्ण होकर भी निरर्थक ही माना जायेगा।

1. महावृक्ष के नीचे पृष्ठ 42

वस्तुतः भाषागत प्रौढ़ता और परिपक्वता ही कवि और उसकी रचना को कालजयी बना सकती है। अज्ञेय ने यदि अनुभूति के स्तर पर सत्यान्वेषण को अधिक महत्व दिया है तो अभिव्यक्ति के स्तर पर शब्द चयन को। कारण वे मानते हैं कि शब्दों के सहारे सत्य स्वयं ही बोलने लगता है : "अर्थ हमारा जितना है/सागर में नहीं/ हमारी मछली में है"/ कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञेय ने शब्दों की शक्ति व सामर्थ्य को बखूबी पहचाना है। इसी कारण उनकी भाषा 'आर्थोडॉक्स' नहीं हो पाई है, वह गतिशील बिम्बों से सज्जित है। उसमें जीवन है; जीवन की विविधताओं को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। गढ़ी हुई भाषा का एक पक्ष अज्ञेय ने कभी नहीं लिया है। अनुभूति, प्रसंग और परिस्थिति की माँग पर अज्ञेय की भाषा स्वयमेव गतिशील होती हुई सार्थक व्यंजनाओं से युक्त दिखाई देती है। सही शब्द की तलाश और तलाशे हुए शब्द के साथ अनुभूति का गठबंधन अज्ञेय की काव्य-भाषा का महत्तम आयाम है।

अज्ञेय की काव्य-भाषा तीन प्रकार की है : पहला रूप संस्कृत की परिनिष्ठित शब्दावली से सम्बन्धित है। दूसरा देशज शब्दों से और तीसरा बोलचाल और व्यावहारिक शब्दावली से। जब कभी वे किसी उदात्त विषय पर लिखते हैं तो उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ हो जाती है। 'आँगन के पार द्वार' संग्रह की भाषा ऐसी ही है। इसके विपरीत जब कवि सामाजिक जीवन की समस्याओं और मानव-सम्बन्धों की बात करता है तब उसकी भाषा या तो बोलचाल के स्तर की होती है या फिर वह संस्कृत शब्दावली का सरलीकृत रूप। कभी-कभी उसकी भाषा एकदम सीधी सरल किन्तु व्यंजनागर्भित भी हो जाती है। अज्ञेय की परवर्ती रचनाओं में भाषा का सरल और व्यावहारिक, किन्तु अर्थमय रूप मिलता है।

संस्कृत शब्दावली का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। कहीं-कहीं तो कविताओं के शीर्षक और पंक्ति की पंक्ति संस्कृत की शब्दावली से आपूरित है। उदाहरणार्थ 'तं तु देशं न पश्यामि', 'ध्रुपदः शं', 'अहं राष्ट्र संगमनी जनानाम्', 'ओ निस्संग ममेतर', 'ब्राह्म मुहूर्तः स्वस्ति वाचन', 'रोपयित्री' और 'निरस्त्र' आदि। 'आँगन के पार द्वार' में तो संस्कृत के ऐसे-ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं कि उनका अर्थ जानने के लिए शब्दकोष की सहायता अपेक्षित होती है। उत्सृष्ट, इयत्ता, तथता, उदग्र, उदीषा, फेनोर्मियाँ, स्वल्पायास, परिक्रान्त, युगनद्ध, स्थैर्य, चक्रान्त, अनाप्त और अद्रवित आदि सैकड़ों शब्द सीधे संस्कृत से कविताओं में चले आये हैं। 'सागरमुद्रा' काव्य-संकलन में प्रयुक्त ये पंक्तियाँ तो पूरी तरह संस्कृत की हैं : "कृतं स्मर, मृतान् स्मर, क्रतो स्मर" आदि ! संस्कृत शब्दावली से सजी ये पंक्तियाँ भी देखिए : "जिसकी पीयूषवर्षी, अनवद्य, अद्वितीय धार मुझे आप्यायित करती है", "ओ मेरे पुण्य-प्रभव/ मेरे आलोकस्नात, पद्म-पत्रस्थ जल बिन्दु" और "यह स्रोतस्विनी है कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर काल प्रवाहिनी बन जाय" आदि !

तत्सम शब्दावली के अतिरिक्त देशज शब्दों का प्रयोग भी अज्ञेय की काव्य भाषा की विशेषता है। ऐसे शब्दों में अँजुरी, कलस, निमूल, कर्री, कलौंस, नीकी, कनियाँ, तलैया, आड़ी, जोखम, छोरियाँ, घिग्घा कौंध, आलरे, दलिहारे, गोख, थिगली, फिरकी, छीमी, तुमड़ी, छूटन, ओट, कनातियाँ, टूहु, टीकरा, पानागन, ओक, तई और अकारथ आदि कितने ही शब्दों को गिनाया जा सकता है। इतना ही नहीं अज्ञेय ने अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता के लिए कितनी ही देशज और स्थानीय क्रियापदों का भी प्रयोग किया है: गोड़ गये, ढरकी, झूमे, मसोरने, फिरता-फिरता, तकना, पसार, लखना, निहारा और हरसाता आदि। इनके अतिरिक्त उर्दू, फारसी और अंग्रेजी की शब्दावली का प्रयोग भी अज्ञेय की कविताओं में मिलता है। उर्दू शब्दों में इलाज, दीवाना जुदा, जोखिम, याद और गुमान आदि का प्रयोग भारी संख्या में देखा जा सकता है। कहीं-कहीं तो उर्दू मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है। उदाहरणार्थ "दामन पाक रखना, मुलम्मा छूटना आदि इसी प्रकार के प्रयोग है।" अंग्रेजी शब्दावली अपेक्षाकृत कम है, किन्तु फिर भी है: "रेल, पार्क, मोटर, पोर्च, थियेटर आदि ऐसे ही शब्द हैं। शब्द चयन के अन्तर्गत कवि अज्ञेय ने लोकभाषा का प्रयोग भी किया है। "जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट परजातंतर की" जैसी शब्दावली सीधी लोक जीवन से चली आई है। 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' और 'महावृक्ष के नीचे' संग्रहों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक बोलचाल के निकट है। इनमें भाषा सड़क के बीचोंबीच चलती दिखाई देती है।

भावाभिव्यक्ति को प्रभावी और सार्थक बनाने की दृष्टि से अज्ञेय ने अपनी भाषा में कहीं कोष्ठकों का; कहीं बिन्दुओं का और कहीं 'कि' का प्रयोग भी खूब किया है। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि भाव को रेखांकित कर कहने की मंशा से शब्दों की पुनरावृत्ति और क्रिया-आवृत्ति भी की गई है। उदाहरणार्थ—

1. कोष्ठक प्रयोग :

> "अवश्य नहीं हूँ : एक दिन गच्चा खाऊँगा और मारा जाऊँगा"
> (नहीं होगा, वह फिर बेमौत : शहादत का रुतबा नहीं पाऊँगा)
>
> [क्योंकि मैं उसे जानता हूँ]

2. बिन्दु प्रयोग :

> "धीरे-उफ कितने धीरे
> यह रात ढलती है...."
>
> **[क्योंकि मैं उसे जानता हूँ]**

3. 'कि' प्रयोग

> "पर अब क्या करूँ
> कि पास और कुछ बचा नहीं"
> [कितनी नावों में कितनी बार]

शब्दों की आवृत्ति :

> "एक सहमा हुआ सन्नाटा
> और दर्द, और दर्द, और दर्द"
> [क्योंकि मैं उसे जानता हूँ]

क्रिया की आवृत्ति :

> "जो भी पाया, दिया
> देखा, दिया
> जो सँजोया दिया, जो खोया दिया"
> [सागर-मुद्रा]

क्रियाओं से निर्मित विशेषणों का प्रयोग व संज्ञाओं से क्रियाओं का निर्माण भी अज्ञेय की काव्य भाषा की विशेषता है। कहीं-कहीं नये विशेषणों का प्रयोग भी भाषा को अर्थवान बना गया है। यथा—1 क्रियाओं से निर्मित विशेषण : 'पाहुन मन-माने', अरी धूल झगड़ैल" 2. संज्ञाओं से क्रिया निर्माण की प्रवृत्ति इन पंक्तियों में प्रकट हुई है : 'आकाश बदलाया/धूमायित भवें कसता हुआ झुक आया"[सागर मुद्रा] कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द-निर्माण की प्रक्रिया अज्ञेय में बहुतायत से मिलती है और इससे अज्ञेय की काव्य-भाषा को एक नई अर्थवत्ता प्राप्त हुई है। जहाँ नये विशेषण आये हैं; जैसे 'मुखर तपती वासनाएँ', 'शिलित रोमांस' और 'स्वीकारी आँसू' आदि वहाँ भी भाषा की प्रेषणीयता और सजीवता द्विगुणित हो गई है। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि अज्ञेय की काव्य-भाषा में अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर भाषा को नया संस्कार प्रदान किया है; शब्दों की आत्मा को पहचान कर उसे नये अर्थ और संदर्भ प्रदान किये हैं। उनकी भाषा में सार्थक शब्दावली; सजीव वाक्यावली; मूर्तीकरण की क्षमता; व्यंजक शब्द-प्रयोग से आई अर्थोद्भावन क्षमता; क्रियाओं व विशेषणों से अर्थ की प्रतीति और ध्वनिपरक शब्द-संयोजन आदि कितनी ही विशेषताएँ मिलती हैं। अज्ञेय की भाषा में शब्दों का ऐसा चुनाव जड़ाव है कि शब्द मात्र के उसे हटाने पर सारी इमारत के गिरने का अंदेशा पैदा हो जाय; भावों की ऐसी घनी बुनावट है कि एक शब्द का तागा टूट जाय तो कुछ भी पल्ले न पड़े, अज्ञेय के शब्द-चयन की सर्वोपरि विशेषता है। यही कारण है कि अज्ञेय की काव्य-भाषा एक संस्कारी भाषा है।

प्रतीक और बिम्ब :

अज्ञेय की प्रतीक योजना विशिष्ट और विविधात्मक है। इसके सहारे वे अपनी सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति को मूर्त रूप प्रदान करने में सफल हुए हैं। उनके प्रतीकों के स्रोत प्रमुखतः ये हैं : प्रकृति, दैनिक जीवन और विविध कलाएँ। कतिपय यौन प्रतीक भी अज्ञेय की प्रारम्भिक रचनाओं में मिलते हैं। अज्ञेय की मान्यता है कि प्रतीक सत्यान्वेषण का कार्य करते हैं। अतः महत्व प्रतीक शब्द का नहीं उससे मिलने वाले अर्थ का है। कुछ प्रतीक ऐसे हैं जो अज्ञेय को बहुत प्रिय हैं। अतः बार-बार प्रयुक्त हुए हैं : सागर, मछली, नदी, धारा, द्वीप आदि। सागर जीवन का, मछली जिजीविषा या चेतना, नदी समष्टि की, द्वीप व्यष्टि चेतना का और धारा गत्वरता की प्रतीक है। प्रेत, रेत जैसे प्रतीक प्रायः अधूरे मनुष्य और अनस्तित्व का प्रतीकार्थ रखते हैं तो 'खेत' सार्थकता और उर्वरता का। 'हरी घास' स्वच्छंदता की बिछली घास प्रिया की उदारता की और कलगी बाजरे की स्फूर्ति व प्रेरणा की प्रतीक है। बावरा अहेरी सूर्य का प्रतीक है। 'बावरा अहेरी' कविता में ही तीन अन्य प्रतीक भी आये हैं : खण्डहर अतस् का और अनी किरणों का प्रतीकार्थ रखती है। कुँआ और 'ताल' भी क्षणिक अनुभूतियों के प्रतीक बनकर आये हैं। चक्रांत शिला 'काल' का प्रतीक है तो असाध्य वीणा अभिव्यक्ति की खोज की : सत्य की प्रतीक है। प्रतीक और भी बहुत हैं पर यहाँ कुछ बानगी के रूप में ही दिये गये हैं। सामान्यतः अज्ञेय के प्रतीक प्रकृति से ही लिये गये हैं, किन्तु उनकी कविताओं में पौराणिक, दैनिक, सांस्कृतिक और पारम्परिक प्रतीक भी मिल ही जाते हैं।

अज्ञेय के बिम्बों में संश्लिष्टता और सघनता पर्याप्त है। वे चाक्षुण गुण से तो युक्त हैं ही; रंग, स्पर्श, घ्राण और ध्वनि बिम्बों की भी बहुतायत अज्ञेय के काव्य में मिलती है। अनेक स्थलों पर अज्ञेय के बिम्ब रूपक और मानवीकरण के सहारे भी खड़े किये गये हैं। अज्ञेय के बिम्बों में सद्यता, परिचितता, नवीनता, औचित्य और मूर्तीकरण का अद्भुत गुण विद्यमान है। वे अपनी अलंकृति में भी अकेले हैं। भाषा की सार्थक शक्ति का सहयोग पाकर उनकी बिम्ब योजना पर्याप्त प्रभावी और आकर्षक हो गई है :

ध्वनि बिम्ब :

1. 'दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़,
   हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो यूथ''
2. ''रेतीले कगार का गिरना छप छड़ाप''

घ्राण बिम्ब

1. ''तुम्हारी देह मुझको कनक चम्पे की कली है
   दूर ही से, स्मरण में भी गंध आती है''

2. "ये तुम्हारे नाम की दो बत्तियाँ हैं
धूप की
डोरियाँ दो गंध की"

स्पर्श बिम्ब :

"तुम्हारे नैन: पहले भोर की दो ओस बूँदे हैं
अछूती ज्योतिमय भीतर द्रवित"

अलकृत बिम्ब :

1. "पार्श्वगिरि का नम्र चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा"

2. "पति सेवा रत साँझ
उचकता देख पराया चाँद
लला कर ओट हो गयी"

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि अज्ञेय के बिम्बों में न केवल संश्लिष्टता, सद्यता और परिचितता है, अपितु वे मूर्तीकरण की क्षमता से युक्त है और प्रभावी भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं।

अप्रस्तुत योजना :

अज्ञेय को उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और मानवीकरण अलंकार प्रिय रहे हैं। इन सभी का सहज अकृत्रिम और सार्थक प्रयोग अज्ञेय की काव्य भाषा में मिलता है। उनके द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुत भी नये, औचित्यपूर्ण, मौलिक और प्रभाव साम्य, रंग साम्य और गुण साम्य पर आधारित हैं। 'उपमा' का प्रयोग तो बहुत ही कुशलता से किया गया है :

1. "चिमटी से जकड़ी सी नभ की थिगली में तारों की विसरी सुइयाँ सी यादें"
2. "स्फटिक मुकुट सा निर्मल वापी का तल"
3. "सभी पुराने लुगड़े-से झर गये"
4. "विछलती डगर-सी सुनसान सरिता"
5. "बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा"
6. "खिड़की के आगे वह झुकी डाल-सी"
7. "बरफ की लड़ी की छाया-सा लटका हूँ मैं"

अज्ञेय के रूपक भी बड़े आकर्षक बन पड़े हैं :

"भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ"

इसी प्रकार 'अज्ञेय' ने 'धरती सवत्सा-कामधेनु', लोचन दो संयुक्ति निबिड़ की स्फटिक विमलवापियाँ, छाँहें ममतामयी बाँहें', 'काल की दुर्वह गदा', और 'नीचे महामौन की सरिता दिग्विहीन बहती है' जैसे रूपक प्रयोग सार्थक और आकर्षक हैं। रूपकों के अलावा उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी अज्ञेय ने सफलता पूर्वक किया है: 'तुम्हारी पलकों की कँपना, मानो दीखा तुम्हें लजीली किसी कली के खिलने का सपना' या 'मानो कोई तपक्षीण कापालिक, साध्य—साधना की बलबुझी, बची-बुची राख पर पैर रखता हुआ चाँद भागा जा रहा था।' निम्नांकित पंक्तियों में अप्रस्तुत नवीनता व उत्प्रेक्षा का प्रयोग देखिए :

'ओस बूँद की ढरकन
इतनी कोमल तरल कि झरते-झरते
मानो हरसिंगार का फूल बन गई।'

मूल्यांकन

समग्र विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि अज्ञेय का काव्य-सर्जन अपने सहयोगियों में सर्वोपरि है। उसमें निरन्तर आत्मान्वेषण, सत्यान्वेषण, एक जिजीविषा व मानवास्था की खोज दिखाई देती है। अज्ञेय काव्य की प्रणय, सौन्दर्य और दर्द की अनुभूतियाँ अनाघ्रात और अस्पर्शित अनुभूतियाँ हैं और इनकी अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त भाषा, बिम्ब, प्रतीक व अप्रस्तुत योजना आदि सभी जड़ता से दूर है। उनकी काव्य-भाषा उनके द्वारा अन्वेषित है। उसमें माध्यमत्व कम है और अर्थ गर्भत्व ज्यादा है। यह माध्यमत्व तो केवल इसलिए है कि भाषा की सामाजिक महत्ता है। शब्दों व प्रतीकों में नया अर्थ भरने की चेष्टा में अज्ञेय ने कोई कसर नहीं उठा रखी है।

३. मुक्तिबोध

तमाम दुनियाँ की वेदना का जहर पीकर भी जो दूसरों को स्नेह-निर्भर में नहलाता रहा; जिसने जीवन को जीने के लिए अपना गणित इस्तेमाल किया और जो जब तक जिया तब तक दूसरों के लिए अपनी जिन्दगी हारता रहा; ऐसे व्यक्तित्व के धनी मुक्तिबोध 13 नवम्बर, 1917 की रात को कुनकर्णी ब्राह्मण माधवरावजी के घर जन्मे थे। वे जिस घर में जन्मे थे; उस घर के संस्कार मुक्तिबोध को हूबहू रास नहीं आये। संस्कारों की जकड़ भी उन्हें अपनी गिरफ्त में नहीं ले सकी। अधिक से अधिक पारिवारिक संस्कार उनके व्यक्तित्व को छू भर सके। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को अपने निजी मुहावरे में ढ़ाला और उसे एक निजता प्रदान की। फलस्वरूप बँधी बँधाई सरहदें खुद ब खुद टूटती गईं क्योंकि वे निम्न मध्य वर्ग की छटपटाहट और परेशानियों से जुड़ना चाहते थे। जुड़ने की इस कोशिश में 'मुक्तिबोध' अपने छटपटाते व्यक्तित्व को लेकर अँधेरे गर्म रास्तों पर निकल पड़े थे क्योंकि वे मानव के तुलसी वन में लगी भयावह आग को बुझाकर मानवीय प्रेम की अगरू-धूप से उसे गंधित करना चाहते थे। समझौता उन्हें नापसंद था। यही बजह रही कि वे न तो परिस्थितियों से समझौता कर सके और न सांसारिक व्यावहारिकता से अपना तालमेल बिठा पाये। मुक्तिबोध के छोटे भाई शरच्चन्द्र ने तो साफ लिखा है कि "जिन्दगी को देखने की एक व्यापक दृष्टि उन्हें उपन्यासों से प्राप्त हुई। उनकी जिज्ञासा भी बहुत तीव्र थी। समूची मानव-जाति के क्रम-विकास का अध्ययन स्थिति, गति और नियति का अध्ययन जैसे उन्होंने किया था उसी तरह भिन्न देशों के इतिहासों को भी उन्होंने पढ़ा था। धीरे-धीरे वे अपनी परिचित संज्ञा से छिटककर अपने चाहने वालों के बीच में महामानव (नीचे के अर्थ में नहीं) और 'महागुरु' (विद्रोही) बन गये।"[1] असुरक्षा की भावना उन पर बुरी तरह सवार हो गई थी जिसे हम उनकी कविताओं की घनी लम्बी पंक्तियों में देख सकते हैं। साधारण व्यक्ति को ऐसा महसूस होता था जैसे वे उन्हें कहीं कुछ शंका से देखते-परखते हैं। कुछ लोग उन्हें बहुत बड़ 'फ्रॉड' समझते थे और कुछ अक्खड़ साहित्यिक और भला आदमी। मेरा अनुभव है कि वे दुनियाँ भर के सभी अच्छे और बुरे तत्वों का

1. राष्ट्रवाणी : मुक्तिबोध श्रद्धांजलि विशेषांक पृ. 288.

मिला-जुला व्यक्तित्व थे।'[1] असल में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व एक ऐसे योद्धा का व्यक्तित्व था जो लक्ष्य पूरा करने के लिए अपनी जिन्दगी तक को दाव पर लगा देता है।

मुक्तिबोध ठोस कम्यूनिस्ट थे। उन्होंने कैरियरिस्ट कम्यूनिस्टों को पीछे छोड़कर ही अपना रास्ता बनाया था। उनके अपने आचार-विचार और सिद्धान्त थे। बातचीत के दौरान वे अक्सर कहा करते थे कि 'छोटे धंधे वालों से ही हमें अपनी जरूरत की चीजें खरीदनी चाहिए; एक आर्थिक स्तर के मित्रों से ही मेल-जोल लेन-देन की जानी चाहिए। रईस के उपकारों क मुआवजा हमेशा ही बड़े मँहगे भाव में पड़ता है'—आदि उनकी आचार-निष्ठा के एकाध बिन्दु हैं, जिनसे इस आदमी की और उसकी रचना की अधिक स्पष्ट और ईमानदार समझ पैदा की जा सकती है।[2] जीवन के आखिरी वर्षों में मुक्तिबोध राजनांदगाँव में रहे थे। यही वह स्थान है जिसने मुक्तिबोध की लेखनी का कमाल भी देखा और उस पीड़ा को भी देखा जो मुक्तिबोध को तिल-तिलकर काटती रही। निरन्तर खटती जिन्दगी; रोज-रोज के आकस्मिक व आमद सदर्भों से उलझते-पुलझते मुक्तिबोध 'मैनिनजाइटिस' के शिकार हो गये और 11 सितम्बर सन् 1964 को दिल्ली अस्पताल में मौत की गहरी नींद में सो गये। मुक्तिबोध की मौत न केवल एक पीढ़ी के प्रतीक की मौत थी; अपितु एक हिम्मतवर; निजता युक्त और जीवन से प्रतिबद्ध कलाकार की भी मौत थी। उन्होंने जो जिन्दगी देखी थी; जो पीड़ा और यातना सही-भोगी थी; उसे वे पूरी ईमानदारी से अपनी कविता में कैद कर गये हैं। ऐसी स्थिति में उनसे कविता और कविता से उनकी जिन्दगी को देखा-समझा जा सकता है। असल में अधूरी उम्र जीकर भी वे कविता में पूरे जीवन को उतार सके हैं।

'मुक्तिबोध' ने सन् 1935 में लिखना प्रारम्भ किया था। उनकी आरम्भिक रचनाएँ स्वर्गीय माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'कर्मवीर' में छपी थीं। सन् 1938 से 1942 तक के वर्षों में मुक्तिबोध की बौद्धिक चेतना विकसित होती रही। इस बीच उन्होंने मानसिक संघर्ष भी सहा और वर्गसाँ की जीवनी शक्ति के प्रति वे आस्थावान भी बने रहे। सन् 1943 में 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ और अन्य 6 कवियों के साथ मुक्तिबोध की सोलह कविताएँ भी उसमें स्थान पा सकीं। अपने तारसप्तकीय वक्तव्य में उन्होने जो लिखा वह उनकी काव्य-सृजन सम्बन्धी प्रेरणाओं का संकेतक है : "मेरे बालमन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्वमानव का सुख-दुःख, इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।" विश्व मानव के

1. भाऊ समर्थ का गजाननमाधव मुक्तिबोध में संकलित निबंध : दो कदम की यात्रा पृ. 41.
2. लक्ष्मणदन्त गौतम : गजानन माधव मुक्तिबोध सापेक्षता का सत्य से उद्धृत।

सुख-दुख की ओर भी कवि ने जब दृष्टिपात किया तो स्वतः ही मार्क्सवाद की ओर उनका झुकाव बढ़ता गया। सन् 1943 में मुक्तिबोध शुजालपुर छोड़कर उज्जैन आ गये थे और तीन वर्ष के लगभग वहाँ रहे। इस अवधि में उन्होंने 'मध्यभारत प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना करके मध्यभारत की साहित्यिक प्रतिभाओं को आगे आने की प्रेरणा दी। सन् 1945 में वे 'हंस' के संपादकीय विभाग में शामिल होने के लिए बनारस गये, किन्तु आर्थिक विपन्नता में ही जीवन बिताते रहे और कलकत्ते भी गये। इसके बाद मुक्तिबोध 1946-47 में जबलपुर और 1948 में नागपुर चले गये। 'नागपुर' में आर्थिक अभाव झेलते हुए भी उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ पूरी कीं। इसी अवधि में उन्होंने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' कृति लिखी। 'नागपुर' से प्रकाशित होने वाले 'नया खून' का संपादन भी मुक्तिबोध ने किया। 'जबलपुर' से प्रकाशित होने वाली 'वसुधा' में ही धारावहिक रूप से उनकी डायरी प्रकाशित हुई। 'एक साहित्यिक की डायरी' और 'कामायनी: एक पुनर्विचार' कृति ने मुक्तिबोध के समीक्षक रूप को उभारा और वे एक मौलिक व महत्वपूर्ण समीक्षक माने जाने लगे।

समय का पहिया घूमता गया–घूमता गया और मुक्तिबोध भटकते रहे--एक स्थान से दूसरे और दूसरे से तीसरे की यात्रा करते रहे; किन्तु कहीं भी जम कर नहीं रह पाये। इतने पर भी वे न तो कभी निराश हुए और न अपनी लड़ाई कभी बंद ही कर सके। सन् 1954 में उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से एम. ए. की परीक्षा भी इस मंशा से पास की कि कहीं शायद कोई अध्यापकी मिल जाय। वे 'लैक्चरर' बनने की ललक लिये जीते रहे और 1958 में उनकी यह इच्छा पूरी हो सकी। आखिरकार राजनांदगाँव के दिग्विजय कॉलेज में उन्हें प्रध्यापकी मिल ही गई जो जीवन पर्यन्त चलती रही। राजनांदगाँव आकर और 'लैक्चरर' बनने के बाद उनका तनाव कुछ कम हो गया था। उन्होंने अपने अभिन्न हृदय वीरेन्द्रकुमार जैन को 31 अगस्त, 1958 के एक पत्र में लिखा था : "अब मेरा हाल सुन लो। जिन्दगी में काफी ठुकाई-पिटाई के बाद अब राजनांदगाँव आ पहुँचा हूँ। यहाँ का कॉलेज नया नया है। सभी लोग सहयोग की भावना से प्रेरित हैं। काफी आराम से हूँ। पिछली कसमकश और मानसिक तनाव अब यहाँ नहीं है। इसलिए यहाँ का वातावरण सुखद है। सोचता हूँ राजनांदगाँव मुझे लाभप्रद होगा।"[2] हुआ भी यही कि राजनांदगाँव में ही मुक्तिबोध ने अपने अनेक सफल कविताएँ लिखी। 'ब्रह्मराक्षस', 'दिमागी गुहान्धकार का ओरांग उटांग, 'अँधेरे में' 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' आदि, 'विपात्र' भी यहीं लिखा गया। 'काठ का सपना' और सतह से

2. राष्ट्रवाणी : मुक्तिबोध विशेषांक जनवरी, फरवरी 1965 पृ. 281.

उठता हुआ आदमी' में संग्रहीत कहानियों का सृजन-स्थल भी यही रहा। निरन्तर अपनी प्रतिकूलताओं से लड़ते हुए मुक्तिबोध ने एक जिजीविषा, एक जीवनी शक्ति और तमाम तल्खियत को झेलते हुए भी एक उत्साह संचित कर लिया था। वीरेन्द्र कुमार जैन को उन्होंने एक पत्र में यह लिखा भी था : "हालत तो खराब ही है, पर जिन्दगी में बड़ी जानदारी है। इसी के सहारे, जहाँ बनता है, दुलत्तियाँ झाड़ देता हूँ। भौतिक असफलताओं की चट्टानों पर टकराकर भी हिम्मत नहीं हारा हूँ।"[1] सचमुच मुक्तिबोध जब अपनी लड़ाई अपने मन मुताबिक लड़ने की हिम्मत पा चुके थे तभी सन् 1964 की वह कालरात्रि आ पहुँची और वे अपने फौलादी विश्वास को लेकर भी हार गये—सदा के लिए चले गये।

मुक्तिबोध जिन्दगी भर लड़ते रहे। उन्होंने कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ी—समाज से—इतिहास से—जीवन से और सबसे ज्यादा अपने आपसे। उनकी इन तमाम भीतरी—बाहरी लड़ाइयों को उनकी कविताओं में देखा जा सकता है। उनकी कविताएँ उनकी जिन्दगी का 'एक्सरे' हैं और उनकी जिन्दगी कविताओं की अविस्मरणीय संदर्भ-संकेतिका। वे जिन्दगी से कविता और कविता से जिन्दगी को जोड़कर प्रस्तुत करने वाले प्रतिबद्ध कलाकार थे। अतः यदि डॉ० क. प. सारथि ने यह लिखा तो ठीक ही है कि "मुक्तिबोध के कवि और मुक्तिबोध के आदमी के बीच में कोई नाटकीय दूरी मैं नहीं पाता। मेरे लिए तो मुक्तिबोध की कविता साफ-साफ मुक्तिबोध की जिन्दगी को प्रतिबिम्बित करने वाली है और इसे एक आत्मकथात्मक वृत्त के रूप में जिसका कवि-नायक स्वयं मुक्तिबोध है, देखना ज्यादा संगत लगता है।....उन्होंने अपनी जिन्दगी की बुनावट और कविता की बनावट में कहीं गड्ड-मड्ड नहीं होने दी।"[2] वस्तुतः 'मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/सभी मानव सुखी, सुन्दर और शोषणमुक्त कब होंगे' का आकांक्षी मुक्तिबोध स्वयं पिसता रहा। टूट-टूटकर खड़ा और खड़ा हो-होकर पुनः असंगतियों व त्रासदियों का शिकार होता रहा, किन्तु न तो हारा और न झुका ही। ठीक भी है वह हारता और झुकता भी तो कैसे? उसका व्यक्तित्व विद्रोह के साँचे में ढला था—ऊपर से नीचे तक अपनी निजता का कायल जो था। मुक्तिबोध के छोटे भाई शरच्चन्द्र मुक्तिबोध ने तो साफ लिखा है : "He was a true rebel", यह वह व्यक्तित्व था जो किसी प्रकार का अन्याय या शोषण नहीं सह सकता था। वह व्यक्तित्व स्वयं एक ऐसा नैतिक मूल्य था जिसके संपर्क में आकर जीवन की वास्तविकता अपने असली

1. राष्ट्रवाणी पृ. 280.
2. डा. क. प. सारथि का लेख : गजानन माधव मुक्तिबोध संपा. लक्ष्मणदत्त गौतम पृ. 57.

रूप में प्रकट हो जाती थी। अपनी अक्षमताओं के सम्बन्ध में जागरूक होने से यह विद्रोही व्यक्तित्व मानव जीवन की अक्षमताओं की ओर, दुर्बलताओं की ओर, क्षमाशील दृष्टि से ही देखता था। उन्होंने निषेध किया तो, लेकिन मानवी दुर्बलताओं, मानवता का नहीं। ... एक ओर मानवी जीवन के परिवर्तन के प्रति असीम आस्था उत्पीड़ित मानव के भविष्य के प्रति निष्ठा, उपेक्षितों के प्रति गहरा लगाव और दूसरी ओर जीवन की अनेक सतहों पर प्रतीत होने वाली भयानक विसंगति और फलस्वरूप घोर अकेलापन—ये उनके एकरस व्यक्तित्व के दो पहलू थे।"[1]

'मुक्तिबोध' घुमक्कड़ी वृत्ति के जीव थे। वे अनेक बार तो अकेले ही घूमने निकल पड़ते थे। वीरान रास्तों पर भटकना और बीड़ी पीते हुए सड़कों पर घूमना उनका स्वभाव था। उनके इस स्वभाव के सम्बन्ध में न केवल भाऊ समर्थ ने लिखा है; अपितु शरद कोठारी और वीरेन्द्र कुमार जैन ने भी अनेक बातें कही हैं। इस घुमक्कड़ और मूंगफलियाँ खरीद कर घूमने वाले कवि के सम्बन्ध में श्री शरद कोठारी ने लिखा है : "रानी सागर के ताल के समीप पगडंडी से घूमकर करीव एक मील दूर एक पहाड़ी टीले पर बैठ जाना हमारा दैनिक क्रम था।"[2] असल में मुक्तिबोध की कविताओं में जगह-जगह पुराने कुएँ, बावडी, बावड़ी में डूबी हुई सीढ़ियाँ, खण्डहर; वीरान पठार, घने बरगद और फूटा हुआ मंदिर आदि का जिक्र अनेक बार अनेक संदर्भों में आता रहा है। यह सब उनके अपने परिवेश, जिसमें वे साँस लेते थे—घूमते-फिरते थे; की देन है। इस ओर प्रभाकर माचवे ने भी संकेत किया है : "एक सूखी वापी जिसके भीतर उतरने की सीढ़ियाँ टूटी हैं, कमानियों पर घास-फूस उगा है, नीचे उतरने पर हरी काई और बहुत कम जल है—मंगलनाथ के रास्ते पर, भैरोगढ़ के आस-पास वेधशाला के पीछे (उज्जैन में) कई थीं और हैं। हम यानी डॉ. जोशी, मैं और मुक्तिबोध ऐसे एकांत स्थानों पर बहुत घूमे हैं। भर्तृहरि की गुफा के रास्ते श्मशान घाट के पास दिन पर दिन और रातें दर्शन, राजनीति और साहित्य की चर्चाएँ करते हुए बिताई हैं।"[3] इसी से मिलती-जुलती बातें श्री वीरेन्द्र कुमार जैन ने भी कही हैं। उन्होंने लिखा है कि "दिन के कई-कई घंटे हम इन्दौर के जाने-अनजाने अनेक रास्तों पर बातें करते हुए बदहवास भटकते थे। किशनेपुर की चन्द्रभागा नदी, जूनी इन्दौर के टूटे-फूटे पुलों; पुरातन देवालयों, दरगाहों, मस्जिदों, खण्डहरों, वीरान रास्तों, पुरातनबद्ध इमलियों के तलदेशों में विचरते हुए हम हर चीज में सौन्दर्य के जाने कितने आयामों का अन्वेषण और अनावरण

1. शरच्चन्द्र का लेख : मेरे बड़े भाई राष्ट्रवाणी 1565 पृ. 290.
2 शरद कोठारी का लेख : 'अन्तिम पड़ाव'
3. राष्ट्रवाणी : मुक्तिबोध विशेषांक सन् 1965 पृष्ठ 328

करते ।"[1] कहना यही है कि मुक्तिबोध की कविताओं में जो भयावहता, रहस्य लोक और संशयग्रस्त वातावरण मिलता है, जिन मुतहा मकानों व खण्डहरों का संदर्भ आया है, वह सब कवि के परिवेश व प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष घटनाओं से सम्बन्धित है — कोई कल्पना क्रीड़ा नहीं ।

मुक्तिबोध की कविताओं में आए 'हॉरर' और 'एब्सर्ड' स्थितियों का कारण एक यह भी रहा है कि वे जासूसी और वैज्ञानिक उपन्यास बहुत पढ़ते थे । उनके पुत्र रमेश मुक्तिबोध के अनुसार वे अपने अन्तिम दिनों में जासूसी उपन्यास और 'साइंस फिक्शन' बहुत पढ़ते थे । यही कारण है कि मुक्तिबोध की कविताओं में अचानक; झटपट, सहसा, अकस्मात् और एकाएक जैसे शब्द बार-बार आये हैं । जासूसी उपन्यासों की दुनियाँ में कदम-कदम पर अचानक घटित संदर्भों की जो रेल पेल रहती है; उसे मुक्तिबोध की कविताओं में भी देखा जा सकता है । 'अँधेरे में', 'चकमक की चिनगारियाँ' 'चम्बल की घाटियाँ' 'ब्रह्मराक्षस' और 'लकड़ी का बना हुआ रावण' आदि कितनी ही कविताओं की दुनियाँ भयानक परिवेश और जासूसी शैली के मूल शिल्प से सजी हुई है । इनमें बहुत कुछ अचानक हुआ है । लगता है जैसे कवि कदम-कदम पर एक अजीबोगरीब और दहशत भरी दुनियाँ का साक्षात्कार करता-कराता पाठक की चेतना को झकझोरता गया है । कवि ने जिस यथार्थ को देखा-भोगा और जिस शोषण व आतंक को सहा और जाना उसे अपनी कविताओं में कैद कर लिया । भयानक परिवेश के तहत वे अपने साक्षात्कृत को अधिक प्रमाणिक बना सके हैं, इसमें सन्देह नहीं । ऐसी स्थिति में जो समीक्षक मुक्तिबोध को मात्र चौंकाने और भटकाने वाला कवि जादूगर मानते हैं; उन्हें उनके हमसाया परिवेश की पुनर्परख करनी चाहिए । उनका कवि-व्यक्तित्व जीवन के व्याख्याता; मर्मोदघाटक कलाकार; परिवेश की हर साँस का इतिहास लिखने वाले कवि और मैदानों, पहाड़ों, खण्डहरों, झील झरनों व घाटियों में से जीवन का रास्ता निकालने वाले जीवन स्रष्टा का व्यक्तित्व था । वे शब्दों के जादूगर मात्र नहीं थे; जीवन की गहरी बावड़ियों में झाँक और डूबकर असली मोती पाने के प्रयत्नों में लगे रहने वाले स्वतन्त्र चेता कवि-कलाकार थे । उन्होंने अपनी छोटी सी जिन्दगी में अनेक जिन्दगियाँ जी ली थी— दहन—अन्तर्दहन की लपटों से घिरी हुई जिन्दगियाँ; किन्तु फिर भी यही विश्वास लेकर बढ़ते रहे :

> अपने छोटे निज जीवन में
> [illegible] जी हैं अनगिन जिन्दगियाँ
> जिन्दगी हरेक
> ज्वलित चंदन का इंधन है

1. धर्मयुग 13 मई, 1973 पृष्ठ 21

मेरी धमनी में जलते चन्दन का धुआँ
छाती के रेशे-रेशे में
उसने घुस-फँसकर दी काली
धड़कन मेरी,
पर वह काजल है चंदन का ।[1]

काव्य-सृजन :

मुक्तिबोध की काव्य-प्रतिभा का परिचय तथा उनकी आत्मा में बिखरे कितने ही तथ्यों-सत्यों का हवाला हमें 'तारसप्तक' की रचनाओं से ही मिल जाता है। फिर भी तारसप्तकीय मुक्तिबोध और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' के मुक्तिबोध में अन्तर है, लेकिन यह अन्तर एक वृत्त से अनेक वृत्तों के रूप में विस्तार पाता गया है। लगता है कवि धीरे-धीरे थाह-थाहकर—रास्ते के हर संदर्भ को देख-समझ कर आगे बढ़ा है। यही कारण है कि जीवन की सच्चाई के विविध स्तर उसके मानस में कठोर सत्यों के रूप में भरते गये हैं और उभरते गये हैं कविताओं की शैली में। यह सच है कि मुक्तिबोध जीवन-तथ्यों के कवि थे। उनके ये तथ्य ऊपरी कम भीतरी अधिक थे। जीवन भर विषैले घूँट पीकर भी उफ़ तक न करने वाले मुक्तिबोध कविताओं में भी इसी सच्चाई को जीते नज़र आते हैं। उनकी कविताओं को जटिल, भयावह और उलझी हुई कहकर टालना या फिर उनका ऊपरी मूल्यांकन सही नतीजे की ओर नहीं ले जा सकता है। मुक्तिबोध ने अपनी विषाद भरी अधूरी जिन्दगी को जिस धैर्य और साहस के साथ जिया, उसी धैर्य और साहस के साथ पढ़ी जाने की माँग उनकी कविताएँ भी करती हैं। वे रुक-रुक कर सोच-सोचकर पढ़ी जानी चाहिए। जल्दबाजी या तो भाव के ऊपर से बहा ले जायेगी या फिर उनके प्रतीक और बिम्ब पल्ले ही नहीं पड़ेंगे। उनकी गहरी और विशाल जीवन दृष्टि ने कितनी ही आभ्यंतर स्थितियों के विराट बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। इनके प्रस्तुतीकरण में पारंपरिक प्रतीकों से लेकर आधुनिक जीवन के विप्लव विद्रोह, वैषम्य और अंदरूनी घावों तक की तस्वीर उतारने वाले बिम्ब और प्रतीक मौजूद हैं।

तारसप्तक और मुक्तिबोध :

मुक्तिबोध की कविताएँ हमें पहली बार अगर किसी कृति में संकलित मिलती हैं, तो वह 'तारसप्तक' है। 'तारसप्तक' 1943 में प्रकाशित हुआ। यह वह समय था जबकि छायावादी आन्दोलन की धार सूख सी गई थी और प्रगतिवादी काव्य धारा वेगवती होकर प्रवाहित हो रही थी। इसके साथ ही छायावाद की निजी वैयक्तिकता को बच्चन', 'अंचल' और नरेन्द्र शर्मा अपने ढंग से विस्तार दे रहे थे।

---

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 103

त्रिलोचन शास्त्री, केदार अग्रवाल, शमशेर, शिवमंगलसिंह सुमन, नागार्जुन और भवानी प्रसाद मिश्र जैसे कवि अपनी प्रगतिशील साहित्य-सर्जना में रत थे। छायावादी निराला का मानस भी इस समय प्रगतिशीलता के नये दरवाजे खटखटा रहा था और पंत की लजीली-सजीली कल्पनाएँ 'युगांत' की विधिवत् घोषणा करके 'युगवाणी' के रूप में ढल चुकी थीं। ऐसे साहित्यिक परिवेश में 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ और कविता जिस रूप में सामने आई वह एक ओर छायावाद के कुसुमों के सौन्दर्य और पराग से सिक्त थी तो दूसरी ओर प्रगत्युन्मुखी सामाजिक चेतना से रंजित भी। इस तरह तारसप्तकीय कविताओं का रंग-रूप और कथ्य छायावाद, प्रगतिवाद से संयुक्त और स्पर्शित होते हुए भी नवीन था। यह नवीनता मात्र भाषिक स्तर की नहीं थी; कथ्यगत भी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण नर-संहार और भयावह परिणामों से समूचा परिवेश—परिवेश में साँस लेता आदमी अनिश्चय, शंका, लघुता और नगण्यता बोध से भर गया था। हर आदमी अपने अंतकरण में बिछे-फैले श्याम-नीले पट्ट पर खिंची रेखाओं का अर्थ समझने को विवश हो गया था। वह अपने भीतर झाँक कर कोई सत्य पाना चाहता था। आइंस्टीन' की विचारधारा देश और काल—'स्पेस एण्ड टाइम' को स्वतंत्र भौतिक वस्तु मानने से इन्कार कर चुकी थी। वह बता रही थी कि देश-काल हमारी चेतना के उपयोगी विकार मात्र हैं। देश और काल के इस बोध को पाकर तो मनुष्य अपनी ही नज़र में छोटा महसूस करने लगा था। अनुभूति का यह क्षण मनुष्य को लघुत्व का प्रतीक—तुच्छता का प्रतिनिधि तो बना गया, किन्तु यह नया भाव भी विकसित कर गया कि जीवन को असुरक्षित, नगण्य और अनिश्चित स्थिति में उनका प्रत्येक क्षण मूल्यवान है; जिन्दगी का हर कदम अहमियत रखता है और उसकी हरेक अनुभूति न केवल महत्वपूर्ण है अपितु मूल्यवान व अभूतपूर्व भी है। यही द्वन्द्वबोध नयी कविता के मूल में अवस्थित है। मानव-मन का यही संघर्ष 'तारसप्तक' की कविताओं का सहत्तम संदर्भ है। मुक्तिबोध की समस्त रचना-प्रक्रिया का मूल केन्द्र भी यही है। उनका मानसिक संघर्ष युक्त असंतोष उनके काव्य-सृजन के साथ निरंतर जुड़ा रहा है—कभी सौन्दर्यान्वेषण के स्तर पर; कभी व्यक्तित्व शोधन में और कभी वर्ग-वैषम्य के विरोध में तो कभी विश्व-मानव के सहयात्री के रूप में।

'तारसप्तक' में मुक्तिबोध की सत्रह कविताओं को जगह मिली है। इन कविताओं में अधिकांश कविताएँ छायावादी संस्कारों से स्पर्शित हैं। ध्यान रहे कि ये छायावादी संस्कार और कवितागत रंग-रूप शिल्प के धरातल तक ही हैं। जिन कविताओं में छायावादी पदावली है; उनमें जो कथ्य है वह प्रगतिशील भावबोध से संपर्कित है। 'आत्मा के मित्र मेरे', 'मृत्यु और कवि', 'हे महान्' और 'नाश देवता' आदि कविताओं को देखा जा सकता है। ये वे कविताएँ हैं जिनमें शैल्पिक स्तर पर

कवि छायावादी और कथ्य के स्तर पर प्रगतिशील दिखाई देता है। उदाहरण के लिये ये पंक्तियाँ देखिए :—

जो हृदय सागर युगों लहरता
आनंद में व्याकुल चला आता
कि नीला गोल क्षण-क्षण गूँजता है
उस जलधि की श्याम लहरों पर जुड़ा आता
सघनतम श्वेत, स्वर्गिक फेन, चंचल फेन
जिसको नित लगाने निज मुखों पर स्वप्न की—
मृदु-मूर्ति-सी
अप्सराएँ साँझ प्रातः
उतर आतीं कान्तिमय नवहास लेकर[1]

इसी तरह ये पंक्तियाँ लीजिए—

घनी रात बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक निस्तब्ध वनांतर।
व्यापक अंधकार में सिकुड़ी सोई नर की बस्ती भयंकर॥
है निस्तब्ध गगन रोती सी सरिता-धार चली घहराती।
जीवन-लीला को समाप्त कर मरण सेज पर है कोई नर॥[2]

इन उदाहरणों के अलावा और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं; किन्तु स्पष्टीकरण के लिए ये नाकाफी नहीं है, यों बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती है। जिन कविताओं में शैल्पिक सज्जा छायावाद की है; उन्हीं का कथ्य छायावादी नहीं है। 'आत्मा के मित्र मेरे' कविता में ही कवि की प्रगतिशील चेतना को पढ़ा जा सकता है। कवि ने समाज-संपृक्त वैयक्तिकता के स्वरूप को यों आरेखित किया है :

अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे जो चले हैं प्राण
उनको कौन देता है
अचल विश्वास का वरदान
उनको कौन देता है प्रखर आलोक
खुद ही जल
कि जैसे सूर्य
अपने ही हृदय के रक्त की ऊषा
पथिक के क्षितिज पर बिछ जाये

1. तारसप्तक : पृष्ठ 44
2. तारसप्तक : पृष्ठ 56

जिससे यह अकेला प्रान्त भी निःसीम परिचय की मधुर संवेदना से
आत्मवत हो जाए।[1]

'पूँजीवादी समाज के प्रति', 'नाश-देवता और 'हे महान्' जैसी कविताओं की स्थिति भी ऐसी ही है। इनमें यदि शिल्प छायावादी है तो कथ्य नया है—प्रगतिशील चेतना का वाहक है। 'पूँजीवादी समाज के प्रति' शीर्षक से लिखित कविता में कवि ने पूँजीवादियों की रेशमी संस्कृति के प्रति क्रोध प्रगट किया है और आवेशी शैली में यहाँ तक लिख दिया है :

तुम को देख मितली उमड़ आती शीघ्र
....

मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।[2]

"हम घुटने पर, नाश देवता, बैठ तुझे करते हैं वन्दन" कहने वाले मुक्तिबोध का यह वन्दन पारंपरिक नहीं है। यह वंदना तो नये सृजन की भूमि तैयार करने के लिए है क्योंकि वह इस सचाई से वाकिफ़ है कि नाश-देवता के तीक्ष्ण वाणों की नोकों पर ही नया जीवन संचरित होगा। 'तारसप्तक' में संकलित कविताएँ इस बात की गवाही देती हैं कि कवि की संसिक्ति सामाजिक जीवन से है। सामाजिक जीवन के चित्रकार मुक्तिबोध की तरसप्तकीय कविताओं की संवेदना का धरातल यथार्थ संयुक्त है। यथार्थ की इस जमीन पर लिखी गई 'मुक्तिबोध की कविताओं का मूल स्वर पूँजीवाद सभ्यता-संस्कृति के प्रति घृणापरक, विद्रोहात्मक अभिव्यंजन से भी सम्बद्ध है और जीवनगत विषमता व अन्तर्बाह्य संघर्ष के कारण उत्पन्न असफलता, असंतोष के कारण जन्मे एकाकीपन के भाव से भी संपृक्त है। अकेलेपन का यह बोध तारसप्तक के कवियों में सबसे ज्यादा मुक्तिबोध में मिलता है। 'अन्तर्दर्शन' कविता में अपने गहरे असंतोष की ज्वाला का जिक्र करते हुए मुक्तिबोध अकेलेपन से भर गये हैं—

मैं अपने में ही जब खोया तो अपने से ही कुछ पाया।
निज का उदासीन विश्लेषण आँखों में आँसू भर लाया।।
मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही।

1. तारसप्तक : आत्मा के मित्र मेरे पृष्ठ 46-47
2. तारसप्तक : पूँजीवादी समाज के प्रति पृष्ठ 61

गहरे असंतोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझको ही ।।
× × × × ×
मेरा मन गलता निज में जब अपने से ही हार खा चुका ।
दारुण-क्षोभ अग्नि में अपना प्रायश्चित्त प्रसाद पा चुका ।।[1]

असंतोष व आत्म पराजय के भावों से लुट-पिटकर और विपरीत परिस्थितियों से अनवरत संघर्षरत रहने के कारण ही मुक्तिबोध न केवल मनःशक्ति की अपितु शारीरिक शक्ति की क्षीणता भी अनुभव करते थे। 'तारसप्तक' की 'आत्मसंवाद' कविता में इसी से वे यह लिख गये हैं कि "प्राण की बुरी है हालत/और जर्जर देह/यह है खरी हालत"। जर्जर देह वाले मुक्तिबोध की संवेदना मात्र हताशा और निराशा तक ही सीमित नहीं है। यह हताशा तो अन्तर्बाह्य संघर्षों व पीड़ाओं का तात्कालिक परिणाम मात्र है—अन्तिम निष्कर्ष नहीं। वे निरंतर संघर्षों, बाधाओं और दीवारों को तोड़कर आगे जाने का विश्वास लेकर जिये। 'प्रत्येक मनु के पुत्र का विश्वासी कवि मुक्तिबोध जिजीविषा और आस्था का सम्बल लेकर जिया। अदम्य जिजीविषा के कारण उनका व्यक्तित्व निरंतर परिशोधित; संस्कारित और दृढ़ होता गया। फलतः विषम परिस्थितियों में भी मुक्तिबोध टूटे नहीं; झुके नहीं—समझौतावादी नहीं बन सके :

पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं
जो हार गया यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं;
उसने ईश्वर संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया[2] ।।

यह वह जिजीविषा है जो आस्था से मिलकर कवि-व्यक्तित्व की अपराजेय स्थिति को निरूपित करती है। न मालूम कैसे डॉ० रामविलास शर्मा ने 'उसने ईश्वर संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया' पंक्ति के आधार पर मुक्तिबोध को 'संशय पीड़ित ईश्वरवादी' मान लिया है। वास्तविकता यह है कि जिस ईश्वर का कवि ने संहार किया है; वह धर्मातत्त्वों के रूप में निरंतर पूजित ईश्वर है—रूढ़ और अंधभक्ति का आलंबन है जबकि निज ईश्वर कवि की अन्तश्चेतना का आस्थावादी संदर्भ है। निज ईश्वर' आस्थावादी चेतना है न कि कोई और। यह आस्था ही उपरि उद्धृत पंक्तियों में व्यंजित हुई है। इसी जन के प्रति आस्था भाव को आगे चलकर हम मुक्तिबोध की मानवतावादी चिन्तना में परिणत देखते हैं। मुक्तिबोध की कविता की प्रेरक शक्ति भी सामान्य मानव है; उसके दुख-दर्द हैं और

1. तारसप्तक : अन्तदर्शन पृष्ठ 67
2. तारसप्तक : मेरे अन्तर पृष्ठ 55

उनका समर्पण भी उसी के प्रति है। उनकी तो कामना ही यह है कि निर्बल मनुष्य का मुख आशान्वित और उल्लसित हो : "ज्योतित हो मुख नव आशा से, जीवन की गति जीवन का स्वर।" 'मैं उनका ही होता' कविता का केन्द्रीय भाव इसी आस्थावाद से संसिक्त है। यह संसिक्ति; यह आस्था और यह सामान्य जन के प्रति किया गया समर्पण ही उन्हें प्रगतिशील कवि प्रमाणित करता है।

नयी कविता ने जिस लघु मानव की प्रतिष्ठा की उसके लिए हर क्षण का महत्व है। मानव की लघुता के प्रति आस्थावान मुक्तिबोध ने भी क्षण के महत्व को स्वीकार किया है, वही क्षण की महत्ता को कैसे अस्वीकार करता ? मुक्तिबोध की तारसप्तक' में संकलित 'मृत्यु और कवि शीर्षक रचना में इसी क्षण-दर्शन की महत्ता संकेतित हुई है। उन्होंने लिखा है :

> क्षण भंगुरता के इस क्षण में जीवन की गति, जीवन का स्वर,
> दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर ?
> इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर।
> सृजनशील जीवन के स्वर में गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर ॥[1]

जीवन-सरिता की धारा अमर है। अतः इसे बनाये रखना अनिवार्य है। मुक्तिबोध एक विचारक कवि के रूप में यहाँ यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि जीवन की सार्थकता अधिक जीने में नहीं, सार्थक जीने में है और सार्थक जीना वही है जिसमें व्यक्ति हर पल को उसकी समग्रता में भोगे-ग्रहण करे। देश-काल बोध हमें असीमता प्रदान करता है; उससे व्यक्ति अर्थहीन और नगण्य प्रमाणित हो जाता है। ऐसी स्थिति में अपनी नगण्यता के बावजूद यदि मनुष्य क्षण-क्षण को भोगने की आस्था बटोर ले तो वह सार्थक जी सकता है। 'नूतन अहं' कविता में मनुष्य की इसी नगण्यता को अभिव्यक्त किया गया है। 'अहं' को कवि ने 'नूतन' बताया ही इसलिए है कि वह तुच्छ है, अपूर्ण है। इसी अधूरेपन के कारण मनुष्य की स्थिति आज यह हो गई है कि वह न तो पूरे मन से घृणा कर पाता है; न प्यार; न किसी पर क्रोध कर सकता है और न किसी के प्रति सच्चे मन से ग्लानि कर सकता है। व्यक्तित्व का यह अधूरापन ही मनुष्य के अन्तर्मन को क्षुद्र और कलुषित बताता है। मुक्तिबोध ने लिखा है :

> किन्तु आज लघु स्वार्थों में घुल, क्रन्दन-विह्वल,
> अन्तर्मन यह टार रोड़ के अन्दर नीचे बहने वाली गटरों से भी
> है अस्वच्छ अधिक,
> यह तेरी लघु विजय और लघु हार।[2]

1. तारसप्तक : मृत्यु और कवि पृष्ठ 56
2. तारसप्तक : नूतन अहं पृष्ठ 58

'तारसप्तक' में संकलित मुक्तिबोध की 'नूतन ग्रहं', 'बिहार', 'पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति', 'नाश-देवता', 'ग्रात्मसंवाद', 'दूर तारा', 'खोल ग्राँखें', 'ग्रात्मा के मित्र मेरे' ग्रौर 'ग्रात्मवक्तव्य' जैसी कविताएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि वह समाज-सपृक्ति नगण्यता के प्रति ग्रास्था, पूँजीवाद के प्रति घृणा ग्रौर विद्रोह, ग्रास्था-जिजीविषा, मानवास्था पुष्ट संवेदना, शोषण से मुक्ति की ललक ग्रौर ग्रान्तरिक व्यक्तित्व की खोज का कवि है। भले ही उसकी कुछ कविताग्रों का शिल्प छायावादी रोमानियत भरा हो; किन्तु उसका ग्रसली कथ्य इन्हीं कविताग्रों की ग्रात्मा में स्पंदित है। 'दूर तारा' कविता प्रयोगवादी शैली में लिखित मानव की सद्वृत्तियों ग्रौर शक्तिमत्ता की ग्रभिव्यंजिका है। 'खोल ग्राँखें' में मुक्तिबोध ने ग्रपने ग्रनुभवों को ग्राधार बनाकर ज्ञान-साधना की ललक प्रगट की है। 'ग्रशक्त' कविता में मानव की ग्रसहायता ग्रौर निराशा संकेतित है तो 'मृत्यु ग्रौर कवि' में जीवन, उसकी क्षणिकता ग्रौर तत्प्रेरित नैराश्य-दर्शना ग्रभिव्यंजित हुई है। 'बिहार' शीर्षक कविता में रवि-शशि के प्रतीकों का सहारा लेते हुए मुक्तिबोध ने पूँजीवादी व वैभवयुक्त सभ्यता के साथ निरंतर सघर्षरत लकडी के खोखे के समान खाली वक्ष धारण करने वाले शोषित-मर्दित जन-समाज का बिम्ब प्रस्तुत किया है। प्रस्तुतीकरण की इस प्रक्रिया में कवि कहीं उपदेशक, कहीं चिन्तक ग्रौर कहीं यथार्थ का चित्रकार बन कर ग्राया है। इन कविताग्रों में कवि का चिन्तक भी उसके साथ रहा है। 'ग्रात्मसंवाद' कविता में मुक्तिबोध की नाट्य शैली के दर्शन होते हैं। इस शैली के सहयोग से कवि ने ग्रपने मनोगत मनोभावों को पूर्तित किया है। यह ग्रात्मविश्लेषण की भूमिका पर लिखी गई वह कविता है जिसे 'फैन्टेसी' की पूर्वपीठिका मान सकते हैं। यही शैली 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताग्रों में 'फैन्टेसी' बनकर ग्राई है। इसमें मुक्तिबोध का कवि ग्रपने भीतर के सहचर से बातचीत करता दिखाई देता है। यह बातचीत उनके व्यक्तित्व शोधन ग्रौर ग्रात्मसंघर्षी स्वरूप को व्यक्त करती है। 'व्यक्तित्व ग्रौर खण्डहर' कविता की जमीन भी यही है। कविता के प्रारम्भ में ही कवि की टिप्पणी है : "व्यक्तित्व किन्हीं भी कारणों से विकेन्द्रित हो, परन्तु उसके लिए पुकार ग्रवचेतन से, जो कि जीवन-शक्ति का रूप है, निकट सम्बन्ध रखती है। समग्रता की ग्रोर, मनस्संगठन की ग्रोर का यह प्रयत्न केवल बुद्धिगत ही नहीं, शुद्ध जीवनगत है, परन्तु यह विकेन्द्रीकरण ग्रन्तर्बाह्य-विरोध, परिस्थिति-विरोध, ग्रात्म-विरोधों के द्वारा शुरू होता है। यह विकेन्द्रित व्यक्तित्व यानी व्यक्तित्व का खण्डहर किसी ग्रबूझे समय में ग्रपने गत वैभव पर रो उठता है।" इसी विकेन्द्रित व्यक्तित्व का ग्रंकन-प्रत्यंकन इस कविता में हुग्रा है। कवि के ये शब्द देखिए :

दब चुकी जो मर चुकी है ग्रात्मा
खत्म जो हो ही गयी ग्राकांक्षा

व्यक्ति में व्यक्तित्व के खण्डहर
गान कर उठते उसी के गीत[1]

'तारसप्तक' के दूसरे संस्करण में उनकी एक कविता और जगह पाये हुए है—शीर्षक है आत्मवक्तव्य इस कविता की मूल चेतना सन् 50 और 60 के मध्य हुए परिवेशगत परिवर्तनों, संघर्षों और उनके आधार पर कवि की परिवर्तित या कहें कि विकसित भाव-संवेदना का सशक्त अभिव्यंजन है। इसमें शोषित-पीड़ित और उपेक्षित जन-समुदाय के प्रति मुक्तिबोध की सहचर भावना उन्मेषित हुई है। यहाँ कवि उन सब का सहचर बनकर आया है जो न केवल उपेक्षित हैं, अपितु अपमान के कशाघात सहते-सहते नामहीन भी हो गये हैं। कविता की भाषा बेलौस है। यहाँ कथ्य के साथ ही शिल्प भी कवि की प्रतिबद्धता को स्पष्ट करता है। कवि ने परिवेश की विषमता और जिन्दगी के संघर्ष से उत्पन्न पीड़क व दारुण स्थिति का अभिव्यंजन कुछ इस तरह किया है कि उसके अन्तःकरण के आयतन में पड़ी खरोंचे तक साफ दिखाई दे जाती हैं : "अभी तक/सिर में जो तड़फड़ाता रहा ब्रह्माण्ड/लड़खड़ाती दुनियाँ का पूरा मानचित्र/लड़खड़ाते मुठभेड़ करते हुए स्वार्थों के बीच/भोले-भोले लोगों के माथे पर घाव/कुचले गये इरादों के बाकी बचे धड़/ .... अँधियाली गलियों में घूमता है/तड़के ही रोज/कोई मौत का पठान/माँगता है जिन्दगी जीने का ब्याज/उजली-उजली सफेदी में/कोखों की शर्म/(अधवने समाधानों) भ्रूणों का अँधेरे में क्रमागत जन्म/सृजन-मात्र उद्गार-धर्म/सत्ताग्रही, अर्थाकांक्षी/शक्ति के कृत्य/और मेरे प्राणों में/सत्यों के भयानक/केवल व्यग्य-नृत्य/व्यंग्य.नृत्य !![2] इतना ही नहीं यह वह कविता है जिसमें कवि शोषण से मुक्ति पाने के लिए विद्रोह और क्रान्ति तक का सहारा लेता है और 'सच्चा है जहाँ असंतोष मेरा वहाँ परिपोष' तक कहकर अपनी अन्तरवर्ती चेतना को साफ जुबान में कह देता है। व्यक्तित्व की खोज भी यहाँ संकेतित है जो आत्मशोधन—अनवरत छील-छाल से ही सम्भव हो सकती है :

लेकिन, हाँ, उसी के लिए दिन-रात
नये-नये रन्दों और वसूलों से
लगातार-लगातार
मेरी काट-छाँट
उनकी छील छाल अनिवार।
ऐसी उन भयानक क्रियाओं में रम

1. तारसप्तक आत्मवक्तव्य : पृष्ठ 77
2. तारसप्तक : वही पृष्ठ 78-79

कटे-पिटे चेहरों के दागदार हम
बनाते हैं अपना कोई अलग दिक्-काल
पृथक् आत्म-देश—
दृष्टि, आवेश ![1]

आखिर में 'तारसप्तक' में संकलित मुक्तिबोध की कविताओं के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि उनकी अधिकांश कविताओं का शिल्प यदि छायावादी सौन्दर्योपादानों से अनुरंजित है तो कथ्य कवि की प्रगत्युन्मुखी चेतना के बिम्बों में शृंखलित है। यहाँ तक मुक्तिबोध की काव्य-संवेदना व्यक्तिवादी कविता की एकांगिता व प्रगतिशील काव्य की समष्टिमूलक दृष्टि को कहीं साफ और कहीं अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करती है। आत्मान्वेषण की वह जमीन भी यहाँ किंचित् झलकती दिखाई देती है जो आगे चलकर 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताओं में प्रमुख सदर्भ बनकर आई है।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' :

आलोच्य संकलन मुक्तिबोध की 28 कविताओं को समेटे हुए है। इसके सम्पादक श्रीकान्त वर्मा ने इन कविताओं का रचना-वर्ष 1954 से 64 तक स्वीकारा है, किन्तु श्री मोतीराम वर्मा ने इस अवधि को 1950 से 63 तक माना है जो कवि की पाण्डुलिपि के आधार पर है। अतः अधिक विश्वास्य प्रतीत होती है। ये वर्ष न केवल सामाजिक मान-मूल्यों के परिवर्तन को संकेतित करने वाले वर्ष हैं, अपितु यह इशारा भी करते हैं कि यहाँ तक आकर मुक्तिबोध की जीवन-दृष्टि साफ हो गई थी, जीवन-सत्य निर्णीत हो चुका था अवचेतन संस्कारित होकर सही रूपाकार पा गया था और वे आत्मसंघर्ष की अनिवार्यता को जीवन से प्रतिबद्ध कर चुके थे। यही वजह है कि इस संकलन की कविताएँ मुक्तिबोध को प्रतिबद्ध जीवन-दृष्टि का सर्जक प्रमाणित करती हैं। इन कविताओं के प्रमुख स्वर तीन हैं :

(1) आत्म-चेतना का अन्वेषण और उसी से व्यक्तित्व का परिष्कार-संस्कार करने की ललक।

(2) संस्कारित और शोधित व्यक्तित्व के सहारे वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की काव्यात्मक परिणति।

(3) व्यक्तित्व संशोधन के लक्ष्य से प्रेरित होकर आत्मसंघर्ष और आत्म-साक्षात्कार की स्थितियों का काव्यांकन और निरूपण।

1. तारसप्तक : एक आत्मवक्तव्य पृष्ठ 82

संग्रह की कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें आत्मसंघर्ष और आत्मान्वेषण साथ-साथ चलता है। कवि आत्मसंघर्षत होकर भौतिक-संसार के संघर्षों के लिए शक्ति और अदम्य साहस बटोरता हुआ गहन आस्था और जिजीविषा से जुड़ जाता है। ऐसी कविताएँ जो इन संदर्भों को समन्वित करके लिखी गई हैं उनमें 'एक अन्तर्कथा', 'भूल गलती', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर', 'मुझे याद आते हैं', 'चकमक की चिनगारियाँ', 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे', 'एक स्वप्न कथा', 'अँधेरे में, 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर', 'चम्बल की घाटी में' और 'अन्तःकरण का आयतन' को लिया जा सकता है। इनमें एक प्रौढ़ सर्जक की जीवन-दृष्टि पूरी संवेदनात्मक शैली में अभिव्यक्त हुई है। भाषा-शैली के धरातल पर ही नहीं, कथ्य के धरातल पर भी ये सशक्त, सार्थक और अपरिहार्य कविताएँ हैं।

संग्रह की अधिकांश कविताएँ लम्बी और कथातत्व से परिपूर्ण हैं। ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध की हरेक कविता एक विशेष 'थीम' को लेकर चली है—काव्य-वृत्त'—'पोयटिक थीम' को लेकर चली है। ये काव्य-वृत्त वर्तमान जीवन के भयावह, घिनौने कारुणिक और संवेदनापूर्ण चित्रों के 'एलबम' प्रतीत होते हैं। कवि ने लम्बी कविताओं में बड़े नाटकीय ढंग से बाहरी और भीतरी दुनियाँ के चित्र पूरी ईमानदारी से उतारे हैं। ये वे कविताएँ हैं जो अपनी कहानी अपनी ही जुबान में कहती हैं। एक ही लम्बी कविता में चित्र भले ही अलग-अलग ढंग के हों, पर परस्पर एक क्रम बतलाते हुए एक ही 'थीम' को पूरा करते जान पड़ते हैं। कई बार ऐसा भी हुआ है कि एक कविता का एक थीम दूसरी कविता में जाकर पूरा हुआ है मुक्तिबोध की विशेषता यह है कि वे सामने दीखने वाली बाहरी रूपाकृति के समान ही भीतरी दुनियाँ का परिचय भी देते हैं। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि ने जो तरीका अपनाया है वह उसके जीवन-बोध और आधुनिक दबाव को ही व्यंजित करता है। यही कारण है कि हमारे भीतर की दुनियाँ पूरी विचित्रताओं के साथ खड़ी दिखाई देती है। आदमी जो दीखता है उसके भीतर एक और आदमी है और वह ठीक वही नहीं है जो सामने है। अतः मुक्तिबोध ने इस भीतर के व्यक्ति को उसकी तमाम शंकाओं और विचित्रताओं के साथ प्रस्तुत किया है। यह व्यक्ति हमारे समीप है या हमसे जुड़ा है। तभी तो हम इसे देखकर चौंकते हैं। कारण जो भीतर है वह बाहर से कहीं अधिक डरावना और घिनौना है। मुक्तिबोध की यह खासियत है या कहें कि विवशता है कि वे उसे जानते हैं और पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करते हैं :

भीतर जो शून्य है,
उसका एक जबड़ा है।
जबड़े में माँस काट खाने के दाँत हैं

उनको खा जायेंगे
तुमको खा जायेंगे ।[1]

यों इस संकलन की कविताओं में वर्तमान परिवेश में व्याप्त अभाव, तनाव, घुटन, षड्यंत्र, स्वार्थ, उच्छृंखल वृत्तियाँ, हिंसात्मक स्थितियाँ, अचानक सिर पड़ी परेशानियाँ और कितनी ही मृत्युमुखी स्थितियों का अंकन है। इनमें जीवन का वैविध्य भी है और विरोध जनित स्वर भी। इनमें यंत्रणा, त्रास, भूख, पीड़ा और अनगिनत सामाजिक उलझनें भी हैं तो अँधेरी व अभिशापित-तापित जिन्दगी और त्रासद स्थितियों से उबर कर प्रकाशोन्मुख आस्था भी है। जहाँ विरोध है वहाँ कोई लाग-लपेट नहीं है। कविता-सृजन के दौरान कवि वातावरण के प्रति प्रायः सजग रहा है और विचित्रता यह है कि यह वातावरण डरावना और घिनौना अधिक है। इसे पढ़कर मन को शान्ति कम पैरों को काटती-तपाती आग ज्यादा महसूस होती है। लगता है जिन्दगी की जड़ों में काई लग गई है, उसे हटाकर ही आदमी अपनी असलियत के प्रति सचेत हो सकता है। मुक्तिबोध की कविताओं में आये त्रासद और दहशत भरे परिवेश को देखकर ऊपर से तो यह लगता है कि कवि जटिल है, आतंकित कर रहा है, भटका रहा है तिलिस्मी वातावरण में, पर भीतर से देखें तो ये संदर्भ और तत्सम्बन्धित प्रतीक अपना अर्थ खोलने लगते हैं। वस्तुतः कवि उन विभीषिकाओं से मानवात्मा को मुक्त करना चाहता है जो उसे या तो छल रही हैं या भीतर ही भीतर काट रही हैं। इसके लिये वह पहले तो आदमी को सजग करता है, परिचित कराता है उस परिवेश से जिसमें वह घिर गया है और फिर कहता है—"समस्या एक—मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/सभी मानव/सुखी, सुन्दर शोषण-मुक्त/कब होंगे" ?[2] प्रगतिशील चेतना का वाहक कवि मानवात्मा की मुक्ति की गुहार लगाता हुआ अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा इस तरह और इस जुबान में करता है :

अंधा हूँ
खुदा के बंदों का बंदा हूँ बावला,
मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे हैं, दाग हैं,
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग है,
अग्नि विवेक की।
नहीं-नहीं वह तो ज्वलंत सरसिज !
जिन्दगी के दलदल कीचड़ में धँसकर

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 166
2. वही पृष्ठ 164

वक्ष तक पानी में फँसकर

मैं वह कमल तोड़ लाया हूँ।[1]

संग्रह की जिन कविताओं में आत्मचेतस की खोज और व्यक्तित्व के परिष्कार का प्रयत्न दीख पड़ता है, उनमें ही कवि सामाजिक संदर्भों की भूमिका पर भी खड़ा दिखलाई देता है। वह भौतिक परिवेश से संघर्ष भी करता है और उसी से अपने लिए जीवनी-शक्ति भी प्राप्त करता है। 'भूल गलती' कविता को ही लीजिए, उसमें कवि अवसरवादी और गलत व्यवस्था पर तीखा प्रहार करता हुआ– उससे संघर्ष करता हुआ आस्थावान व्यक्तित्व लेकर आता है। इस कविता में भूल-गलती शहंशाह की तरह दिल के आसन पर बैठी है और उसके समक्ष ईमान कैद करके लाया गया है। दरबार में एक भी ऐसा नहीं जो ईमान का पक्ष ले सके। सभी अवसरवादी, स्वार्थी और सुविधाभोगी हैं - 'भूल-गलती' के जरखरीद गुलाम हैं। यहाँ इस कथ्य की व्यंजना में आत्मचेतस की खोज भी है, व्यक्ति का परिशोधन भी है और सामाजिक विसंगतियों पर तीखा प्रहार-वार भी। 'एक अन्तर्कथा' में 'माँ' के प्रतीक के सहारे आज के सुविधाभोगी समाज की स्थिति अभिव्यंजित है। यह समाज जीवन की ऊपरी सफलताओं को पाने के चक्कर में अब तक के संचित ज्ञान को हेय समझ कर कचरे के ढेर में फेंक रहा है जिसे 'माँ' अर्थात् परम्परा के जीवित अंश की पहचान करने वाली शक्ति बीनती फिर रही है। कारण; वह इस तथ्य से अवगत है कि तिरस्कृत परम्परा की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ आज के जीवन को सार्थक बिन्दु से परिचितकरा सकती हैं। 'अवरुद्ध व्यक्तित्व की जड़ीभूत सतह के पीछे जो भय और चिन्ता की लहरें चलती रहती हैं, शून्य छटपटाते उद्देश्यों से तथा थमे हुए आवेगों से जो आंतरिक व्यवस्था बनी रहती है, उसका चित्रण 'चम्बल की घाटी' कविता में 'कटे हुए पठारों में होनेवाली हलचल के माध्यम से किया गया है। इस तरह टीले के भीतर और बाहर होने वाली घटनाएँ एक निजबद्ध व्यक्ति से मनस्तत्व की परतों को उघाड़ती चलती है।"[2] इसी प्रकार 'मुझेयाद आते हैं' कविता में मुक्तिबोध ने नगरीय और ग्रामीण जीवन को साथ-साथ प्रस्तुत करके ग्राम्य-जीवन की सहजता के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है। नगर उन्हे कृत्रिमताओं में कैद होने के कारण अवास्तविक लगता है।

अब 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' संग्रह की उन कविताओं में से भी कुछ की बानगी लीजिए जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तना की काव्यात्मक परिणति हैं। इस तरह

---

1. वही पृष्ठ 129

2. ओमप्रकाश ग्रेवाल : आलोचना त्रैमासिक अप्रैल-जून 1971 पृ. 35

की कविताओं की सूची भी काफी लम्बी है। 'लकड़ी का बना रावण', 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन', 'एक अरूप शून्य के प्रति', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'डूबता चाँद कब डूबेगा', 'मेरे लोग', 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' और 'शून्य व रंगों में सुलगी हुई एक शनाख्त' आदि अनेक कविताएँ उसी स्वर की गवाही देती हैं जो यथार्थ संयुक्त—भौतिकवादी दर्शन की काव्यपरक व्याख्या है। 'लकड़ी का बना रावण' में पूँजीवादी व्यवस्था के नष्ट होने की नियति संकेतित है। यहाँ कवि ने वर्ग-संघर्ष के व्यापक रूप को प्रस्तुत किया है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता भी इसी चिन्तना को स्वस्थ-संतुलित शैली में व्यक्त करती है। इसमें मार्क्सवाद के वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन के सभी संदर्भ सृजनात्मक धरातल पर अभिव्यंजित हुए हैं। वर्ग-संघर्ष का अहसास, श्रमिकों व पीड़ितों के सूखे ओठों के लिए सहानुभूति का जल; पूँजीवादी व्यवस्था की भर्त्सना, वर्ग रहित समाज की आकर्षक कल्पना, वर्ग-वैषम्य के कारणों का लेखा-जोखा, वैज्ञानिक दृष्टि और प्रतिबद्धता आदि सभी तत्व इस कविता में काव्यात्मक स्तर पर समाविष्ट हुए हैं। असल में विभिन्न प्रतीकों और बिम्बों का सहारा लेते हुए इस कविता में मुक्तिबोध ने उस सांस्कृतिक वर्ग की पोल खोली है जो आभिजात्य रूप का दंभ भरता है किन्तु है पूरी तरह विकृत और गलित। करीब करीब यही कथ्य 'डूबता चाँद कब डूबेगा' कविता का है। एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' शीषक से लिखित कविता में भी सरल-सीधी शैली में मार्क्सीय चेतना मुखरित हुई है। इसमें जिस पुराने मकान के पलस्तर झड़ते जाने या ढहने की जो बात कही गई है वह मकान हमारी सारी सांस्कृतिक उपलब्धियों, परम्परागत आदर्शों व आस्थाओं का मकान है जो आधुनिक दुनियाँ में अप्रासंगिक हो गया है। इस मकान का मलवा आज चारों ओर बिखरा है; किन्तु कवि का कथ्य यह है कि हमें इसके नीचे दबना नहीं है; इससे मुक्ति पानी है। इसी मुक्ति से हम नयी संस्कृति का निर्माण कर सकेंगे—

> पीड़ा भरा उत्तरदायित्व भार हो चला,
> कोशिश करो
> कोशिश करो
> जीने की
> जमीन में गढ़कर भी।
> आत्म विस्तार यह
> बेकार नहीं जायेगा।
> जमीन में गड़े हुए देहों की खाक से
> शरीर की मिट्टी से, धूल से
> खिलेंगे गुलाबी फूल।[1]

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है. एक भूतपूर्व विद्रोही का का आत्मकथन पृ.76

मुक्तिबोध की संसिक्ति जन-जन से थी तभी तो वे उन सबकी ओर से संघर्ष करने को तत्पर रहते थे। वे पल-पल में हरेक के भीतर से गुजरना चाहते थे और प्रत्येक 'उर में से तिर आना चाहते थे'। उनकी यह संसिक्ति तो देखिए जो जन-जन की वाणी में महाकाव्य की पीड़ा लिए हुए है—

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है
हर एक छाती में आत्मा अधीरा है,
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है
पल-पल मैं सब में से गुजरना चाहता हूँ
प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ।[1]

जन-साधारण के प्रति इतनी गहरी संसिक्ति ही उन्हें उच्चवर्गीय लोगों से दूर कर देती है। इसी भूमिका पर 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' कविता का सृजन-सिंचन हुआ है। उन्होंने दो टूक फैसला देते हुए लिखा है—

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि तुम्हारे लिए जो विष है, मेरे लिए अन्न है।[2]

इतना ही क्यों 'रंगों में सुलगी हुई एक सुनहली शनाख्त' कविता भी मेहनतकशों और उन श्रम करने वालों की पहचान कराती है जिनके चेहरों पर वीरान खण्डहरों की धूप पड़ती है

आलोच्य संग्रह की कविताओं का तीसरा स्वर वह है जहाँ कवि आत्मान्वेषक की स्थिति में जिया है; जहाँ आत्म संघर्ष जनित आत्म साक्षात्कार का बोध प्रबल है। यह आत्मान्वेषण—आत्मसाक्षात्कार व्यक्तित्व परिष्कार के लिए है न कि किसी रहस्यलोक के निर्माण के लिए। इस संदर्भ को व्यक्त करने वाली कविताओं में 'ब्रह्मराक्षस', 'दिमागी गुहांधकार का ओरांग उटांग', 'मुझे कदम-कदम पर', 'मुझे नहीं मालूम', 'मेरे सहचर मित्र', 'चकमक की चिनगारियाँ' और 'अंधेरे में' प्रमुख हैं। आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया ने मुक्तिबोध से अनेक कटु किन्तु यथार्थ बातें कहलाई हैं। आत्मान्वेषक ही आत्मा का सहचर है। कवि का आत्मान्वेषक निरन्तर सजग

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है: पृ. 73
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है: पृ. 108

रहा है। वह रात के घने अँधेरे में भी टोह-टोह कर रास्ता पाता रहा है। भले ही कवि चुप रहा हो, किन्तु उसका आत्मसाक्षात्कारी स्वभाव उसके अन्वेषक को जगाए रहा है। 'दिमागी गुहांधकार का औरांग उटांग' कविता में कवि अपने अवचेतन की अंधी पर्तों में छिपे उस पशु से परिचय कराता है जो न केवल नंगा है; अपितु विद्रूप असत्य की ताकत का प्रतिरूप भी है। मानव व्यक्तित्व के अंतरतम में छिपा यह 'औरांग उटांग आदमी से जाने-अनजाने अकरणीय कराता रहता है। कवि उससे परिचित है; उसका साक्षात्कार कर चुका है। अतः नहीं चाहता कि वह बाहर आये: "अरे ! डर यह है— न औरांग उटांग कहीं छूट जाय। कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो।"[1] आत्मान्वेषण व आत्मसाक्षात्कार से मुक्तिबोध यह भी जानकारी हासिल कर लेते हैं कि यह 'औरांग उटांग' बड़े-बड़े संस्कृतज्ञों और तार्किकों के अवचेतन में भी आसन जमाये बैठा है। मुक्तिबोध की व्यंजना यह है कि जब तक मानव-मन में स्वार्थ और पशुता का यह 'औरांग उटांग' छिपा रहेगा जब तक वह शापित और तापित जिन्दगी बिताता रहेगा। अत. वे लिख गए हैं:

> और मेरी आँखें उन बहस करने वाले लोगों के
> कपड़ों में छिपी हुई
> सघन रहस्यमय लम्बी पूँछ देखती हैं!!
> और मैं सोचता हूँ.
> कैसे सत्य हैं.
> ढाँक रखना चाहते हैं बड़े-बड़े
> नाखून
> किसके लिये हैं ये बाघनख
> कौन अभागा वह !![2]

मानव अवचेतन में छिपे वनमानुषी संस्कारों से ग्रस्त होकर दुख उठाता है। यहाँ कवि ने आत्मान्वेषक के रूप में इन्हीं संस्कारों से मुक्ति की बात कही है 'फैंटेसी' शिल्प में बँधी यह कविता न केवल प्रभावी बन गई है; अपितु यथार्थ व की आड़ी-तिरछी स्थितियों का 'ग्राफ' भी बन गई है।

'ब्रह्मराक्षस' मुक्तिबोध की महत्वपूर्ण कविता है। इसमें मुक्तिबोध ने व्यंजित किया है कि अतीत का संचित अनुभव और ज्ञान तभी सार्थक होता है जब वह निरन्तर विकसित-प्रवर्धित और भावी के निर्माण का सूत्रधार बने। यदि ऐसा

---

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है: पृ. 18
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है: पृ. 21

होगा तो अतीत का ज्ञानात्मक संवेदन और अनुभव व्यर्थ प्रमाणित हो जायेगा। इस स्थिति में भटकन है—मुक्ति नहीं है। मुक्ति की काम्यता असंदिग्ध है और तभी संभव है जबकि प्राप्त ज्ञान और उपलब्ध निष्कर्षों को भावी पीढ़ी में स्थानान्तरित कर दिया जाए। इस बिन्दु से आलोच्य कविता अतीत और भविष्य के मध्य का सेतु या माध्यम प्रतीत होती है। 'ब्रह्मराक्षस' एक प्रतीक है– बौद्धिक चेतना का अथवा मध्यवर्गीय व्यक्ति की बौद्धिक चेतना का। इसी चेतना के कारण व्यक्ति मुक्ति के लिए छटपटाता रहता है। वह मुक्ति को हासिल करने के लिए जीवन भर ज्ञानार्जन करता है, किन्तु यह प्रक्रिया इतनी जटिल है कि व्यक्ति की प्रातिभिक चेतना मुक्ति के प्रयास में निरन्तर उलझती जाती है। संकेतित अर्थ हुआ कि वह प्राप्त ज्ञान को व्यावहारिक नहीं बना पाता है। व्यावहारिक न बन पाने के कारण व्यक्ति निर्णायक बिन्दुओं की सीमा तक नहीं पहुँच पाता है– भटकता रहता है; 'फ्रस्टेशन' का शिकार बना रहता है। नतीजा यह कि उद्विग्नता और अन्तर्विरोधी स्थितियाँ बढ़ती जाती हैं। मुक्ति का प्रयत्न तो व्यक्ति करता है; किन्तु, ज्ञानोपार्जन को ही उसका माध्यम मानने के कारण वह इन संघर्षों में उलझ जाता है। फलतः निःसंग होता चला जाता है। ज्ञान-चेतना से संघर्ष करने के प्रयत्न में सत्य की कटुता—शोषण का यथार्थ उसे बेचैन बनाये रखते हैं। वर्गबद्धता की प्रवृत्ति उसे निष्क्रिय बना देती है। वर्ग निबद्ध संस्कारों के कारण ही व्यक्ति शोषक और शोषित के बीच अपनी पक्षधरता को स्पष्ट नहीं कर पाता है।

व्यक्ति वर्गबद्धता के संस्कारों के कारण विकसित 'पाप-छाया' के निवारण के लिए अर्थात् -आत्मशुद्धि के लिए वह निरन्तर बावड़ी में स्नान करता हुआ अपनी देह को घिसता रहता है। शुद्धि व स्वच्छता के लिए किए गए सारे प्रयत्न स्नान उसके मैल को कम नहीं कर पाते हैं, उल्टा बढ़ाते रहते हैं। निष्कर्षित हुआ कि मैल कम करने के प्रयास में—छद्मसंघर्ष करते रहने के कारण ही उसकी संवेदना स्याह और भोंथरी हो जाती है। प्रत्येक विचारक के मत-मतांतरों, ऐतिहासिक संदर्भों से व्याख्या के नए सूत्र ग्रहण करता हुआ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी उनकी अपने मनोनुकूल व्याख्या करता रहता है और उन्हीं में उलझता-पुलझता रहता है। एक सिरे पर तो उसकी यह उलझन है और दूसरे सिरे पर उसका अपरिपक्व, अपूर्ण ज्ञान उसे दंभी बना देता है। परिणामतः उसकी स्थिति यह हो जाती है :

किन्तु गहरी बावड़ी की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि रश्मि के
उड़ते हुए परमाणु जब तल-तक पहुँचते है कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है सूर्य ने
झुक कर नमस्ते कर दिया।

पथ भूलकर जब चाँदनी की किरन टकराये
कहीं दीवार पर
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
वन्दना की चाँदनी ने

× + ×

करता रहा अनुभव कि नभ ने भी
विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी !![1]

यह आत्मसंघर्ष व्यक्तित्व के संघर्ष से जुड़कर भौतिक और आन्तरिक सघर्ष बन जाता है। मानसिक संघर्ष की प्रक्रिया कविता में यों आकार पाती हैं:—

खूब ऊँचा एक जीना साँवला
उसकी अँधेरी सीढ़ियाँ
वे एक आभ्यंतर निराले लोक की।
एक चढ़ना औ उतरना
पुनः चढ़ना औ लुढकना
मोच पैरों में
व छाती पर अनेकों घाव

❀ × ❀

गहन किंचित् सफलता
अतिभव्य असफलता !!
अतिरेकवादी पूर्णता की ये व्यथाएँ बहुत प्यारी हैं।[2]

यह आत्मसंघर्ष भी इसीलिए है कि पूर्णता मिले-मुक्ति मिले, किन्तु मिलती है किंचित् सफलता और भव्य असफलता क्योंकि 'ब्रह्मराक्षस' उपलब्ध ज्ञान का सही उपयोग नहीं कर पाता है—उसे व्यावहारिक नहीं बना पाता है या कहें कि संप्रेषित नहीं कर पाता है क्योंकि अधूरे ज्ञान कौर तत्प्रसूत दम्भ के कारण वह विवशता में पड़ा रहता है— बाहरी संघर्षों की टकराहट के कारण वह पिसता रहता है—आंतरिकता के महत्व को नहीं समझ पाता है। 'ब्रह्मराक्षस' क्योंकि बौद्धिक चेतना है अतः यहाँ यह भी संकेतित हुआ कि 'ब्रह्मराक्षस' की ट्रेजेड़ी आज के बुद्धिजीवी की 'ट्रेजेड़ी' है। बुद्धिजीवी की ट्रेजेड़ी यह है कि वह ज्ञानोपार्जन करके भी इतिहास में

1. चांद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 10-11
2. चांद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 12

मनोवांछित परिवर्तन नहीं कर पाता है। वह परिवर्तन के लिए प्रयत्न तो करता है किन्तु सफल नहीं हो पाता है। कारण, वह ज्ञान—'आइडिया' को क्रिया—'एक्शन' में नहीं ढाल पाता है। बुद्धिजीवी आत्मसंघर्ष और आत्ममंथन के बाद जो सामाजिक परिवर्तन करना चाहता है: उसकी संरचना नहीं कर पाता है। वह इसी न कर पाने की अपराधवृत्ति से ग्रस्त रहता है। उसका अन्तर्मन जो सोचता-रहता है; बाहर वह क्रियात्मक रूप नहीं ले पाता है। इसी बिन्दु पर अन्तर्बाह्य का संघर्ष—टकराहट चलती रहती है। इसी में वह पिसता रहा है :

> पिस गया वह भीतरी
> औ बाहरी दो कठिन पाटों बीच
> ऐसी ट्रेजेडी है नीच !![1]

यह पिसना अकारण नहीं है। यह तो भाव, तर्क और कार्य का समीकरण न होने के कारण है। कभी वह यदि भाव-संगत हुआ तो तर्क-संगत नहीं हुआ और तर्क-संगत हुआ अर्थात् ज्ञानोन्मेष कर सका तो वह कार्य-संगत नहीं हो पाया—व्यावहारिक नहीं हो सका। वह ब्रह्मराक्षस सजल उर शिष्य नहीं बन पाया या कहें कि ज्ञान को व्यावहारिकता प्रदान न कर सका। यदि यह हो जाता तो उसकी मुक्ति हो जाती। उसकी यही कामना रही :

> मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर-शिष्य
> होना चाहता
> जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य
> उसकी वेदना का स्रोत
> संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
> पहुँचा सकूँ[2]

वस्तुतः मुक्तिबोध की ट्रेजेडी भी यही रही कि वे अभिशप्त, प्रताड़ित और निर्वासित होकर जीते रहे। अपने अनुभूत को संगत व पूर्ण निष्कर्षों तक नहीं ले जा सकें। श्रीकांत वर्मा ने ठीक टिप्पणी की है कि मुक्तिबोध स्वयं ही 'ब्रह्मराक्षस' थे और स्वयं ही ब्रह्मराक्षस के शिष्य भी थे। एक ज्ञान पिपासु की तरह मुक्तिबोध भी ज्ञान का अर्जन कर उसे समग्रता में दूसरे तक समर्पित करने के लिए लालायित रहे। समग्र कविता का संकेत यही है कि कवि अतीत की बौद्धिक चेतना को वर्तमान को

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है: पृष्ठ 15
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : 15

सौंपना चाहता है क्योंकि इसी समर्पण में उस उपलब्ध ज्ञान की सार्थकता है। अतीत और भविष्य के बीच की मजबूत कड़ी के रूप में मुक्तिबोध अपनी स्थिति बनाये रखने के आकांक्षी थे। वे जानते थे कि व्यक्तिवादी आग्रह इतिहास की उपलब्धियों की उपेक्षा करके वर्तमान को अतीत से काटकर देखना चाहता है। मुक्तिबोध की धारणा यह थी कि अतीत से पूरी तरह टूटकर कोई भी वर्तमान सार्थक भावी का रूप नहीं ले सकता है। कुबेरनाथ राय ने इस कविता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'ब्रह्मराक्षस अतीत की बौद्धिक चेतना है, ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध का भोक्ता 'स्व' है जो अचेतन के या अवचेतन के 'केओस' में कैद हैं और उसकी मुक्ति से उसी की बलि प्रक्रिया के मध्य उसके सबल उर सर्जक 'स्व' का जन्म होता है। ·· बावड़ी और कुछ नहीं निरन्तर वर्तमान समूह-मन' या इतिहास-मन' ही है।'[1] स्पष्ट हुआ कि यह कविता आत्मान्वेषण की कविता है।

यही आत्मान्वेषण और तत्सम्बन्धित आत्मसाक्षात्कार 'अँधेरे में' व 'मेरे सहचर मित्र' जैसी कविताओं में भी साफ दिखाई देता है। इसी की छवियाँ हमें 'चकमक की चिनगारियाँ' और 'चम्बल की घाटियाँ' में भी अंकित दिखाई देती हैं। इनमें कवि का अन्वेषक सजग है और उनका अन्वेषक रात के घने अँधेरे में, घनी लूटपाट के दृश्यों में, जिन्दगी की बेबसी में और रात के सन्नाटे में सीटी की आवाज सुनकर भी निरन्तर चलता रहा है। कवि भले ही मौन हो, पर उसका अन्वेषक सजग है— भले ही पैरों में कील घुस गई हो, तलवे आग की गर्मी से तप रहे हों, कंधे बोझ से दब गये हों, रीढ़ की हड्डी में दर्द हो, नसनियाँ चटख रही हों, लेकिन मन इसे नकारता हुआ अपने सहचर के साथ जागरूक है। 'अँधेरे में' कविता में जो अभिधार्थ संकेतित है वह हमारे देश की स्थिति का आजादी से पहले और बाद का पूरा नक्शा है। आर्थिक सामरस्य के लिए जो आजादी की लड़ाई लड़ी गई थी, वह इस अँधेरे में आकर मिल गई। जिन आदमियों ने अपनी जान पर खेलकर आजादी दिलाई वे ही स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में पंगु व नपुंसक बनकर अँधेरे की स्याही में डूब गये। मृतक दल की शोभा-यात्रा का जो संदर्भ इस कविता में है, वह हमारी संस्कृति की ही पुनर्परख है। यदि गहराई से विचार करें तो इस कविता का संकेतित संघर्ष दोनों स्तरों पर घटित हुआ है—एक तो व्यक्ति मन में और दूसरे सामाजिक भूमिका पर। इसमें मध्यमवर्ग के उस आदमी के आत्म-संघर्ष को शब्द-बद्ध किया गया है जो एक ओर तो सामाजिक अव्यवस्था और विकृतियों के विरुद्ध जिहाद छेड़ता है और दूसरी ओर अपनी सुविधाओं को भी छोड़ने को तैयार नहीं है। असल में वह एक साथ ही रक्तालोक पुरुष की बनने का आकांक्षी भी है और दूसरी ओर वह डरता भी है—अपनी कमजोरियों से भी जुड़े रहना चाहता है। आदमी की

1. कुबेरनाथ राय : क्षत्रज जनवरी 1969

एक साथ दो जगहों पर हाजिरी देने की यह कोशिश उसे द्वन्द्व की स्थिति में ले आती है यही द्वन्द्व आलोच्य कविता का मूल संदर्भ है। मन की यह द्विधा सहज भी है और अहमियत भरी भी है।

'अँधेरे में' कविता में दो रक्तालोक-स्नात पुरुष हैं। पहला वह जो जिन्दगी के अँधेरे कमरों में चक्कर लगा रहा है और दूसरा वह जो बाहर तालाब की लहरों में अपना चेहरा देखता हुआ अन्दर आने के लिए साँकल बजा रहा है। 'मुक्तिबोध' ने इस रक्तालोक स्नात पुरुष के प्रतीक के माध्यम से सामाजिकता और कविता को अभेद्य रूप में संगठित कर दिया है जो संपूर्ण कविता में आद्यन्त विद्यमान है। इस कविता से मुक्तिबोध की यह धारणा जानी जा सकती है कि मनुष्य की पूर्ण सम्भावनाएँ तभी प्रगट होंगी जब कविता सामाजिकता को ग्रहण कर ले और समाज कविता या कला को अंगीकार कर ले।[1] इस कविता में जिस अँधेरे का वर्णन है वह कई संकेत देता है—पहला संकेत सामाजिकता अव्यवस्था से जुड़ा है। दूसरा संकेत कवि मानस पर छायी किन्हीं अमूर्त छायाओं से जुड़ा है और तीसरा संकेत व्यक्तित्व कीपरतों पर बिछे स्याह कागज का है जिसे जलाए बिना व्यक्तित्व का शोधन नहीं होगा और जब यह नहीं होगा तो आत्मान्वेषण के दौरान उपलब्ध सत्यों का आत्मविस्तार कैसे होगा ? अस्मिता का आत्मविलय कैसे होगा ? कवि निजता से परता और अँधेरे से प्रकाश की ओर कैसे बढ़ेगा ? वह 'मैं' से हम कैसे होगा ? मुझे चंचल चौहान का यह कहना 'अपील' करता है कि यह कविता अस्मिता की खोज की कविता न होकर आत्मविलय और आत्म विस्तार की कविता है। उनके शब्द हैं: "अँधेरे में कविता की संरचना 'ऐन्टीथीसिस' के आधार पर हुई है। ध्यान से देखें तो वह 'अँधेरे' से 'प्रकाश' की ओर, 'व्यक्ति' से 'समूह' की ओर, 'अस्मिता' से 'आत्मविलय' की ओर, 'स्वात्म' से 'निःस्वात्म' की ओर, 'आत्मनिर्वासन' से 'आत्म विस्तार' की ओर 'मैं' से 'हम' की ओर यात्रा करती है। इसका विकास इन्हीं विरुद्धों के कारण हुआ है।"[2]

आलोच्य कविता में आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया 'वह' और 'मैं' के मध्य घटित होती है। 'मैं' 'वह' को पाने से लिए भटक रहा है। 'वह' रक्तालोक स्नात-पुरुष है। मैं' 'वह' से अपनी सुविधाजीवी वृत्ति के कारण मिल नहीं पाता है। उसे (मैं को) अपनी कमजोरियों से भी लगाव है, किन्तु वह रक्तालोक स्नात पुरुष को छोड़ना भी नहीं चाहता है। न छोड़ने का कारण 'वह' से हुए आत्मसाक्षात्कार के परिणामस्वरूप हुए इस परिवर्तन से सम्बन्धित है :

पैरों में महसूस करता हूँ धरती का फैलाव
हाथों से महसूस करता हूँ दुनियाँ

1. सुरेश ऋतुपर्ण : मुक्तिबोध की काव्य-सृष्टि पृष्ठ 87
2. चंचल चौहान : मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक पृष्ठ 104

मस्तक अनुभव करता है आकाश
दिल में तड़फता है अँधेरे का अन्दाज

आत्मा में भीषण
सत् चित् वेदना जल उठी, दहकी ।[1]

आत्मसाक्षात्कार की यह प्रक्रिया कविता में आदि से अन्त तक अलग-अलग संदर्भों में व्यक्त हुई है । सत् चित् वेदना के कवि मुक्तिबोध ने इस कविता में रक्तालोक-स्नात पुरुष के माध्यम से अनेक गहरे संकेत दिये हैं। यह रक्तालोक-स्नात पुरुष' मानवीय संस्कृति के विकास हेतु संघर्षरत संस्कृति-पुरुष का प्रतीक है । यह हम सब के भीतर भी है बाहर भी है । बाहर से वह हमें शक्ति देता है—सकर्मक बनाता है सकर्मक बनकर भीतर का व्यक्ति ही बाहर अभिव्यक्त होता है । डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि 'यह संघर्षरत है, इसलिए उसकी पीठ पर नहीं वक्ष पर घाव हैं । वह सकर्मक है, शक्ति का पुंज है, किन्तु फटेहाल है क्योंकि वह करुणा से युक्त होकर समाज के शोषित जनों का प्रतिनिधि बनता है । खुद उसे रोटी-पानी का अभाव रहता है । वह साधारण जन होकर साधारण जन का साथ देता है—'शिवो भूत्वा शिवं यजेत । हमारे देश काल को देखते हुए यह संस्कृति पुरुष मध्यवर्ग के आदर्शवादी दृढ़ चरित्र और जीवन की सुविधाओं से समझौता न करने वाले व्यक्ति का प्रतीक है ।'[2] आत्म-साक्षात्कारी भूमिका पर लिखित मुक्तिबोध की यह कविता उनके सर्जनशील अन्तःकरण के आयतन का भूगोल है । कवि का आत्मान्वेषक बड़ी हिम्मत के साथ अनेक संघर्ष करता हुआ अपनी आत्मा की छवि का साक्षात्कार कर सका है । कवि यहाँ आत्मनिर्वासित होकर अस्मिता की खोज नहीं करता है; अपितु संघर्षी स्थितियों से गुजरता, अन्तर्बाह्य से लड़ता हुआ अपनी अस्मिता को आत्मविस्तार दे सका है—स्व' को 'पर' की सीमाओं तक ले जा सका है ।

अन्ततः मुक्तिबोध के काव्य-सृजन के स्वरूप को संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि कवि ने मालवे की प्राकृतिक सुषमा से शुरुआत की, छायावादी रंग, रोमान और शिल्प से परिचय किया और निरंतर प्रगतिशील चेतना के आयाम उसके काव्य में विस्तरित होते गये । 'तारसप्तक' की कवितायें जहाँ मुक्तिबोध के छायावादी प्रगतिवादी स्वरूप की मिलीजुली अभिव्यक्तियाँ हैं, वहीं उनमें कवि के चिन्तन के वे सूत्र भी संकेतित हैं जो आगे चलकर 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' के रूप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के रूप में प्रगट हुए हैं । 'मुक्तिबोध' की कविताओं के इस परि-

1. चाँद का मुंह टेढ़ा है : पृष्ठ 267
2. विश्वनाथ त्रिपाठी : डॉ लक्ष्मण दत्त द्वारा संपादित कृति पृष्ठ 194

चय के बाद आसानी से उनके काव्य का प्रावृत्तिक निरूपण किया जा सकता है। मूल बातयह है कि मुक्तिबोध जन-मत के करीबी और यथार्थ के चित्रकार थे। वे जिन्दगी को जिस ढंग से जी सके वही ढंग उनके काव्य का भी है। उनकी कविताएँ पाठक से एक आवश्यक धैर्य की माँग करती हैं।

प्रवृत्ति-विश्लेषण

'मुक्तिबोध' जीवन-तथ्यों के कवि थे—एक ऐसे कवि थे जिसकी कविता अपने युग और परिवेश की हर साँस, हर धड़कन और हर संदर्भ को उसकी पूर्णता से जीती रही। मुक्तिबोध की कविताएँ अपने समय का या कहूँ कि कुछ और आगे के वर्षों का भी प्रामाणिक इतिहास हैं। जिसने जिन्दगी की लड़ाई को व्यापक सामाजिक स्तर पर अपने गणित से लड़ा हो, जिसने जिन्दगी के चौराहे पर खड़े होकर हर आने जाने वाले की गति प्रगति, स्थिति-परिस्थिति और अन्तरर्वाह्य वेदना को अपने अन्तःकरण के आयत में उतारा हो और जो आखिरी साँस तक मानव-मुक्ति के लिए लडता रहा हो, उसकी कविता का जटिल, व्यापक भयावहता युक्त और त्रासद परिणामों से रंग जाना न तो अस्वाभाविक है और न कृत्रिम। तमाम अन्तर्विरोधों, संघर्षों और त्रासादियों को झेलते हुये भी मुक्तिबोध यही चाहते रहे कि हर भारत के आदमी की जिन्दगी कुछ जीने लायक हो जाये, समाज वर्ग विषमता, शोषण, अत्याचार और जडत्व की गिरफ्त से मुक्त होकर खुली हवा में साँस ले सके। उनके इसी संघर्ष और उससे जुड़ी कामना से ही उनकी कविता का कथ्य जुड़ा हुआ है। कथ्य कथन मात्र नहीं है। वह तो कवि का अपना प्रेष्य होता है—कवि की अनुभूति का संकेत होता है। इसके लिए रचनाकार को कल्पना का सहारा लेकर अपनी अनुभूतियों का सम्मूर्तन करना पड़ता है। अतः कविता के हृदय में छिपी कवि की भावसत्ता का शाब्दिक रूपांतरण ही कथ्य कहलाता है। मुक्तिबोध के काव्य का भी अपना एक कथ्य है और वह कथ्य है शोषण, अत्याचार और पीड़ा से मुक्त स्वस्थ व बन्धनहीन समाज का निर्माण व स्थापना इसके लिए उन्होंने काव्यात्मक धरातल पर पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने यह भी बताया कि यह कार्य आत्मसंघर्ष, आत्मान्वेषण और आत्मसाक्षात्कार के सहारे ही सम्भव हो सकता है। अपने 'स्व' के सभी चेतन अचेतन पक्षों से परिचित होकर आत्मशोधन के रास्ते से ही यह संभव है। इस तरह मुक्तिबोध के काव्य का प्रमुख कथ्य वह संघर्ष है जो आत्मसंघर्ष से बाह्यसंघर्ष की ओर बढ़ता हुआ एक मुक्त और वर्गहीन समाज की स्थापना से सम्बद्ध हैं। इस संघर्ष में कवि का रचना-संघर्ष भी शामिल है। इसी कथ्य को संप्रेषित करते हुये कवि अनेक स्थितियों, अनेक रास्तों और परिवेश से गाढ़ी पहचान करता हुआ बढ़ता रहा है। इस बढ़ने में ही अनेक प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति पाती गई हैं।

1. व्यक्तिपरकता :

व्यक्तिपरकता छायावादी कविता की उल्लेखनीय प्रवृत्ति रही है। 'तार-

की अनेक कविताओं में भी यह व्यक्तिवादी स्वर मुखरित हुआ है । स्वयं मुक्तिबोध भी इससे बच नहीं पाए हैं। हाँ यह अकारण नहीं है। इसके अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक कारण है । द्वितीय विश्वयुद्ध के भयानक रक्तपात और नरसंहार ने मानव को जिस अनिश्चित और असुरक्षा के दरवाजे पर ला पटका वहाँ व्यक्तिपरकता से जुड़ने के अलावा और कोई चारा नहीं था। वह अपने को तुच्छ और नगण्य समझने के लिए विवश हो गया था। इसके साथ ही वैज्ञानिक अन्वेषणों ने भी यह जता दिया कि 'देश और काल अपने आप में कोई स्वतन्त्र भौतिक वस्तु नहीं है, वे तो हमारी चेतना के विकार हैं'। देश (स्पेस) भौतिक स्थितियों को नापने का माध्यम मात्र है और काल (टाइम) दो घटनाओं को नापने का माध्यम है। देश और काल की असीमता के बोध से मनुष्य न केवल छोटा महसूस करने के लिए विवश हुआ, अपितु उसके मानस में यह तथ्य भी घर कर गया कि वह 'न कुछ' है—नगण्य है। मुक्तिबोध की प्रारम्भिक कविताओं में हम इसी व्यक्तिपरकता को देख सकते हैं। यह प्रवृत्ति कथ्य और शैली दोनों पर ही हावी दिखाई देता है। 'अन्त-दर्शन' कविता की ये पंक्तियाँ देखिए जिनमें कवि आत्मरति और आत्मोन्मीलन के भावों से भरकर लिख गया है :

> मैं अपने से सम्मोहित, मन मेरा डूबा निज में ही।
> मेरा ज्ञान उठा निज में से, मार्ग निकाला अपने से ही।
> मैं अपने में ही जब खोया तो अपने से ही कुछ पाया।
> निज का उदासीन विश्लेषण आँखों में आँसू भर लाया।
> मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही।
> गहरे असंतोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझको ही ॥[1]

व्यक्तिपरकता की इसी प्रवृत्ति के कारण मुक्तिबोध की कुछेक गिनी चुनी कविताओं में नैराश्य ; कुंठा, घनीभूत अवसाद और मनोभग्नता के चित्र भी आये हैं। कहीं-कहीं अकेलापन और अन्तर्मुखता की प्रवृति भी झलक मारती है किन्तु मेरी धारणा है कि मुक्तिबोध की व्यक्तिवादिता सामाजिकता की ओर बढ़ने का प्रस्थान बिन्दु भर है। इसी से उसे हम नितांत वैयक्तिकता मानने के पक्ष में नहीं है। मुक्तिबोध एक साँस में व्यक्तिवादिता का आभास देते हैं और दूसरे ही पल समाजोन्मुख हो जाते हैं। कारण, आत्मशोधन की प्रवृत्ति और अपने को समग्र न मानना ही है। वे तो व्यक्ति को संकीर्ण परिधियों से निकालने को आतुर प्रतीत होते हैं। वे 'ब्रह्मराक्षस' का सजल-उर शिष्य बनने को लालायित हैं। इतना ही क्यों वे तो साफ कह देते हैं :

1. तारसप्तक : अन्तदर्शन कविता पृष्ठ 67

"याद रखो
कभी अकेले में मुक्ति नहीं मिलती
यदि वह है तो सबके साथ ही" ।।[1]

यों मुक्तिबोध की कविताओं में अकेलेपन का बोध भी पनपा है। वे आत्म-ग्रस्तता की सीमाओं में भी प्रविष्ट हुए हैं, किन्तु यह सब अपने भीतर से अपने ही लिए शक्ति संचित कर समाज की भीड़ में मिलने के लिए हैं। मुक्तिबोध अकेले में भटकते भी हैं; कभी-कभी हताश-निराश भी होते हैं। अनेक वार उनकी लम्बी-लम्बी कविताओं में सूनेपन, भटकन, अकेलापन, कुहासा और आंतरिक हलचल के बिम्ब भी आये हैं, किन्तु ये सभी चित्र आत्मशोधन की प्रक्रिया को पूर्ण बनाने के लिए हैं। अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ते-लड़ते मुक्तिबोध की शारीरिक और मानसिक शक्ति तक क्षीण से क्षीणतर हो गई थी। अतः यदि वे यह लिख गये तो ठीक ही था कि "प्राण की है बुरी हालत, और जर्जर देह, यह है खरी हालत"। इसी क्रम में ये पंक्तियाँ भी देखिए जिनमें अकेलापन और नैराश्य (Frustration) व्यंजित है :

मैं एकमात्र थमा आवेग
रूका हुआ एक जबरदस्त कार्यक्रम
मैं एक स्थगित हुआ अगला अध्याय
अनिवार्य,
आगे ढकेली गई प्रतीक्षित
महत्वपूर्ण तिथि
मैं एक शून्य में छटपटाता हुआ उद्देश्य ।।[2]

किन्तु मुक्तिबोध यहाँ रूके कहाँ हैं। यह ठीक है कि यहाँ अकेलेपन और निराश मानस की तसवीर है, किन्तु कुछ देर थमकर तसवीर पर जमी धूल को पोंछने का भाव ही यहाँ है। उनका जो लक्ष्य है वह तो इससे आगे है फिर वे अपने अकेले-पन में भी साफ तो कह रहे हैं कि 'मैं रूका हुआ एक जबरदस्त कार्यक्रम' और शून्य में छटपटाता हुआ उद्देश्य हूँ"। तात्पर्य यह है कि मुक्तिबोध निःसंग होकर भी अपने भावी उद्देश्य के साथ हैं। वे कुछ पलों के लिए इसलिए अकेले है ताकि आत्मान्वेषण कर वास्तविक जीवन सत्यों को परिभाषित कर समाज को सौंप सकें।

2 समाज-संसिक्ति : समसामयिक परिवेश

'मुक्तिबोध' का काव्य एक सामाजिक जीवन के व्याख्याता का काव्य है। उसमें निजता की पीठिका पर परता का शब्दांकन है। वह हर हालत मे समाज से संयुक्त है। यह संपृक्ति जन-संपृक्ति का ही पर्याय है। उन्होंने अपने युग-मानव की पीड़ाओं, असमर्थताओं और विडम्बनाओं को देखा भी था और भोगा भी था। इसी से उनका काव्य युग से संघर्ष करते जन-जन के अंतःकरण और भौतिक-मानसिक संघर्ष को प्रतिरूपित करता है। उनका आत्मद्वन्द्व निजी संघर्ष जन-चेतना की अभिव्यंजना के लिए की गई सार्थक तैयारी है। सही अर्थों में मुक्तिबोध जन समाज को सुखी और खुशहाल देखना चाहते थे। इसी चाहत के कारण वे जीवन, समाज और जन-जीवन के भीतरी पहलुओं तक का 'एक्सरे' प्रस्तुत कर गये हैं। जिस तरह कोई जासूस किसी रहस्य का पता लगाने के लिए सम्बन्धित स्थितियों को बारीकी से पकड़ता है उसी तरह मुक्तिबोध ने भी मानव समाज मे सम्बन्धित हर संदर्भ; हर घटना; हर पीड़ा और हरेक सगत-असगत स्थिति की करीब से जाँच-पड़ताल की है। इसी समाज से संसिक्त और परिवेश-सजगता के कारण डॉ० रमेश कुंतल मेघ ने उन्हें लोक जीवन का जासूस कहा तो शमशेर ने लिखा : 'मुक्तिबोध हमेशा एक विस्तृत 'कैनवॉस' लेता है : जो समतल नहीं होता जो सामाजिक जीवन के धर्म क्षेत्र और व्यक्ति-चेतना की रंगभूमि को निरंतर जोड़ते हुए समय के कई काल-क्षणों को प्राय एक साथ आयामित करता है।"[1] वास्तविकता यह है कि मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ उनकी समाज संसिक्ति को रेखांकित करती हुई वर्तमान परिवेश की भयावह, दंशक और अभिशप्त जीवन स्थितियों की तीखी व्यंजनाएँ हैं। वे समसामयिक परिवेश की विविध विसंगतियों का दहकता शिलालेख हैं। उनमें जन-जन की पीड़ा का इतिहास छिपा हुआ है और विस्मित करने वाली बात यह है कि यह इतिहास स्वयं बोलता है—मौन नहीं है। अधिकांश कविताओं में नायक की भूमिका निभाता हुआ 'मैं' पूरे समाज व जनजीवन में विचरण करके उसकी तस्वीरें प्रस्तुत करता रहा है। यही वजह है कि 'मैं' मात्र कवि नहीं है ; पूरे समाज का 'मैं' है जो काव्य नायक के रूप में चित्रित हुआ है।

मुक्तिबोध की समाज संसिक्ति से जिस सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति हुई है उसे हम तारसप्तकीय कविताओं में ही नहीं 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताओं में भी बखूबी देख सकते है। उनकी सामयिक चेतना के गोलक में गांधी, तिलक जैसे समाज-सुधारकों के सिद्धान्त भी है। विभिन्न क्रान्तिधर्मी चेतना के गवाह 'प्रोसेसन'—आन्दोलन भी हैं। इन आन्दोलनों के सहारे ही कवि उस जनता की

---

1. शमशेर बहादुर : चाँद का मुँह टेढ़ा है की भूमिका पृष्ठ 21

भी उभार सका है जो मर्दित और शोषित है। इस शोषण के शिकार जन समूह में मुक्तिबोध की निगाह सभी पर पड़ी है। चित्रकार, मूर्तिकार, कलाकार कारखाने, धुएँ भरी चिमनियाँ,श्रमरता नारियाँ, अभिशप्त जिन्दगी जीते हुए लोग; शिशु, मजदूर, मालिक, कपड़े धोती-पीटती और पानी के वजनदार घड़े उठाती नारियाँ; ग'र्वती माताएँ, लकड़ी बीनती माताएँ, हरिजन बस्ती की गन्दी गलियां, शेवरलेट और डॉज के नीचे घुसकर गन्दे लिबास में काम करने वाले कारीगर, मिस्त्री; आफिस में तडातड़ टाइप करती लड़कियाँ, पैसों के लिए कौमार्य दान देने वाली षोडशियाँ, 'रेफ्रीजरेटर' और विटामिन पिल्स पर जीने वाली दुनियाँ, सभ्यता का नकाब ओढ़े विकृत जिन्दगी जीने वाले इन्सान, दूध के लिए छटपटाती गुडियाँ-मुनियाँ-प्रतिष्ठित राज्य संस्कृति का प्रतीक बेबीलोन, डाकू, डोमाजी उस्ताद, मृत्यु-दल की शोभा यात्रा में जरीदार ड्रेस पहने बैण्ड दल, नगर के प्रतिष्ठित पत्रकार, प्रस्तरित चेहरे ओढ़े इन्सान, मुरझाये सैनिक दल, प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, मधुर तान छोड़ते हुए कवि-गायक, मंत्री, उद्योगपति-पूंजीपति और लुटे-पिटे चेहरे वाले ढ़ेर के ढ़ेर लोग मुक्तिबोध की कविताओं में आकर कैद हो गये हैं। इन सभी दृश्यों और इनसे निर्मित परिवेश को 'अँधेरे में; मुझे याद आते हैं', 'चम्बल की घाटियाँ', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'ब्रह्मराक्षस', 'स्वप्न कथा', 'मेरे लोग' और 'चकमक की चिनगारियाँ' आदि अनेक कविताओं की राह से गुजरते हुए देखा जा सकता है। समकालीन परिवेश के ये चित्र मुक्तिबोध को यथार्थ-परिदृश्यों का सर्जक अन्वेषक और कलाकार प्रमाणित करते हैं। इसके उदाहरण देना आवश्यक नहीं लग रहा और यदि देने लगू तो उनका कोई अन्त नहीं होगा। अतः यही कहना उचित प्रतीत होता है कि हमारे आस-पास का जगत और उससे निर्मित भयावह और त्रासद समाज इन कविताओं में कैद है। इस समाज की तसवीर के उन अनगिनत चित्रों में से कुछेक चित्र इस तरह है:

1– अचानक सनसनी भौचक
कि पैरों के तलों को काट-खाती कौन सी यह आग?
भयानक, हाय अंधा दौर
जिन्दा छातियों पर और चेहरों पर
कदम रखकर, चले हैं पैर···· ········· 1

2– टूटी गाडियों के साँवले चक्के
दिखें तो मूर्त होते आज के धक्के
भयानक बदनसीबी के

भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ
मैं भी घूमता हूँ शुष्क .... [1]

3— झरने के तट पर रोता है कोई बालक
अँधियारे में काले सियार से घूम रहे
मैदान सूँघतेहुए हवाओं के झौंके
झरने के पथरीले तट पर
सो चुका अरे किन-किन करके, कुछ रो-रो के
चिथड़ों में सद्योजात एक बालक सुन्दर !.......

4— हाँ वहाँ एक गाँव दहक उठा
गरीबों का गाँव एक बिना ठाँव
खतरनाक लूट-पाट, आग डकैतियाँ
चम्बल की घाटियाँ ! !
वहीं कहीं मैं भी, हाय-हाय करते हुए,
भाग चले लोगों मैं भागता
गठरी है सिर पर कंधे पर बालक
फटे हुए अँगोछे से बँधी हुई
बच्ची है कसी हुई पींठ पर ....[3]

5— लो-हित-पिता को घर से निकाल दिया,
जन-मन-करुणा-सी माँ को हँकाल दिया,
स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल लिया
भावना के कर्त्तव्य त्याग दिये
विवेक का बघार डाला स्वार्थों के तेल में
आदर्श खा गये ! .... [4]

6— प्रत्येक चौराहे, दुराहे व राहों के मोड़ पर
सड़क पर खड़ा हूँ.......... ....
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी !!
सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्

1. चाँद का मुँह टेढ़ा पृष्ठ 161
2. वही, पृष्ठ 49
3. वही, पृष्ठ 246
4. वही, पृष्ठ 284

चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
उनके खयाल से यह सब गप है, मात्र किंवदन्ती है
रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे ! ……
भव्याकार भवनों के विवरों में छिप गये
समाचार पत्रों के पतियों के मुख स्थूल……
बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास
किराये के विचारों का उद्‌भास[1]

इन उदाहरणों में सामयिक परिवेश के न केवल चित्र हैं; अपितु मुक्तिबोध की आत्मानुभूतियों का सैलाव भी है—वह सैलाव जिसे देखने-दिखाने और भोगने के बाद कवि का अन्वेषक हर गली, हर सड़क, हर परिवेश और हर संदर्भ से जुड़ता हुआ हरेक चेहरे, चरित्र और हरेक गतिविधि को कविता में नक्श करता गया है। वह "अपनी खोई हुई परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्म-संभवा" को पाने की धुन में ही सब कुछ देखता-परखता और समाज से संसिक्ति दिखलाता हुआ अपनी समसामयिक चिन्तना को शब्दबद्ध कर गया है। अपनी सामायिकता और समाज-संसिक्ति के निरूपण-क्रम में मुक्तिबोध ने वर्तमान परिवेश की सांस्कृतिक भव्यता के तलघर में छिपे विद्रूप, गलित, लिजलिजे, दशंक, त्रासद, स्वार्थ गर्वित और बाहरी पालिश के भीतर छिपे रोग को अनावृत किया है। इस अनावरण में ही वह मूल्यान्वेषण भी करता है और हमें यह कहने की शक्ति देता है कि वह मात्र यथार्थ को अभिव्यंजित करने वाला कलाकार ही नहीं है; अपितु द्रष्टा-भोक्ता से आगे जाकर नये आयामों का स्रष्टा भी है। समष्टि चेतना के रंगों में अपनी व्यष्टि चेतना का रंग घोलकर, परिवेश के हर मोड़, चौराहे, तिराहे, दुराहे और गली-नुक्कड़ पर अपनी हाज़िरी बताकर ही वह नये मूल्यों का स्रष्टा बना है। मात्र स्वप्नों के सहारे किसी भविष्य के चमकदार कपड़े को बुनने की लालसा उसके मन में नहीं है। वह तो सकर्मक है—कर्म के शिलाखण्डों को साथ लिए हुए है क्योंकि उन्हीं से स्वप्नों की साकार प्रतिमा गढ़ी जा सकती है।

3. **वर्गहीन समाज-स्थापन की ललक :**

मुक्तिबोध के काव्य-संसार को गहरी नजर से देखें तो साफ जाहिर होता है कि वे एक वर्गरहित और शोषण रहित समाज की स्थापना के लिए लालायित थे। वे जानते थे कि मानवीय समाज, संस्कृति और जीवन-दृष्टि को स्वस्थ जीवन मूल्यों से जोड़ना अनिवार्य है। इसके लिए व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार की गलियों से गुजरना पड़ेगा—अपने 'स्व' का संशोधन-परिशोधन करना पड़ेगा, तभी वर्गहीन और शोषणहीन स्वस्थ समाज का ढाँचा खड़ा हो सकेगा। स्वार्थ, संकीर्णता और

---

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 311

भौतिक सुख-सुविधाओं के मलबे को हटाना पड़ेगा; उसके ढूह में आग लगानी पड़ेगी। कहना गैर जरूरी लग रहा है कि मुक्तिबोध का समस्त काव्य इसी ललक की पूर्ति का वृहत्तर आयाम प्रस्तुत करता है। एक स्थान पर कवि साफ लिख गया है :

> समस्य एक—
> मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
>
> सभी मानव
> सुखी, सुन्दर व शोषणमुक्त
> कब होंगे ?[1]

'चकमक की चिनगारियाँ' कविता में मुक्तिबोध ने अपनी कविता को 'आवेगत्वरित कालयात्री' कहते हुए उसे 'विश्वशास्त्री' और 'जनचरित्री' कहा ही इसलिए है कि वर्गहीन समाज का निर्माण तभी सम्भव है—जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा का स्वप्न साकार तभी होगा; जब हम शोषण और स्वार्थ के हथियारों–गुब्बारों को छोड़ देंगे। कारण 'शोषण की अतिमात्रा/स्वार्थों की सुख यात्रा/जब-जब सम्पन्न हुई। आत्मा से अर्थ गया, मर गयी सभ्यता।"[2] अतः मुक्तिबोध जिस शोषण और अत्याचार से मु क्त चाहते है—भीतर और बाहर के दलिद्दर से मुक्ति की चेष्टा करते हैं, वह इसीलिए तो कि एक वर्गहीन समाज स्थापित हो सके। शोषण, अत्याचार और जड़ता से मुक्ति पाने के क्रम में ही कवि सामने फैले विविध प्रश्नों पर पुर्नविचार करता है : 'मेरे सामने हैं प्रश्न/क्या होगा कहाँ, किस भाँति/मेरे देश भारत में/पुरानी हाय में से/किस तरह से आग भभकेगी। उड़ेगी किस तरह भक से/हमारे वक्ष पर लेटी हुई। विकराल चट्टानें।"[3] असल में वर्गहीन और शोषणहीन समाज की स्थापना के लिए कवि प्रतीक्षा नहीं करना चाहता है और न चुप होकर जीना ही उसे काम्य है। वह तो आमूल चूल परिवर्तन की नौका पर सवार होकर इस सिरे से उस सिरे तक और इस देह से उस देह के भीतर तक यात्रित होना चाहता है क्योंकि उसे भूखे बालकों के श्याम चेहरे कचोटते रहते हैं; जगत की स्याह सड़कों पर मानव भविष्यत् युद्ध में रत तप्त मुख दिखाई देते रहते हैं :

> "उन पर प्यार आता है
> कि जिनका तप्त मुख
> सँवला रहा है; धूम लहरों में

1. चाँद का मुँह टेढ़ा : पृ. 164
2. वही : पृ. 198
3. वही : पृ 159

कि जो मानव भविष्यत्-युद्ध में रत है,
जगत् की स्याह सड़कों पर।"[1]

और

"जहाँ सूखे बबूलों की कँटीली पात
भरती है हृदय में धुंध-डूबा दुःख
भूखे बालक के श्याम चेहरों साथ
मैं भी घूमता हूँ शुष्क
आती याद मेरे देश भारत की।"[2]

इतना ही नहीं मुक्तिबोध ने वर्गहीन स्वस्थ-सामाजिक मूल्यों की नींव पर निर्मित समाज की कल्पना में उन सुविधाजीवियों और अवसरवादियों को बाधा माना है जो पूँजीवादी मनोवृत्ति की पूँछ पकड़कर जीना चाहते हैं। जब तक ये अवसरवादी बदल नहीं जाते तब तक वर्गहीन समाज-स्थापना का स्वप्न पूरा नहीं हो सकता है। अतः वे कह गये हैं कि 'वर्तमान समाज में चल नहीं सकता पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता/स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी/छल नहीं सकता मुक्ति के मन को/जन को[3]। अतः अपनी कामना पूर्ति में बाधक ऐसे तत्वों के प्रति कवि ने घृणा का विष उगला है—भर्त्सना की है।

4. पूँजीवादी व्यवस्था व मनोवृत्ति के प्रति घृणाभिव्यंजन :

मुक्तिबोध सच्चे अर्थों में जीवन-मूल्यों की स्वस्थ परम्परा के कवि थे। वे शोषण और अत्याचार की चक्की में पिसते जनःसमाज के प्रति पर्याप्त सहानुभूतिशील थे और चाहते थे कि जन समाज के सँवलाये और पथराये चेहरों पर सूर्याभा चमके और दमके सुख व संतोष की चाँदनी। इसी प्रक्रिया में उन्होंने उस व्यवस्था का विरोध किया; उस मनोवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट की जो दूसरों के रक्त पर जी रही हैं। इसी पर रक्तजीवी व्यवस्था ने अपने प्रयत्नों से एक नपुंसक जमात खड़ी करली है एक ऐसी परम्परा कायम करली है जो अपनी सुविधा के लिए उक्त व्यवस्था की हाँ में हाँ मिलाती रहती है। मुक्तिबोध की गहरी-तीखी नजर ने इन दोनों को देखा है और अपनी सपाट शब्द उगलती कलम से इनका घृणाभिषेक किया है। यह प्रक्रिया 'तारसप्तक' की 'पूँजीवादी समाज के प्रति' कविता से आरम्भ होती है। कवि ने पूँजीवादियों की मनोवृत्तियों को देखकर स्पष्ट भाषा में कहा है—

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 163
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 160
3. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 310

छोड़ो हाथ, केवल घृणा और दुर्गन्ध
तेरी रेशमी वह संस्कृति अंध
देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध
तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तू है मरण तू है रिक्त तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ[1]

मार्क्सीय प्रगतिशीलता की छाँह में पली मुक्तिबोध की आस्था का केन्द्र जन-मन है—पूँजीवादी व्यवस्था या उसका केन्द्रस्थ मानव नहीं है। असत्य और अत्याचार की काली करतूतों वाले इस व्यवस्थाधीश की संस्कृति कवि की दृष्टि में शोषण-संस्कृति है। अतः नाश देवता' कविता में यदि वह पूँजीवादियों को मिटाने पर तुला है तो नयी जमीन पर नये सामान्य मानव को प्रतिष्ठित करने का आकांक्षी भी है। कारण, उसका लगाव जनसाधारण से इतना अधिक है कि वह 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' कविता में यहाँ तक लिख देता है कि "मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ। तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणाएँ इतनी भिन्न हैं। कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है।[2] पूँजीवादी सभ्यता ने शहरी जीवन को चकाचौंध और शानशौकत से तो भर दिया है, किन्तु उसे खोखला-दोगला भी बना दिया है। 'मुझे याद आते हैं' कविता में मुक्तिबोध ने नागरिक सभ्यता के इसी दोगलेपन को चित्रित किया है तो 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक से लिखी कविता में 'चाँदनी' ही पूंजीवादी संस्कृति के प्रतीक भार को ढोती हुई कवि की भर्त्सना का शाप झेल रही है। फलतः कवि 'शोपण की सभ्यता का दुर्ग-रूप उद्घाटित करते हुए रेफ्रीजरेटरों विटामिनों और रेडियोग्रामों के बाहर की गति वाली दुनियाँ के प्रति करुणार्द्र हो उठा है। असल में पूँजीवादी समाज के शोषक रूप को मुक्तिबोध ने बबर फौज के खूनी चेहरे, कस के क्रूर चरित्र और यातुधान से उपमित किया है। इस तरह स्पष्ट है कि मुक्तिबोध ने शोषकों—पूँजीपतियों और उनके दस्युरूप को अपनी घृणा-भर्त्सना प्रदान की है।

5. शोषितों और दलितों के प्रति आर्द्र संवेदना :

मार्क्सीय चिन्तन की भूमिका पर जहाँ मुक्तिबोध का कवि सर्वहारा-मजदूर वर्ग का अभिषेक सहानुभूति और करुण-जल से करता है, वहीं उसे ऊँचा उठाना भी चाहता है। आर्थिक शोषण से उसे मुक्त भी करना चाहता है। इसी दृष्टिकोण के

1. तार सप्तक पृष्ठ 61
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ. 108

तहत मुक्तिबोध के काव्य में शोषित मानवों व उनके जीवन के प्रति सहानुभूति; शिशुओं के प्रति वत्सल दृष्टि, पूँजीपतियों की हविश का शिकार बनी नारी के प्रति स्नेहिल दृष्टि और सजल दृष्टि मिलती है। उन्होंने शोषक वृत्ति व उसका शिकार बने समाज का शब्दांकन भर नहीं किया है; अपितु उन्हें अपनी आर्द्र-संवेदना भी अर्पित की है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में श्रमिक वर्ग के शोषण स्थान कारखाने के वातावरण का चित्र भी अंकित है तो हरिजन गलियों व पुलों के नीचे बहते गंदे नालों के सहारे पड़े रहने वाले मानवों की बस्ती का संदर्भ भी पूरी सहानुभूति के साथ चित्रित किया गया है। इसी क्रम में 'डूबता चाँद कब डूबेगा' कविता को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इसमें व्यंजित शोषण दो स्तरों पर है—मानवीय व्यक्तित्व को दूषित वृत्तियों द्वारा शोषित किये जाने के सम्बन्ध से और पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा सामाजिक व्यक्ति-मानव के शोषण के सम्बन्ध से। कवि के सामने मूल प्रश्न यही है कि मनुष्य रागद्वेष, ईर्ष्या, भय, कुत्सा और स्वार्थान्धता के लौह-पाश से कब और कैसे मुक्ति पा सकेगा? वह समय कब आयेगा जब यह सभ्यता मनुष्य की अस्तित्व-रक्षा का प्रयत्न कर सकेगी? 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' कविता में भी नौकरशाही व्यवस्था के माध्यम से शोषित संयुक्त परिवार की एक तस्वीर यों उभारी गई है: "अजीब संयुक्त परिवार है—/औरतें व नौकर व मेहनतकश/अपने ही वक्ष को/खुरदरा वृक्ष धड़/मानकर घिसती हैं, घिसते हैं/अपनी छाती पर जबर्दस्ती/विषदंती भावों का सर्पमुख/बहुएँ मुँडेरों से कूद अरे आत्महत्या करती हैं" [1] मुक्तिबोध ने पूँजीवादी व्यवस्था और सभ्यता से त्रस्त-ध्वस्त होते जीवन का जो करुणार्द्र चित्र प्रस्तुत किया है वह सहज ही हमारे मानस को बाँध लेता है। कवि की कलम से लिखी गई ये पंक्तियाँ पढ़िये: "दूर-दूर मुफलिसी के टूटे फूटे घरों में/सुनहले चिराग बल उठते हैं/ आधी अँधेरी शाम/ललाई में नहलाई जाकर पूरी झुक जाती है/थूहर के झुरमुटों से लसी हुई मेरी इस राह पर"/[2] इसी श्रृंखला में लिखी मेरे लोग' कविता में कवि का मन शोषित-दलित वर्ग के प्रति न केवल आत्मीय हो उठा है; अपितु संवेदनार्द्र भी हो गया है: "गिरिस्तिन मौन माँ बहनें/सड़क पर देखती हैं/भावमंथर काल पीड़ित ठठरियों की श्याम गोयात्रा/उदासी से रंगे गंभीर मुरझाये हुए प्यारे/गऊ चेहरे, निरख कर/पिघल उठता मन"/[3]

इसी प्रकार के और भी अनेक चित्र हैं जिनमें कवि की सहानुभूति शोषितों के प्रति व्यक्त हुई है। पूरी ईमानदारी से तैयार किये गये इन चित्रों में 'मैं तुम

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ 62
2. वही, पृष्ठ 80
3. वही, पृष्ठ 92

लोगों से दूर हूँ' कविता का कनफटा ऐढ़ा, तेलिया लिवास पहने शेवरलेट, डॉज के नीचे लेटा हुआ आदमी भी है और शोषण के लिए जिम्मेदार होने की आत्म चेतना में अपराधी की भावना से पीड़ित वह शोषित मर्दित इन्सान भी है जो न खड़ा हो सकता है; न नाच सकता है, किन्तु फिर भी उसकी छाती रौंदी जाती है। उसे जबरन अँधेरे कमरों में ले जाया जाता है और—

> टूटे से स्टूल पर बिठाया गया हूँ।
> शीश की हड्डी जा रही तोड़ी
> लोहे की कील पर बड़े हथौड़े
> पड़ रहे लगातार
> शीश का मोटा अस्थि कवच ही निकाल डाला।
> चाबुक चमक दार, पीठ पर यद्यपि
> उखड़े चर्म की कत्थई रक्तिम रेखाएँ उभरीं[1]

शोषितों और पीड़ितों के जीवन के मार्मिक बिम्ब प्रस्तुत करते हुए मुक्तिबोध ने अपनी अनेक कविताओं में शोषित शिशुओं व नारियों के बिम्ब भी ईमानी शैली में प्रस्तुत किये हैं। शोषित शिशु का चित्र 'डूबता चाँद कब डूबेगा' कविता में है। ये वे बालक हैं जो या तो गहरे कराहते गर्भों से जन्मे हैं या शोषण के वीर्य-बीज ने इन्हें पैदा किया है। नारी की शोषित अवस्था का चित्र भी अनेक स्थानों पर मिलता है। कहीं वह वासना का शिकार बन वलात्कार का दंश सह रही है; कहीं वह अपनी अभावग्रस्तता का शाप झेलती हुई उच्छृखल समाज की वासना का शिकार बनती रही ('ओ काव्यात्मक फणिधर') तो कहीं वह विवशता में भी श्रमरत हैं : पानी भरती है वजनदार घडों से/कपड़ों को धोती है झाड़-झाड़/घर बाहर के सब काम करती है/अपनी सारी थकान के बावजूद मजदूरी करती है''/[2] 'एक अन्तर्कथा' शीर्षक से लिखी गई कविता में कवि ने श्रमशीला नारी के मातृत्व रूप को करुणा, आस्था और क्रान्ति-प्रेरणा का प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत किया है। वह नारी मामूली नहीं है। वह तो दृढ़ आस्थि धारिणी जीर्ण नील वस्त्र पहने हुए गतिमती व्यक्तिमत्ता सी प्रतीत होती है। इसीलिए तो वह जीवन से थके-हारे मनुष्य को जीवन-संघर्ष में प्रविष्ट होने की प्रेरणा देती हुई निरंतर श्रमरत और जिजीविषा युक्त होने का संदेश देती है :—"तब देव बना अब जिप्सी भी/केवल जीवन-कर्त्तव्यों का/पालन न हो सके इसीलिए/निज को बहकाया करता है/चल इधर, बीन रुखी टहनी/सूखी

1. चांद का मुँह टेढ़ा है; पृष्ठ 301
2. वही, पृष्ठ 79

डालें, भूरे डंठल/"[1] जाहिर है कि मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में शोषित दलित वर्ग के प्रति करुणा और सहानुभूति भी अर्पित की है और उन्हीं के माध्यम से श्रम, कर्त्तव्य, आस्था और निजीविषा का मूल मंत्र भी दिया है।

6. सामान्य मानव के प्रति निष्ठा और समर्पण :

'मुक्तिबोध' मानवीय वेदना से प्रेरित और परिचालित मानवतावादी कवि के रूप में सामने आते हैं। उन्होंने समाज के सभी तबकों के व्यक्तियों की गतिविधियों, भावनाओं और अभिलाषाओं को गहरी नजर से देखा था। वे मामूली से मामूली आदमी के आन्तरिक भावों को समझने-बूझने वाले कवि थे। असल में उनकी निष्ठा थी ही सामान्य मानव के प्रति और वे समर्पित भी उसके लिए ही थे। उनकी कविताएँ इस बात की गवाही देती हैं कि वे निम्न वर्गीय व्यक्तियों को अपनी बाँहों में समेटने और खुद उनकी बाँहों में बँध जाने के लिए तैयार रहते थे। कारण; उनके सारे रिश्ते इन्हीं सामान्य मानवों से थे और वे चाहते थे कि इन्हीं के द्वारा उन्हें और उनकी कविताओं को जाना-समझा और परखा जाय। उन्होंने एक स्थान पर स्वीकार किया है : "विशाल श्रम शीलता की जीवंत/मूर्तियों के चेहरे पर/झुलसी हुई आत्मा की अनगिन लकीरें/मुझे जकड़ लेती हैं अपने में, अपना सा जानकर/बहुत पुरानी किसी निजी पहचान से"/[2] 'मुझे याद आते हैं' कविता में जो 'तारसप्तक' की 'मैं उनका ही होता' कविता का विस्तृत रूपान्तर है, कवि ने जन-साधारण के प्रति अपना विश्वास और उससे निर्मित व्यक्तित्व समर्पित कर दिया है। वे यहाँ तक लिख गये हैं कि वें साधारण लोग ही मेरे हृदय से जुड़े हुए हैं और मेरी समस्त शब्द-संपदा और भाव संपदा भी उन्हीं की है—उनके ही जीवन से संयुक्त है। 'मुझे याद आते हैं। कविता में आया गर्भवती नारी; श्रमरता नारी और कर्मठ नारी का जो चित्र अलग-अलग कोणों से लिया गया है वह भी कवि की जन-सामान्य के प्रति निष्ठा-भावना को ही निरूपित करता है। उनकी आस्था और जिजीविषा का केन्द्र बिन्दु भी इसी कविता में छिपा है। वे लिख गये है : "यदि श्रमशीला नारी की आत्मा/सब अभावों को सहकर/कष्टों को लात मार/निराशाएँ ठुकरा कर/किसी ध्रुव लक्ष्य पर/खिचती सी जीती है/जीवित रह सकता हूँ मैं भी तो वैसे ही"/[3] इसी कविता में कवि ने जो ग्रामीण परिवेश मूर्तित किया है वह तो पूरी तरह प्रेमचंदीय साँचे में ढला प्रतीत होता है। रास्ते पर आते जाते लट्ठधारी, बूढ़े पटेल बाबा, ऊँचे से किसान दादा, दाढ़ीधारी देहाती मुसलमान चाचा और माँ,

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 123
2. वही, पृष्ठ 81
3. वही, 80

बहनें और बेटियाँ आदि सभी के प्रति कवि की निष्ठा और श्रद्धा-भावना उमड़ पड़ी है। उसकी सभी को सलाम राम-राम करने के इच्छा हो आई है।

जन साधारण से अपनी गहन संसिक्ति के कारण ही वे पूँजीवादी व्यवस्था से दूर बहुत दूर अनुभव करते हैं। 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' कविता इसी दूरी को प्रगट करती है। वे सामान्य मानव की पीड़ा, घुटन और निराशा को स्वीकार भी करते हैं और उससे मर्माहतभी होते हैं। निराशा, पीड़ा और घुटन के अनगिनत पाटों के बीच पिसते हुए मुक्तिबोध को सभी सामान्य जन निरंतर याद आते रहते हैं। आखिर क्यों न याद आयें ? उनकी प्रतिबद्धता इन्हीं श्रमशील मानवों के प्रति है। 'एक साहित्यिक की डायरी' में उन्होंने इसकी स्वीकारोक्ति भी प्रस्तुत की है। उनके शब्द हैं : "मैं तो सिर्फ मेहनत पर, अकारथ मेहनत पर, उस मेहनत पर जो अपना पेट भी नहीं भर सकती, उस मेहनत पर जो बहुत सज्जन है, उस सहनशील श्रम पर लिखने वाला हूँ। मैं उस श्रम का चित्रण करना चाहता हूँ जिसका बदला कभी नहीं मिलता और जिसे आये दिन आत्म बलिदान और त्याग की नसीहत दी जाती है।"[1] ध्यान देने की बात यह है कि मुक्तिबोध की इस कथनी और उस करनी में कोई अन्तर नहीं है। 'रंगों में सुलगती हुई एक सुनहली शनाख्त' कविता की ये पंक्तियाँ तो देखिये :

> लेकिन दिल में एक याद है
> चिलचिलाती-चिलकती रहती है
> उन लोगों की, जिनके चेहरों पर
> वीरान-खण्डहरों की धूप
> और घने पेड़ों के साये मँडराया करते हैं।
> जो बहुत गुरूर से
> सिर्फ इन्सान होने की हैसियत रखते हैं।[2]

इसी क्रम में वह आगे कहता चला गया है कि आप साहूकार हों या सरकार, मेरी तो उन्हीं सामान्य जनों के साथ पटरी बैठती है और उन्हीं के बदनसीब हाथों से मेरी गरीब दुनियाँ चलती है जो मुझ जैसे हैं। कहना यही है कि मुक्तिबोध की निष्ठा सामान्य जनों के प्रति है। यही जनवादी चेतना और विश्वास-भावना मुक्तिबोध के काव्य की केन्द्रीय चेतना है।

7. वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति चेतना :

सामान्य जनों का हिमायती और शुभेच्छु मुक्तिबोध अपनी अनेक कविताओं

---

1. मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी : पृष्ठ 49
2. ज्ञानोदय : दिसंबर जनवरी 1969-70

में वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति चेतना को वाणी दे सका है। उनकी कई कविताओं में शोषित वर्ग की संघर्ष प्रियता और क्रान्ति प्रियता अभिव्यक्त हुई है। 'लकड़ी का बना रावण', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'ओ काव्यात्मकन फणिधर', 'चकमक की चिनगारियाँ', शून्य' और 'चम्बल की घाटी' आदि महत्वपूर्ण कविताओं में मुक्तिबोध की क्रान्ति चेतना कहीं प्रत्यक्ष और कहीं सांकेतिक शैली में अभिव्यक्त होती है, 'चम्बल की घाटी' कविता को ही लीजिए। इसमें कवि ने शोषण-प्रिय और सामंतशाही के प्रतीक महाप्रभुओं के अत्याचारों से मुक्ति के लिए 'समूहीकरण' की बात कही है। यह वह कविता है जिसके सहारे मुक्तिबोध ने नवनिर्माण की भूमिका भी तैयार की है और वर्ग-संघर्ष में व्यक्ति की सत्ता के स्वयं जाने में ही—उसके एक महत्तम उद्देश्य के हस्तगत हो जाने में ही सार्थकता का अहसास किया है। कविता के अन्तिम बंद तक पहुँचते-पहुँते कवि ने अपेक्षित वर्ग संघर्ष के स्वरूप को इन पंक्तियों में स्पष्ट किया है : "अपने ही दर्दों के/लुटेरे इलाकों में जोरदार/आज जो गिरोह है/ पीड़ित जनों को/जनसाधारण को उनकी ही टोह है/पूर्ण विनाश अनस्तित्व का चरम विकास है। इसीलिए ओ दृषद् आत्मन/कट जाओ/टूट जाओ/टूटने से जो विस्फोट-शब्द होगा/गूँजेगा जग भर/किन्तु अकेले की तुम्हारी ही वह सिर्फ नहीं होगी कहानी।"[1]

'चकमक की चिनगारियाँ' में भी कवि उद्विग्न मानस का प्रतीकत्व लेकर उपस्थित है। उसकी चिन्ता इस बात को लेकर है कि देश में हर पल, हर मोड़ और हर गलियारे से 'हाय-हाय' की जो करुण-त्रासद ध्वनियाँ सुनाई दे रही हैं; वे कब अग्नि-ज्वाला को समर्पित होती हुई मानवीय भव्यता में बदलेगी ? मुक्तिबोध ने अत्याचार की सरकार को वर्खास्त करने की माँग उठाते हुए एक सचेतन आन्दोलन का चित्रण किया है। उनके शब्द है :

शहरी रास्तों पर भीड़ से मुठभेड़
जमकर पत्थरों की चीखती बारिश
व रायफल गोलियों के तेज नारंगी
धड़ाकों में उमड़ती आग की बौछार
उन पर प्यार आता है
कि जो मानव भविष्यत् युद्ध में रत है
जगत की स्याह सड़कों पर ![2]

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ
2. वही, 163-164

'ओ काव्यात्मन फणिधर' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध अपने फणिधर की प्रकृति वाले काव्यात्मन से 'मणिगण' को धारण के लिए कहते हैं। 'मणिगण', समूह शक्ति का प्रतीक है। यह समूह शक्ति उपेक्षित जन की क्रांति चेतना जागृत होने पर ही एकत्र हो सकती है। जब कवि यह लिखता है कि 'ओ नागात्मे/इन सब रंगों को पियो, उन्हें विष में परिणत/करके भीतर/भोगो थर-थर/भोगो जहरीला संवेदन/पर उससे अधिकाधिक जाग्रत/अधिकाधिक उत्तेजित-आक्रामक हो/सूँघते हुए वीरान हवा/तुम स्वप्न देखते हुए/मन के मन में विश्लेषण करते हुए/झाड़ियों से गुजरो'/[1] तो उसकी वर्ग-संघर्ष और क्रांतिचेता भावना स्पष्ट हो जाती है। 'लकड़ी का बना रावण' कविता में एक ऐसे अहंग्रस्त व्यक्तित्व का विश्लेषण है जो निस्सार और खोखले पन का धनी होकर भी अपने को 'सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र' समझता है। इस कविता में आया 'मैं' उस पूँजीवादी संस्कृति का प्रतिनिधि है जो ह्रासोन्मुखी है। अतः इस संस्कृति के प्रतिनिधियों को आशंका है, भय है कि कहीं हमारी स्वर्णाभ अद्वितीय सत्ता को 'जनतन्त्री वानर' धराशायी न कर दें। अन्ततः जन-शक्ति की परिणति क्रांति-चेतना में होती है। यही वजह है कि पूँजीवादी सभ्यता का प्रतीक 'मैं' अपने को असहाय और विवश महसूस करता हुआ कहता है : 'हाय-हाय/उग्रतर हो रहा चेहरों का समुदाय/और कि भाग नहीं पाता मैं/हिल नहीं पाता हूँ/मैं मन्त्र कीलित सा/भूमि में गड़ा-सा/जड़ खड़ा हूँ/अब गिरा, तब गिरा/इसी पल कि उस पल/[2] इसी क्रम में 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता को भी विस्तृत नहीं किया जा सकता है जो अपनी समस्त अनुभूति और शरीर-यष्टि में वर्ग संघर्षीय क्रांति का अभिव्यंजन है। इसमें आया संघर्षधर्मी वातावरण ही वर्ग संघर्ष की उपस्थिति को व्यक्त करता है। कवि ने लिखा है : 'लोहांगी में हवाएँ/दरख्त में घुसकर /पत्तों से फुसफुसाती कहती हैं/नगर की व्यथाएँ/सभाओं की कथाएँ/मोर्चे की तड़प और मकानों के मोर्चे/मीटिंगों में नर्म राग/अंगारो से भरी हुई/प्राणों की गरम राख गलियों में बसी हुई छायाओं के लोक में/छायायें चलीं दो/छायाएँ दो छायाएं/इकहरी झाइयाँ !![3] इन पंक्तियों में वर्णित परिवेश न केवल भयावह है; अपितु संघर्ष की प्रक्रिया को भी मूर्तित कर रहा है। वर्ग-संघर्ष के प्रमुख माध्यम के रूप में 'पोस्टर' इस कविता में मुक्ति चेतना का गवाह बनकर आया है। इतना ही नहीं यहाँ 'भैंस' का प्रतीकार्थ भी क्रान्ति का अर्थ वहन किये हुए है। इसी कविता में मुक्तिबोध ने

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 138
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 27
3. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 39

'पेन्टर' और 'कारीगर'—दो पात्रों के वार्तालाप के माध्यम से वर्ग-संघर्ष और कलाकार की सार्थकता की यथार्थ स्तर पर स्पष्ट व्यंजना की है। जब कारीगर निराश स्वर में पेन्टर से कहता है कि हमारी अभिलाषाएँ अन्धी हैं क्योंकि ऊपर के सभी कमरे उसके लिए बन्द हो गए हैं। इसी बीच जमाना नगर से कहता है–'गलत है यह भ्रम है, हमारा अधिकार सम्मिलित श्रम और छीनने का दम है।'' यह माना कि यह भावना मार्क्सीय चिन्तना पर आधारित वर्ग-संघर्ष के मूल सिद्धांत के मेल में है। ऐसी स्थिति में शोपित वर्ग के पेण्टर और कारीगर कहते हैं कि 'फिलहाल तस्वीरें हम इस समय नहीं लगा पायेंगे, अलबत्ता पोस्टर हम लगा जाएँगे।' स्पष्ट ही वर्गसंघर्ष और क्रान्ति भावना इस कविता में गहरे तक व्याप्त है। 'अँधेरे में' कविता भी अनेक स्थलों पर वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति भावना को स्पष्ट करती है। 'मार्शलला' प्रोसेशन, आन्दोलनों के जत्थों का जो वर्णन इस कविता में किया गया है वह क्रान्तिधर्मी कवि-दृष्टि का ही निरूपक है। कवितांत में जिस सक्रिय जत्थे का चित्रण है उसमें शामिल लोग न केवल क्रोधाविष्ट हैं, अपितु उनकी मुट्ठियाँ बँधी है, रक्त-प्लावन का लाल प्रकाश है। कोई काव्य नायक को एक एर्चा थमा जाता है जो गुप्त संगठित शक्ति का प्रतीक है। जनक्रान्ति के कारण सारा नगर आग की लपटों में जल रहा है और—

'नगर से भयानक धुँआ उठ रहा है,
कहीं आग लग, गई कहीं गोली चल गयी।
सड़कों पर मरा हुआ फैला है सुनसान
हवाओं में अदृश्य ज्वाला की गरमी
गरमी का का आवेग······'[1]

जाहिर है कि मुक्तिबोध के काव्य में वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति-चेतना का स्वर काफी गहरा है। जगदीश कुमार ने ठीक ही टिप्पणी दी है : 'मुक्तिबोध की विश्व दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है और जीवनादर्श है सामाजिक आर्थिक परिवर्तन और उसकी वाहक जनक्रान्ति। इसी आदर्श के अनुकूल उनका काव्य जनचरित्री और रक्तप्लावित है।'[2]

8. छद्म आधुनिकीकरण और विसंगतियाँ :

वर्तमान समाज जिस आधुनिकता के दौर से गुजर रहा है या जैसा मुक्ति बोध ने उसे देखा था वह छद्म आधुनिकता का सैलाव मात्र था। वे इस बात से

1. चाँद का मुँह टेढा है : पृष्ठ 310
2. जगदीश कुमार : नयी कविता की चेतना पृष्ठ : 76

काफी चुभन महसूस करते करते थे कि वर्तमान समाज स्वार्थ, आडम्बर, अवसर-वादिता और कृत्रिमता की बैसाखियों के सहारे जी रहा है। उन्हें इस बात से खासी तकलीफ होती थी कि अनुभवी, विद्वान और शक्तिशाली होकर भी आदमी ने अपने ईमान के विरुद्ध चलने की क्यों ठानली है? वह 'भूल-गलती, का क्रीतदास क्यों हो गया है? वह उन्हें ही जीवन की सूत्रधारिणी शक्तियाँ क्यों मान बैठा है? और अपने ईमान को निर्वासित करके क्यों जी रहा है? अवसरवादिता छद्म आधुनिकता है। उन्होंने लिखा भी है: "आज शिक्षित मध्यवर्ग में जो स्वहित, स्वार्थ, स्व कल्याण की दौड़ मची हुई है, 'मारो-खाओ', 'हाथ मत आओ' का जो सिद्धांत सक्रिय हो उठा है, उसके कारण कवियों का ध्यान केवल निजमन पर ही केन्द्रित हो जाता है।'[1] 'भूल गलती', 'अँधेरे में' जैसी कविताएँ इस कथन को प्रमाणित कर सकती है। आज ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो आधुनिकता का कवच पहनकर अपने को जन-संघर्ष से अलगा रहे हैं और समाजव्यापी भीषण गरीबी, भूख, दमन, अन्याय से अपना दामन छुड़ाकर अपने अपने दायरों में कैद हो गए हैं। इनकी प्रति-बद्धता किसी के प्रति नहीं है। मुक्तिबोध ने एक चेतन कवि की हैसियत से सामान्य-जन की पीड़ा-कथा और विषमता को काव्यबद्ध ही नहीं किया है, अपितु उससे गहरे जुड़े भी हैं। वर्तमान सभ्यता की विसंगतियों और विरूपताओं से परिचित होने के कारण ही मुक्तिबोध ने छद्म् आधुनिकता पर आक्रमण किया है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है। शीर्षक ही इस आक्रमण-भावना को व्यक्त करता है। हमारा सारा साँस्कृतिक बोध हिल जाता है। 'चाँद और चाँदनी' के वर्णन के बहाने कवि ने जिस परिवेश को उजागर किया है, वह न केवल भयद, सन्नाटे युक्त और सख्त है, अपितु उसमें जी रहा समाज भी विकृत, गलित और विद्रूप है। 'डूबता चाँद कब डूबेगा' कविता भी 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता का ही पल्लवन है। इसमें भी मानव की दानवी और विकृत आत्मा के अनेक 'स्केचेज' हैं जो छद्म् आधुनिकता व जीवनगत विसंगतियों को उभारते हैं।

इसी क्रम में 'बारह बजे रात' शीर्षक से लिखित कविता को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इसमें राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले शोषण भ्रष्टा-चार को निरूपित किया गया है। इसमें आया 'चाँद' बादशाहतया अँग्रेज साम्राज्य-वादियों का प्रतीक है। इस प्रतीक से कवि ने यूरोपीय सभ्यता की अन्ध-अनुकरण वृत्ति, विलासी दृष्टि और विकृत मूल्यों की अर्थहीनता को भी उभारा है। नागरिक सभ्यता के खोखलेपन और ग्रामीण-संस्कृति की अर्थवत्ता दोनों को मुक्तिबोध ने

---

1. मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ 35-36

'मुझे याद आते हैं' कविता में आमने-सामने रख कर प्रस्तुत किया है। नगर को अयथार्थ बताकर कवि ने यह भी साफ कह दिया है कि इन नगरवासियों की सभ्यता बनावटी है, आवरण युक्त है। अतः विसंगत ही विसंगत है। तभी तो ये लोग उसे छिपाने का यत्न करते हैं

पाउडर में सफेद अथवा गुलाबी
छिपे बड़े बड़े चेचक के दाग मुझे दीखते हैं
सभ्यता के चेहरे पर
संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के
अन्दर का वासी वह
नग्न अति बर्बर देह
सूखा हुआ रोगीला पंजर मुझे दीखता है।[1]

मुक्तिबोध की कविताओं में छद्म आधुनिकता और तत्प्रसूत विसंगतियों का त्रासद शैली में भी अंकन हुआ है और व्यंग्य शैली में भी। उनका व्यंग्य भीतर तक छील जाता है। कहीं तो पूंजीवादी व्यवस्था पर व्यंग्य है, कहीं आधुनिक सभ्यता-संस्कृति पर व्यंग्य है और कहीं मानव की विगलित-विकृत चेतना पर जो मानवीय मूल्यों की स्वस्थता की बलि देकर विकसित हो रही है। आधुनिक सभ्यता उनकी दृष्टि में विगलित है—'आधुनिक सभ्यता के वन में व्यक्तित्व वृक्ष सुविधावादी' है। यही सुविधावाद मुक्तिबोध के व्यंग्य का निशाना बना है। 'भूल गलती', 'एक अन्त-र्कक्षा' 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' 'डूबता चाँद कब डूबेगा' और 'अन्धेरे में' कविताओं में कवि ने छद्म आधुनिकता और जीवन की विसंगतियों को व्यंग्य शैली में उद्घाटित किया है। सुविधावादी होने की विवशता की व्यंजना भी ओढ़ी हुई आधुनिकता ही है। टोकरी उठाकर चलने को फैशन के विपरीत मानने वाले काव्यनायक को कवि व्यंग्य से आहत भी करता है।

समकालीन जीवन की बढ़ती हुई विभीषिकाओं और विसंगतियों को कवि ने तीखी-गहरी नजर से देखा था और कहा था— आज के अभाव के व कल के उप-वास के/व परसों की मृत्यु के/दैन्य के महा अपमान के, व क्षोभपूर्ण/भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का दीखता पहाड़ स्याह'/[2] वे अनुभव कर रहे थे कि स्वार्थ, अव-सरवादिता और कृत्रिम मूल्यों के निरन्तर फैलते जाने के कारण मानव जीवन

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 79
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 76

विसंगतियों का पुंज बनता जा रहा है। स्वार्थान्धता के कारण मनुष्य करुणाविहीन भी हो गये हैं। ऐसे करुणाविहीन लोगों पर तीखा व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा था—

> लो-हित-पिता को घर से निकाल दिया
> जन-मन करुणा सी माँ को हँकाल दिया
> स्वार्थों के रगरियार कुत्तों को पाल लिया
> विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में[1]

इतना ही क्यों क्षुद्र स्वार्थों के लिए अपनी आत्मा को बेचने वालों को देखकर तो मुक्तिबोध ने साफ ज़ुबान में कहा था—'उदरंभरि अनात्म बन गए/भूतों की शादी में कनात से तन गए/किसी व्यभिचारी के बन गए बिस्तर'/[2] रक्तशोषी पूंजी-पति वर्ग के क्रीतदासों पर भी कवि ने चुभन भरी शैली में व्यंग्य किया है। 'अँधेरे में' कविता में कवि ने लिखा है—

> सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
> चिन्तक, शिल्पकार नर्तक चुप हैं
> उनके ख्याल से यह सब गप है
> मात्र किंवदन्ती।
> रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध थे सब लोग
> नपुंसंग भोग शिरा जालों में उलझे।
> बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास
> किराये के विचारों का उद्भास ॥[3]

कहना यही है कि मुक्तिबोध की कविता हमारे आस-पास फैले जटिल, स्याह सफेद परिवेश की प्रतिकृति है। कवि की तीखी और गहरी दृष्टि से कुछ भी छिप नहीं सका है। सबका सब उजागर होता गया है। इस तरह मुक्तिबोध ने अपनी चेतन प्रज्ञा से छद्म आधुनिकता और जीवन-व्यापी कटुता तिक्तता और विसंगतियों को व्यंग्य शैली में ढालकर प्रस्तुत किया है।

9. सत् चित वेदना :

मुक्तिबोध का काव्य सत् चित् वेदना का काव्य है। उन्होंने जीवन में अनेक

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 277-78
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 277
3. चाँद का मुँह टेढ़ा है: पृ. 311

त्रासदियाँ देखी थी। वे दिक्काल के भयावह जुलूस देखते-देखते थक गये थे। वे मानने लगे थे कि जीवन में 'मान महत्ता की निराकार केवलता' एक अँधेरे में डूबने के कारण अनपहचान हो गई है। अतः जीवन का नाता करुणा और वेदना से ही हो सकती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्तिबोध सत् के प्रसार में रुचि नहीं लेते थे; बल्कि यही है कि वेदना का सत् पक्ष भी जीवन का नियामक पक्ष हो सकता है बशर्ते हम उस वेदना को निष्क्रियता की भूमिका पर न देखें। मुक्तिबोध जीवन के जंगल में "अनुभव के नये-नये गिरियों के ढालों पर वेदना झरने के पहली बार देखे से जलतल में" ज्ञान मणि की तलाश करते रहते हैं। विद्यानिवास मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि "मुक्तिबोध मसीही चेतना के कवि नहीं है, दुख उनके लिए प्रसाधन नहीं है, जीवन है। वे दुख के सहारे नहीं दुख में जीने वाले कवि हैं। दुख भी उनके लिए सत्य है। इसलिए कि इस दुख को समझने वाले वे अकेले चाहे हों, भोगने वाले अकेले नहीं हैं।"[1] वस्तुत. मुक्तिबोध को मसीही तटस्थ दुखवादी दर्शन से गहरा असंतोष रहा है। उनका वेदना बोध न केवल गहरा है, अपितु व्यापक भी है। यही कारण है कि वे अपनी आत्मा में सत्-चित् वेदना को जलती हुई महसूस करते हैं—

पैरों से महसूस करता हूँ धरती का फैलाव
हाथों से महसूस करता हूँ दुनियाँ
मस्तक अनुभव करता है आकाश
दिल में तड़फता है अँधेरे का अन्दाज
आत्मा में भीषण
सत्-चित् वेदना जल उठी, दहकी"[2]

मुक्तिबोध के काव्य में जिस वेदना को रूपाकार मिला है वह मात्र दुख की साश्विन नहीं है; वह तो दुख के कारण को भी अपने साथ लिए हुए है। कारण; उनका वेदना बोध 'अपनी' दस्यु रूप आकृति को स्वीकार करके ही पूरेपन का अनुभव नहीं करता है; अपितु वह तो उस समस्त प्रक्रिया से भी जुड़ा है या जुड़ा हुआ है जिससे यह 'दस्यु रूप आकृति' निर्मित हुई है। मुक्तिबोध ने अपनी वेदना को सत्-चित् वेदना कहा ही इसलिए है कि वे सारे जहान की मुसीबतों, त्रासदियों और विसंगतियों व विडम्बनाओं को अपने भीतर घटित होते देखते महसूस करते रहे। उन्होंने अपने को दुनियाँ में नहीं खपाया; अपितु दुनियाँ को अपने भीतर निचुड़ता देखा था। यही वजह है कि मुक्तिबोध ने सच्चाइयों का गला नहीं घोंटा; अपने दाहक से दाहकतम अनुभवों को छिपाया नहीं, अपितु बेलाग और बेपर्द शैली में कह

1. विद्यानिवास मिश्र : राष्ट्रवाणी मुक्तिबोध विशेषांक पृष्ठ 326
2. चांद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 267

दिया। यह गवाही है इस बात की कि मुक्तिबोध की वेदनानुभूति न तो नकली है, न निस्तेज करने वाली और न आरोपित ही है। इसी वेदना की व्यापकता के कारण वे सारे के सारे खतरे भी मोल लेने को तैयार रहे। वेदना उनकी शक्ति है—प्रेरिका है। अतः वे घबराते नहीं हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं—

जितना मैं लोगों की पाँतों को पार कर
बढ़ता हूँ आगे
उतना ही पीछे मैं रहता हूँ अकेला
पश्चात् पद हूँ....
मेरे ही विक्षोभमणियों के लिए वे
मेरे ही विवेक रत्नों को लेकर
बढ़ रहे लोग अँधेरे में सोत्साह
किन्तु मैं अकेला[1]

अपने इस अकेलेपन में भी "उनकी वेदना कुंठा नहीं है, विफलता नहीं है। उनकी वेदना परिणति है। वे 'वर्तमान समाज में चल नहीं सकते' की व्यथा को झेलकर किराये के विचारों के उप्रास से और नपुंसक श्रद्धा की गटर में छिपने वाली त्रास भावना से गुजर कर 'अर्थों की वेदना' के घावों के आसपास 'आत्मा में चमकीलीप्यास' मरने वाले कवि हैं।"[2] उनका कवि सत्य तो यह है—

तन्तिरंगीय वही गतिमयता
अत्यन्त उद्विग्न ज्ञान तनाव वह
सकर्मक प्रेम की वह अतिशयता
वही फटेहाल रूप !![3]

वास्तविकता यह है कि मुक्तिबोध का वेदना हृदय में प्राकृतिक रूप लेकर जल रही है। उसमें बाह्य और भीतर के संघर्ष से पैदा होने वाली आग है जिससे जीवन-शतदल भी खिलता है और ज्ञान वर्धन भी होता है। यही वह वेदना है जो नीचे से ऊपर की ओर उठी है तभी तो कवि इस वेदना-रथ पर सवार होकर अन्तर्बाह्य के संघर्षों से मुक्ति पाने की कामना करता है। 'मुक्तिबोध' का जीवन विषमता और संघर्षों की बैसाखियों के सहारे बीता। फलतः उन्होंने पीड़ा, वेदना और अन्तर्दाह को न केवल जाना अपितु स्वयं भोगा और काव्य की पंक्तियों में अभिव्यक्त किया। उनकी पीड़ा जहाँ एक ओर जीवन व्यापी विसंगतियों और

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 307
2. विद्यानिवास मिश्र : राष्ट्रवादी मुक्तिबोध विशेषांक पृष्ठ 326
3. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 317

विकृतियों से उत्पन्न है वहीं दूसरी ओर उनके मन में पले स्वप्न की विफलता है जिसके तहत वे जनजीवन को निर्माणकारी एवं आस्थामयी शक्तियों से जोड़ना चाहते थे। जब यह सम्भव न हुआ तो उनके काव्य में पीड़ित मन की बेचैनियाँ अन्तर्दाह का रूप लेकर आई। 'तारसप्तक' के पृष्ठों में उनकी स्वीकारोक्ति भी है : मेरी ये कविताएँ अपना पथ ढूंढने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं।" ध्यान देने की बात यह है कि मुक्तिबोध के काव्य में अभिव्यक्त वेदना स्वानुभूत है, उधार ली हुई नहीं। अतः उसमें खरापन है और वह जीवनानुभूतियों पर आधारित होने के कारण दमदार और यथार्थ है। डॉ जोगलेकर ने राष्ट्रवाणी के मुक्तिबोध श्रृद्धांजलि अंक में उनकी अन्तर्वेदना को स्वानुभूत सत्यों पर आधारित होने के कारण कहा है ; उपेक्षित पददलितों और शोषितों का कष्टमय जीवन कितना वेदनापूर्ण होता है, इसका अनुभव स्वयं मुक्तिबोध ने किया था। इसलिए उनकी कविताओं में केवल मौखिक सहानुभूति मात्र अभिव्यक्त नहीं हुई है। कवि का जीवन अपने जन सम्पर्क से और यथार्थवाद की भीषण हृदय विदारक परिस्थिति से और विषमता के दारुण प्रहारों से ममहित अवश्य हुआ है।" कहने का तात्पर्य यह है कि मानव जीवन की वास्तविकताओं की जमीन पर खड़े होकर मुक्तिबोध का मानस जिस पीड़ा, जलन और अन्तर्वेदना को भोगता हुआ अपने से जूझता रहा है उसकी तमाम छटपटाहट, बेचैनी और अन्तर्वेदना उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में इसी छटपटाहट की ध्वनि को सुना जा सकता है :

"ओ, संवेदनमय ज्ञान-नाग
कुण्डलीमार तुम दबा रखो
तुम छिपा चलो जो कुछ तुम हो
यह काल तुम्हारा नहीं।"[1]

इतना ही क्यों कवि के मन की भयद अनुभूतियों; संत्रस्त स्थितियों और दाहक भूमियों की आग से तप्त ये पंक्तियाँ भी देखिये जिनमें 'डूबता चाँद कब डूबेगा' कविता का कवि मुक्तिबोध अपनी अन्तर्वेदना को यों बिम्बित करता है :

"अँधियारे मैदानों के इन सुनसानों में—
बिल्ली की, बाघों की आँखें-सी चमक रहीं
ये राग-द्वेष ईर्ष्या-भय-मत्सर की आँखें
हरिया तूता की जहरीली नीली-नीली
ज्वाला कुत्सा की आँखों में।"[2]

---

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 130
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 46

स्वयं भी मुक्तिबोध ने अपनी अन्तः संघर्षी वेदना को सत्-चित्-वेदना कहा है। वे अपने मानस में इसी वेदना का अनुभव करते हैं और उसे जलती हुई अनुभव करते हैं : "क्या कहूँ मस्तक कुंड में जलती सत्-चित् वेदना-सचाई व गलती-मस्तक शिराओं में तनाव दिन रात।" ध्यान से देखें तो यह वेदना ही मुक्तिबोध की शक्ति है। यह ठीक है कि उसमें अशक्तता और लड़खड़ाहट का भाव भी करुणा से मिलकर काफी गहरा गया है किन्तु यही उसे ठोस आस्था से भी जोड़े हुए है : "कमजोर घुटनों को बार-बार मसल, लड़खड़ाता हुआ मैं बढ़ता हूँ आगे पैरों से महसूस करता हूँ धरती का फैलाव।" वस्तुतः मुक्तिबोध की वेदना में नर की व्यथा-कथा नारायण की हो गई है। परिणामतः यह वेदना कुंठा, निराशा और निष्क्रियता को जन्म देने के बदले संकल्प-शक्ति को विकसित करती प्रतीत होती है। कवि की यह वेदना मानवन्याय संवेदन' है जो हृदय में प्राकृतिक रूप में दहक रही है। यह मन और आत्मा के चकमक पत्थर को रगड़कर आग पैदा करती है, 'जीवन-स्वप्न चमकाती है' और 'ज्ञान तड़पाती है।' इस वेदना ने कवि को व्यक्तित्वांतरित कर दिया है और दूसरी 'अधूरी दीर्घ कविता' को 'आवेगत्वरित कालयात्री' तथा 'आगमिष्यत् की गहन गम्भीर छाया' बना डाला है। कवि की यह वेदना आत्मदान की व्यर्थता की नहीं आत्मदान की अपचेष्टता की वेदना है[1] 'जितना भी किया गया/उससे ज्यादा कर सकते थे ज्यादा कर सकते थे/"

10 आस्था और जिजीविषा :

अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर चलते हुए मुक्तिबोध ने प्रायः पैरों के तलवों को काटती आग को, कंधों को दबोचती बोझिल स्थितियों को मानसिक यातना भोगती जिन्दगी को जाना, जिया और भोगा था। वेदना के गहन-सघन कांतार में प्रवेश करके जिन्दगी की तहों में प्रवेश किया था किन्तु इतने पर भी एक आस्था, एक जिजीविषा और एक भविष्यधर्मी दृष्टि उनके पास हमेशा रही। इसी दृष्टि और इसी आस्था के बल पर मुक्तिबोध कह सके हैं :

> "कोशिश करो
> कोशिश करो
> जीने की/जमीन में गढ़कर भी।"[2]

संघर्षकान्त मानव के चित्र मुक्तिबोध ने प्रस्तुत अवश्य किये हैं किन्तु वे निराश-हताश कभी नहीं हुए। कारण; निरंतर वे उस चेहरे की तलाश में लग रहे

---

1. विद्यानिवास मिश्र : राष्ट्रवाणी मुक्तिबोध विशेषांक पृष्ठ 326
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 64-65

जो आधुनिक सभ्यता और संत्रस्त जिन्दगी की कड़ी परतों के नीचे दब गया है। उन्होंने यह समझा जरूर कि 'शून्य से घिरी पीड़ा' ही सत्य है, दुखों का क्रम ही सत्य है शेष सब अवास्तव है—मिथ्या है. किन्तु इस पीड़ा से इस दर्द से छटपटाते हुए भी वे अपनी आस्था को कायम रख सके। भविष्य के प्रति आस्था - सद्योजात नव-युग के शिशु की आँखों में तैरती-खिलती स्वप्न कथा मुक्तिबोध की चेतना से कभी गायब नहीं हुई। उनकी आस्था अखण्ड है, जिजीविषा अनवरत और अदम्य है। वर्तमान परिवेश की भयावहता की सियाही के अँधेरे में डूबी हर आलोक किरण और हर मुरझाये पुष्प की गंध को पुनः पाने की ललक मुक्तिबोध को आस्था और जिजीविषा से जोड़े रही है। 'अँधेरे में', 'ओ काव्यात्मक फणिधर' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की अनेक कविताओं में यही आस्था पुंज विकीरित हो रहा है। कवि जब लिखता है कि "वह शिशु चला गया, जाने कहाँ/और अब उसके ही स्थान पर/मात्र हैं सूरजमुखी फूलों के गुच्छे/उन स्वर्ण-पुष्पों से प्रकाश विकीरण/कंधों पर, सिर पर, गालों पर तन पर"/तो वह आस्थावलयित प्रतीत होता है। उसे गहरा विश्वास है कि एक दिन युग का अंधकार अवश्य मिटेगा—तमस् की अर्गलाएँ अवश्य टूटेंगी और तब कई अनागत पास आकर मन में जिजीविषा और आस्था की दीप प्रज्ज्वलित कर सकेंगे। असल में मुक्तिबोध तो 'सुबह होगी कब और मुश्किल होगी दूर कब' के आकांक्षी थे। वे तो मानव-भविष्य के प्रति सतर्क और चिन्तित थे। उसके सर्वांगीण विकास के इच्छुक थे। यह ठीक है कि उन्होंने मानव और उसके अन्तःकरण को पक्षाघात-ग्रस्त देखा था किन्तु वे यह कभी नहीं मान पाये कि वह मिट गया है। वे नाउम्मीद कभी नहीं हुए। उन्हें विश्वास था कि इस अर्धमृत मानव की चेतना को पुनः जगाया जा सकता है, उसे जीवनी-शक्ति से जोड़ा जा सकता है। 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' कविता की जमीन यही है। इस कविता में मुक्तिबोध ने जिससे पुराने मकान के धराशायी होने का संदर्भ प्रस्तुत किया है वह हमारी समस्त सांस्कृतिक उपलब्धियों, पारंपरिक मान्यताओं और धारणाओं व आस्थाओं और विश्वासों का ढहा मकान है। मुक्तिबोध का आग्रह है कि हमें इसके मलबे तले दबना नहीं है, उबरना है। जमीन में गढ़कर जीने की कामना का उल्लेख कवि की जिजीविषा को ही रेखांकित करता है। उसकी आस्था का स्वर इन पंक्तियों में उभर आया है :

> "जमीन में गड़े हुए देहों की खाक से
> शरीर की मिट्टी से, धूल से
> खिलेंगे गुलाबी फूल।"[1]

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : वही पृष्ठ 66

मुक्तिबोध के आस्थावाद में ही उनकी मानवतावादी दृष्टि निहित है। उनका मानवतावाद माना सहानुभूति तक सीमित नहीं है। वह तो मानव-मुक्ति तक फैल गया है। प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करने वाले मुक्तिबोध न तो कभी हारे, न थके न कभी निराश ही हुए। कारण; उनके अंतस में एक ऐसी अतम्यता थी उन्हें निरन्तर तलाशती रही। इसी से न तो वे कभी टूटे और न कभी समझौता पसंद बन पाये। वे तो एक ऐसे हिम्मतवार रचनाकार थे जो लड़ते-लड़ते कभी थके नहीं और जिन्होंने सदैव अपने ईश्वर पर विश्वास किया—स्नेह किया। मुक्तिबोध ने अपनी भष्यावस्था के संबंध में स्वयं भी संकेत दिया है। जिन्होंने लिखा है कि "वास्तविक जीवन में अपनी कायरता, साहसहीनता, अकर्मण्यता त्याग कर समाज में फैले अवसरवाद से मोर्चा लेते हुए मानवीय समस्याओं से दुखाभिभूत और करुणापन्न होकर उसे वास्तविक मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों के मार्ग पर चलना ही होगा। हो सकता है कि इस स्थिति में वह मर जाये और उसके नाम से रोने वाला भी कोई न हो लेकिन कुछ लोगों को इस तरह जमीन में गड़ना होगा ही। इस तैयारी के साथ, इस दम के साथ, यदि हमारा नया कवि मूल्य व्यवस्था विकसित करते हुए मानव-समस्या चित्रित करता है तो निसंदेह वह युग-परिवर्तन करने का श्रेय भागी होगा—भले ही उसे श्रेय मिले या न मिले।"[1] 'एक अन्तर्कथा' शीर्षक से लिखित कविता में मुक्तिबोध ने एक श्रमशील नारी के मातृत्व रूप को आस्था—सकर्मक आस्था के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है तभी तो वह नारि अपने माँ रूप में हताश और समझौतापरस्त नायक को श्रम का संदेश देती हुई आस्थामयी जिजीविषा का पाठ पढ़ाती है। उसका यह कथन तो देखिए जिसमें ज्ञानात्मक संवेदन के सहारे जिजीविषा को वाणी दी गई है : "चल इधर बीन सूखी टहनी, सूखी डालें, भूरे डंठल, पहचान अग्नि के अधिष्ठान, जा पहुँच स्वयं के मित्रों में, कर अग्नि-भिक्षा, लोगों से पड़ौसियों से मिल, चिलचिला रहीं सड़कें, व धूल है चेहरे पर, चिलचिला रहा बेशर्म दलिद्दर भीतर का, पर सेमल का ऊंचा-ऊंचा वह पेड़ रूचिर, सम्पन्न लाल फूलों को लेकरे खड़ा हुआ, शक्तियाँ प्रकाशित करता-सा वह गहन प्रेम, उसका कपास रेशम-कोमल, मैं उसे देख जीवन पर मुग्ध हो रहा।"[2]

मुक्तिबोध के काव्य में आस्था का स्वर मिलता है वह जनवादी चेतना के प्रति व्यक्त आस्था से युक्त जिजीविषा का स्वर है। वस्तुतः कवि की आस्था जनवादी शक्तियों के प्रति उन्मुख है। इसी से शक्ति पाकर उसकी व्यक्तिमत्ता सफलता के सोपानों की ओर दृढ़ता से कदम बढ़ा सकी है। मुक्तिबोध जन की शक्ति के प्रति

2. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध : पृष्ठ 37
2. चाँद का मुंह टेढ़ा है :पृष्ठ 123-124

पूरी तरह आस्थावान थे, तभी तो उनकी हरेक कविता अपने अन्तिम भाग में एक सुखद चेतना-भविष्यधर्मी आस्था युक्त जिजीविषा से समाप्त हुई है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' कविता के अन्तिम शब्दों में जब कि कवि की प्रश्निल मुद्रा सामने आती है कि 'सुबह होगी कब' तो उसका यह आस्थावादी अन्तर भी तुरन्त सामने आ जाता है : ',समय का कण-कण गगन की कालिमा से। बूंद-बूंद चू रहा। तड़ित उजाला-पन।''[1] कवि की यह अदम्य आस्था ही उसे संघर्ष के लिए शक्ति संगठित करने की प्रेरणा देती है। मुक्तिबोध की कविता उन्हीं के शब्दों में 'कल होने वाली घटनाओं की कविता' है। उनका यह कथन भी उन्हें आस्थावादी प्रमाणित करता है। उनका विश्वास इतना गहरा है कि वे संघर्षजनित श्रम से ही सामाजिक उन्नयन का सपना देखते है। 'फैन्टेसी' के शिल्प का सहारा लेकर मुक्तिबोध ने यदि किसी कविता में निराशा और कुंठा को वाणी दी है तो इसलिए नहीं कि वे निराश हैं; अपितु इसीलिए कि वे उस निराशा के कुहासे को अपनी सक्रियता से दूर करके उस अरुण-कमल को देखना चाहते हैं जो जीवन को जीवन बनाये रखने की शक्ति देता है। 'प्रश्नचिह्न बौखला उठे' और एक स्वप्नकथा' जैसी कविताओं में भी कवि की आस्था ही व्यंजित है। 'एक स्वप्न-कथा' के अंत में वे लिख गये हैं :

'वह जहाज
क्षोभ विद्रोह भरे संगठित विरोध का
साहसी समाज है—
भीतर व बाहर के पूरे दलिद्दर से
मुक्ति की तलाश में
आगामी कल नहीं
आगत वह आज है।''[2]

निश्चय ही मुक्तिबोध तमाम संघर्षों, पीड़ाओं और त्रासद स्थितियों को झेलते हैं, किन्तु उनके आगे वे घुटने नहीं टेकते हैं; अपितु पूरी ताकत और आस्थावलयित जिजीविषा के साथ आगे बढ़ते हैं; पैरों से धरती का फैलाव महसूस करते हैं और हाथों से महसूस करते हैं दुनियाँ। 'अंधेरे में' कविता में भी इसी आस्था की लौ का प्रकाश है : ''कमरे में सुबह की धूप आ गयी है। गैलेरी में फैला है सुनहला रवि छोर।''....और तब कहीं देखने मिलेंगी बाहें। जिसमें कि प्रतिपल कांपता रहता।

3. चांद का मुंह टेढ़ा है : पृष्ठ 45
4. चांद का मुंह टेढ़ा है : पृष्ठ 200

अरुण कमल एक/जे जाने जिसको धँसना ही होगा/झील के हिम-शीत सुनील जल में/चाँद उग आया है/" इतना ही नहीं कवि की आस्था इतनी गहरी है कि उसे अंधकार में भी एक आलोक-किरण दिखाई देती है और दिशाएँ उजला आँचल पसारे दिखाई देती हैं। परिणामतः वह महसूस करता है कि "कुछ पलों बाद हिये में प्रकाश सा होता है......./रास्ते पर रात होते हुए भी मन में प्रात/नहा सा मैं उठता भव्य किसी नव-स्फूर्ति से" तो कभी दूर-दूर मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों में सुनहले चिराग बल उठते हैं/"[1]

11. लोकहितवादी चेतना

'मुक्तिबोध' ने जिन्दगी के वैविध्य, सभ्यता की नकाव ओढ़े समाज, डरावने जीवन, जीवन व्यापी शून्यता और संत्रस्त जिन्दगी को ऐसे कोण से देखा था जिससे उसका सारा नक्शा उनके मन में था। यही नक्शा विविध संदर्भों में विविध प्रतीकों और बिम्बों में बद्ध होकर कविताओं में बोलता नजर आता है। एक लुटती और पिटती हुई जिन्दगी का मानचित्र मुक्तिबोध की कविताओं में है और सही बात यह है कि यह भारत के एक हिस्से का; बड़े हिस्से का असली मानचित्र है। प्रश्न है मुक्तिबोध द्वारा खींचे गये इस नक्शे के पीछे उनकी कौनसी भावना काम कर रही है ? मैं समझता हूं वह लोकहितवादी चेतना ही है। यह चेतना उनकी आत्मा के आयतन में कहीं गहरे समाई हुई है। वे सार्वजनिक वेदना व साधारण की पीड़ाओं को नजरन्दाज कर ही नहीं सकते थे। इसीलिए नित्य सूखे डंठल, सूखी डालें, टहनियाँ खोजती हुई और सभ्यता के जंगल में अग्नि के काष्ठ खोजने वाली आत्मा माँ—जीवंत कवि की आस्था है—लोकहितवादी चेतना की ही अभिव्यक्ति है। वह किसी लोकोत्तर सत्य को टोह रही है। "द्वन्द्वात्मक संघर्षमयी स्थिति में पिरोई हुई प्रगतिमान प्रक्रिया के संश्लिष्ट रूप की अभिव्यक्ति ही वह माँ है। यही मुक्तिबोध की आस्था है।' उनकी यह आस्था गुट से अलग, सम्प्रदाय से कटी हुई एक जीवंत आस्था है। लोकहितवादी चेतना की अच्छी अभिव्यक्ति 'मुझे याद आते हैं' 'चकमक की चिनगारियाँ', 'डूबता चाँद कब डूबेगा' और एक अन्तर्कथा आदि कविताओं में हुई है। लकड़ी बीनती, गर्म भार से झुकी होकर भी गृहस्थी चलाने के लिये कपड़े धोती, मजदूरी करती, 'मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों में रहने वाले, लट्ठधारी बूढ़े पटेल बाबा, किसान दादा, दाढ़ी-धारी देहाती मुसलमान चाचा और बोझा उठाये आती-जाती माएँ बहनों, बेटियों और झरने के किनारे पर सद्यजात शिशु को छोड़कर जाने वाली स्त्रियों की जो प्रतिमाएँ इस संकलन में मिलती हैं, उनके पीछे

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 80-81.

कवि की कल्याण कामना का ही प्रसार दिखाई देता है। एक कविता का यह अंश देखिये और उस अनुमान को सच्चाई में बदल डालिये कि आधुनिक सभ्यता सकट की प्रतीक रेखा है—

> नीचे उतरो, खुरदरा अँधेरा सभी ओर
> वह बड़ा तना, मोटी डालें,
> अधजले फिंके कण्डे व राख
> नीचे तल में।
>
> वह पागल युवती सोयी है
> मैली दरिद्र स्त्री ग्रस्त व्यस्त—
> उसके बिखरे हैं बाल व स्तन लटका-सा
> अनगिनत वासना-ग्रस्तों का मन अटका था।
>
> उनमें जो उच्छृंखल था, विश्रृंखल भी था,
> उसने काले पल में इस स्त्री को गर्भ दिया।
> शोषिता व व्यभिचरिता आत्मा को पुत्र हुआ
> स्तन मुँह में डाल, मरा बालक। उसकी झाँई,
> अब तक लेटी है पास उसी की परछाईं॥
>
> ....
>
> उसको मैंने सपनों में कई बार देखा॥
> जीने के पहले मरे समस्याओं के हल॥
> ओ नागराज ! चुपचाप यहाँ से चल॥[1]

'मुझे याद आते हैं' कविता में कितनी ही ऐसी स्थितियों का अंकन है जिसमें आधुनिक सभ्यता का पर्दाफाश' किया गया है। 'पर्दाफाश' करने वाला और कोई नहीं वही 'अन्वेषक सहचर' है। वह देखता है कि सभ्यता के चेहरे पर पुते पाउडर की पर्तों के भीतर नग्न, बर्बर देह और रोगीला पंजर है और शोषण की सभ्यता के नियमानुसार बनी संस्कृति के तिलस्मी सियाह चक्रव्यूहों में फँसे मानव के प्राण छटपटा रहे हैं। इतना ही नहीं उन्हें तो सुबह से शाम तक भयंकर दुःस्वप्न के रूप में मनुष्य का वह रूप भी दिखाई देता है—जो निजी कारणों से कम आत्मघाती प्रवृत्तियों से ज्यादा सम्बद्ध है। मानवीय संकट को वे परिस्थितियों का दबाव मानकर चले और संकट के बोध को परिवेश का दबाव स्वीकारा-ऐसा दबाव जिसने वर्तमान को खा लिया है—

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 135.

"आज के अभाव के व कल के उपवास के
व परसों की मृत्यु के........
दैन्य के, महाअपमान के व क्षोभपूर्ण
भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का
दीखता
पहाड़ स्याह" ।[1]

मुक्तिबोध की यही लोकहितवादी चेतना उन्हें मानवतावाद से जोड़ती है। उनके मानवतावाद में मानव के सुख-दुःख, प्रताड़ना-उत्पीड़न और विविध मानवीय संवेदन आकार पा सके हैं। उनका संवेदनशील मन मात्र ग्लानि में डूबकर नहीं रह गया है; अपितु वह तो समस्त मानवता का हित चिंतक बनकर यह कहता है कि 'मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में सभी मानव सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त कब होंगे ?"

12. रागात्मक संवेदन और ज्ञानात्मक संवेदन :

मुक्तिबोध का काव्य संसार अधिकांशतः दहशत भरा है। उसमें भयावहता, व्यथा, अन्तर्व्यथा, संघर्ष अन्त.संघर्ष; यथार्थ और व्यवस्था के प्रति यथार्थ विद्रोह है तो, किन्तु आस्था के धरातल पर। ऐसे मुक्तिबोध की कुछ कविताएँ जिन्दगी की राग-भावना से भी स्पर्शित हैं; हाँ स्पर्शित ही कहूँगा। जिन कविताओं में रागात्मक संवेदन है वे न तो जटिल हैं; न लम्बी और न अन्तःसंघर्ष से बोझिल ही हैं। ये कवि हृदय में उद्वेलित राग-भावना के सिंधु में उठती हुई स्वच्छ, निर्मल और भावाकुल तरंगें हैं। 'पता नहीं', 'मुझे कदम-कदम पर' व 'एक मित्र के प्रति' इसी प्रकार की कविताएँ हैं। इन कविताओं में एक सहज मानवीय रागात्मक स्वर गूँजता सुनाई पड़ता है :

"यह सही कि चिलचिला रहे फासले
तेज दुपहरी भूरी
सब ओर गरम धार-सा रेंगता चला
काल बाँका तिरछा
पर हाथ तुम्हारे में जब भी मित्र का हाथ
फैलेगी बरगद छाँह वहीं
गहरी-गहरी सपनीली सी/जिसमें खुलकर सामने दीखेगी
उरस-स्पृशा स्वर्गीय उषा ॥[2]

1. चाँद का मुँह टेढ़ा : पृ. 76.
2. चाँद का मुँह टेढ़ा : पृ. 4-5.

इसी प्रकार मित्र का पत्र आने पर कवि को जो रागात्मक अनुभूति होती है उसकी कोमल भावुकता जैसे कविता की "तुम्हारा पत्र आया था कि तुम आये; हमारे श्याम घर की छत; हुई निस्सीम नीले व्योम सी उन्नत" पंक्तियों में आकर सिमट गई है। कवि की रागात्मक संवेदना का ही एक पहलू करुणाशीलता का प्रसार है जिसे उनकी कविताओं की अनेकानेक पंक्तियों में देखा जा सकता है। यद्यपि प्रकृति की छवियाँ मुक्तिबोध के काव्य में चित्रित जिन्दगी की विषमताओं की जाली में उलझ गई हैं, किन्तु फिर भी कहीं-कहीं अपनी रूप-रेखाओं को दिखा ही देती हैं: नीले नभ का सूरज हँसते-हँसते उतरा मेरे आँगन/प्रति पल अधिकाधिक उज्ज्वल हो मधुशीलचन्द्र था प्रस्तुत यों/मेरे सम्मुख आया मानो मेरा ही मन"/ 'अंतःकरण का आयतन' कविता में भी कवि को राग-संवेदना को वाणी मिली है। वस्तुतः (आपवादिक रूप से ही सही) मुक्तिबोध की अन्तश्चेतना सामाजिक यथार्थ के जिस व्यापक परिवेश को उभारती है; उसकी जड़ों में प्रेम और सौन्दर्य के सहज संदर्भ बड़ी गहराई से जुड़े हुए हैं। उनमें स्निग्ध अनुराग की वायु का संस्पर्श भी है और सौन्दर्य का उषस् भी। कवि जब लिखता है कि "मेरी छाँह सागर-तरंगों पर भागती जाती/दिशाओं पार हल्के पाँव/नाना देश-दृश्यों में/अजाने प्रियतरों का मौन चरण-स्पर्श/वक्ष-स्पर्श करती मुग्ध/व अपने प्रियतरों के उगलते मुख को/ मधुर एकांत में पाकर/किन्हीं संवेदनात्मक ज्ञान-अनुभव के/स्वयं के फूल-ताजे पारिजात-प्रदान करती है; अचानक मुग्ध आलिंगन/मनोहर बात, चर्चा, वाद और विवाद/उनका अनुभवात्मक ज्ञान-संवेदन/समूची चेतना की आग पीती है/ मनोहर दृश्य प्रस्तुत यों—गहन आत्मीय सघनच्छाय/भव्याशय अँधेरे वृक्ष के नीचे/ सुगन्धित अकेलेपन में/खड़ी हैं सील तन दो चन्द्र रेखाएँ/स्वय की चेतनाओं को मिलाती हैं/"[1] तो उसकी रागात्मक संवेदना के बिम्ब पाठक की आँखों में तैर-तैर जाते हैं। यों तो मुक्तिबोध की कविताएँ उनके गंभीर चिन्तन का परिणाम हैं, किन्तु एकाध कविता ऐसी भी है जिसमें कवि की मनःस्थिति दार्शनिक की सी हो गई है। ऐसी कविताओं में 'एक अरूप शून्य के प्रति' और 'मुझे नहीं मालूम' कविताओं को लिया जा सकता है। स्पष्टीकरण के लिये ये पंक्तियाँ देखिये:

"धरती व नक्षत्र

तारागण

रखते हैं निज-निज व्यक्तित्व

रखते हैं चुम्बकीय शक्ति, पर

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है: पृ. 203 और 204.

स्वयं के अनुसार
गुरुत्व आकर्षण शक्ति का उपयोग
करने में असमर्थ
यह नहीं होता है उनसे कि जरा घूम घाम आयें
नभस अपार में
यंत्रबद्ध गतियों का ग्रह-पथ त्याग कर
ब्रह्माण्ड अखिल की सरहदें माप लें।"[1]

13 आत्मान्वेषण आत्मसाक्षात्कार और व्यक्तित्वांतरण :

'मुक्तिबोध' के काव्य का एक प्रमुख संदर्भ आत्मान्वेषण/आत्मसाक्षात्कार की प्रवृत्ति से जुड़ा है। उनका समग्र काव्य आत्मसाक्षात्कार के संदर्भों को प्रस्तुत करता हुआ व्यक्तित्व के परिष्कार से सम्बन्धित है। इस आत्मशोधन से ही व्यक्तित्व परिपूर्णता को प्राप्त कर सकता है। यह आत्मशोधन-व्यक्तित्व का परिष्करण आत्मद्वन्द्व आत्मसाक्षात्कार और आत्मसत्य का अन्वेषण करके पूरा हुआ है। यही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। मुक्तिबोध का आत्मान्वेषी स्वभाव जो उन्हें आत्मसाक्षात्कार के सोपानों तक ले जाता है; उनकी प्रायः हरेक लम्बी कविता में दिखलाई देता है। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया ने ही मुक्तिबोध से कितनी ही कटु, और कितनी ही यथार्थ बातें कहलाई हैं। आत्मान्वेषक से तात्पर्य आत्म समीक्षक से है–तटस्थ समीक्षक से है जो कवि के शब्दों में ही आत्मा का सहचर है। उनकी अधिकांश कविताओं में इस आत्मसाक्षात्कार को देखा जा सकता है। कवि की अनुभूति मध्यवर्गीय व्यक्ति के अनुभवों की नींव पर खड़ी हुई है। उसमें उन्होंने दृश्य या प्रस्तुत को कम अदृश्य या अप्रस्तुत को अधिक देखा है। कितनी ही कविताओं में यह संकेतित है कि अपने अन्तस् में छिपे व्यक्तित्व को पहचानो। यह पहचान–यह आत्मान्वेषण आज की सामाजिक व्यवस्था में तो और भी जरूरी लगता है।

चाँद का मुँह टेढ़ा है' संग्रह की 'मेरे सहचर मित्र,' 'चकमक की चिनगारियाँ', 'अँधेरे में', 'चम्बल की घाटियाँ', 'पता नहीं', 'ब्रह्मराक्षस', 'दिमागी गुहांधकार का ओरांग उटांग', 'एक अन्तर्कथा', 'एक स्वप्न-कथा', 'भूल-गलती' और 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' आदि कविताओं में आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति ही मुखरित हुई है। 'भूल गलती' कविता में आत्मद्वन्द्व और आत्ममंथन की वे स्थितियाँ निरूपित हुई हैं जिनसे आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचना होता है। कवि का द्वन्द्व त्रिधात्मक है–व्यक्ति-स्तर पर; कवि की चेतना परिधि के स्तर पर और अस्मिता की चेतना के स्तर पर। व्यक्ति के स्तर पर द्वन्द्व का कारण यह है कि इन्सान व्यथाकुल है; उसका चेहरा विकृत है; किन्तु उसका अंतस् शोषण-सभ्यता के विरोधों के रूप में

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 84.

अडिग खड़ा है। उसका द्वन्द्व इस बात को लेकर है कि कुछ बुद्धिजीवी भी समझौतापरस्त, मौकापरस्त होने के कारण चुपचाप सब देखते-सहते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति गलत व्यवस्था के प्रति समझौता करने के कारण उत्पन्न हुई है; किन्तु कविता का व्यक्ति जो भीतरी सहचर है वह इसे सहन नहीं कर पाता है। यह सहचर हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर है जो जनता की विचारधारा के पोषण का प्रतीकार्थ रखता है। 'पता नहीं' कविता में 'जीवन की राह पाने की चाह' और भरपूर की खोज का विश्लेषण-समीक्षण मानवीय संवेदना की भूमिका पर हुआ है। कवि ने 'आत्मचेतस् संपूर्णता' के अन्वेषण को जन-जन के संदर्भ से जोड़ कर प्रस्तुत किया है : "फिर वही यात्रा सुदूर की/फिर वही भटकती हुई खोज भरपूर की/कि वही आत्मचेतस् अन्तः संभावना/जाने किन खतरों से जूझे जिन्दगी।"[1] कवि का आत्मान्वेषक सदैव सजग रहा है। घने-काले अँधेरे में; लूट-पाट, छीना-झपटी, आपा धापी, विवशता; व्यथा-विक्षोभ के काले झरने में नहाती जिन्दगी और उसे भोगता हुआ संघर्ष-क्रान्त मानव अपनी जिस जिन्दगी को काट रहा है उसके बारे में कवि चिन्तातुर भी और एक घुमक्कड़ अन्वेषक की तरह सोचता भी है और सहज ही उसकी कलम ये शब्द उगलने लगती है :

" ……क्यों मानव के/इस तुलसी वन में आग लगी।
क्यों मारी-मारी फिरती है। मन की यह गहरी सज्जनता।
दुःख के कीड़ों ने खाईं क्यों/ये जुही पत्तियाँ जीवन की।
आकांक्षाओं के तरु/यों ठूँठ हुए वृन्दावन के/
मानव आदर्शों के गुम्बद में आज यहाँ।
उलटे लटके चिमगादड़ भावों के।"[2]
या फिर
"छाती में मधुमक्खी का छत्ता फैला है/जो अकुलाया/
औ दंशतत्परा मधुमक्खी के दल के दल/
रस-मर्मज्ञाओं की सेना स्नेहान्वेषी/पर डंक सतत तैयार/
बुद्धि का नित संबल।"[3]

आत्मसाक्षात्कार के क्षणों में ही कवि अपनी (औरों की भी) बेबस जिन्दगी को देखता है तो लगता है कि धूल के गरम फैलाव पर बेथाह सपनों की लहरती चादरें फैली हैं और गरीबी व बेबसी में डूबे हुए चेहरे दिखलाई दे रहे हैं जो उनकी भयानक बदनसीबी को संकेतित करते हैं। कवि अन्वेषक की तरह सोचता है कि—

---

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 6.
2. वही पृ. 104.
3. वही पृ. 105.

जहाँ सूखे बबूलों की कँटीली पाँत
भरती है हृदय में धुन्ध डूबा दुख,
भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ
मैं भी घूमता हूँ शुष्क..........[1]

आत्मान्वेषण के दौरान अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर चलते हुए मुक्तिबोध ने प्रायः पैरों के तलवों को काटती आग को, कंधों को दबोचती बोझिल स्थितियों को और मानसिक यातना भोगती जिन्दगी को जिया है। यह भयानकता, ये नश्तर चुभाती परिस्थितियाँ, उनके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं और वे एक दूसरे ही अनुभव से गुजरते दिखाई देते हैं। यह वह अनुभव है जिसके साक्षात्कार के बिना तथाकथित भयानकता अधूरी है और उससे बचने का भी कोई तरीका नहीं है। वस्तुतः आत्मान्वेषण की यह प्रक्रिया निजी होकर भी पूरे परिवेश के जटिल से जटिल संदर्भों के बिम्ब प्रस्तुत करती है। परिणामतः कवि का आत्मान्वेषण यहाँ आ पहुँचा है :

"व्रणाहत पैर को लेकर
भयानक नाचता हूँ शून्य
मन के टीन-छत पर गर्म।
हर पल चीखता हूँ, शोर करता हूँ
कि वैसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूँ।"[2]

'मुक्तिबोध' को 'फैन्टेसी' प्रिय रही है। वे जब भी कभी वर्णन करते हैं तो उनकी फैन्टेसी प्रवृत्ति सामने आकर उन्हें घूरने लगती है। "दूर जंगल के गुमनाम खड्डे में या किसी वीरान टावर की अँधेरी भीतरी गोलाइयों के बीच या पुराने रोशनी-घर की भीतरी मीनार में प्रवेश करने के पीछे फैन्टेसी का ही आकर्षण है।" इस अँधेरी मीनार में मुक्तिबोध की 'आत्मान्वेषी' वृत्ति जो नक्शा उतार कर लाती है उसमें 'धूल खाते प्रेत हैं, हड्डियों के हाथों में पीले दबे कागज हैं, राइफल गोलियों के कारतूसी ढेर हैं, युद्ध के नक्शे हैं समुद्री पक्षियों की उग्र जंगली आँखें हैं, चोर आवाजें हैं, विलक्षण सीटियाँ हैं और हैं तहखाने जिनमें ढेर से एटम बम भरे पड़े हैं। 'चकमक की चिनगारियाँ' में यही सब है। मुक्तिबोध की 'फैन्टेसी' जिन्दगी के अर्थ से अलग नहीं है। वह एक परिदृश्य में बदलती रही है और इस 'बदलाव' का मूल्य है—बहुत बड़ा मूल्य है। यही कारण है कि उनकी कविता मानव-समस्याओं से पूरी तरह जुड़ी हुई है। इस जुड़ने में ही कवि का मानस द्वन्द्व और पीड़ा की राहों

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 161
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 149

से होता हुआ सतत अन्वेषी बना रहा है। वे आत्मान्वेषण से आत्म विस्तार की ओर बढ़े है। 'डूबता चांद कब डूबेगा' कविता इसकी गवाही दे सकती है। मुक्तिबोध का आत्मद्वन्द्व क्रमशः परिवेश जनित द्वन्द्व बनता गया है—आत्मान्वेषण आत्म विस्तार का सहगामी हो गया है।

ब्रह्मराक्षस' कविता में भी व्यक्ति की भूमिका पर आत्मसंघर्ष की प्रस्तुति हुई है। ब्रह्मराक्षस व्यक्ति की प्रबुद्ध चेतना का प्रतीक है। यह वह चेतना है जो अपने ज्ञान की पूर्णता के गर्व से युक्त है तभी तो वह पारंपरिक ज्ञान के निष्कर्षों को नयी व्याख्या देने का दम भरता है। यही व्यक्तित्व जो ज्ञान-गर्व से युक्त है और विविध विचारकों की मान्यताओं की व्याख्या में अपने को निष्णात समझता है, आत्मसंघर्ष में फँस जाता है। आत्म चेतना की स्थिति को पाने के लिए ही या कहें कि आत्मान्वेषण व आत्मासाक्षात्कार के लिए उसे जिन स्थितियों से गुजरना पड़ता है वे ये हैं :

"खूब ऊँचा एक जीना साँवला
उसकी अँधेरी सीढियाँ
वे एक आभ्यंतर निराले लोक की
एक चढ़ना और उतरना
पुनः चढ़ना और लुढ़कना
मोच पैरों में/व छाती पर अनेकों घाव
गहन् किंचित् सफलता/अति भव्य असफलता/
अतिरेकवादी पूर्णता की ये व्यथाएँ/बहुत प्यारी हैं।"[1]

'दिमागी गुहांधकार का ओरांग उटांग' में आत्मचेतना से साक्षात्कार की प्रक्रिया वर्णित है। 'ओरांग उटांग' मनुष्य के निजी यथार्थ की प्रतिकृति है। इसमें आत्मान्वेषण की प्रक्रिया दो स्तरों पर घटित होती है गलत और अवांछित विवादों के स्तर पर और दूसरे अपने भीतर छिपी असत्य शक्ति और विगलित शक्तियों की भयावहता को न सह पाने के कारण उत्पन्न स्तर पर। कवि ने साफ़ लिखा है : 'हाय हाय और न जान लें/कि नग्न और विद्रूप/असत्य सत्य का प्रतिरूप/प्राकृत ओरांग उटांग यह/मुझ में छिपा हुआ है/" कवितांत में संकेतित है कि अवसरवादी मनुष्य सत्यान्वेषण के बहाने अपनी विकृतियों को छिपा लेता है और ये विकृतियाँ ही आगे चलकर व्यक्तित्व विघातक बनकर आती हैं। 'मुझे याद आते हैं' कविता में कवि का व्यक्तित्व अपने गहरे अकेलेपन से निकलकर बाहर के अभावग्रस्त जीवन से साक्षात्कार करता है और परिणामस्वरूप उसके हृदय में प्रकाश भर जाता है। इस

1. चांद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 12

आत्मान्वेक्षण से जब वह आत्मशोधन के सोपानों की ओर अग्रसर होता है तो उसे अपना वांछित सत्य मिल ही जाता है :

> "घर आ ही जाता है कि द्वार खटखटाता
> अन्तर से 'आयी' की ध्वनि सुन पड़ती है
> अपना डर-द्वार खटखटाता हुआ
> निश्चय सा संकल्प सा करता हूँ"[1]

'एक अन्तर्कथा' कविता में जो आंतरिक तनाव है वह भी आत्मसंशोधन की प्रक्रिया को ही स्पष्ट करता है। इसमें माँ व्यक्ति की आन्तरिक चेतना है जो व्यक्ति को दायित्व पूर्ति के लिए प्रेरित भी करती है और मार्ग की बाधाओं से अवगत भी कराती है। 'एक स्वप्न-कथा' में व्यंग्य के स्तर पर आत्मान्वेषण की प्रक्रिया घटित हुई है। यहाँ व्यंग्य का निशाना उस व्यक्तित्व को बनाया गया है जो अपनी अन्तःशक्ति को उपेक्षित करके साहसहीन और नामर्द बनकर जीता है। इसी स्थिति में ऐसे व्यक्तित्व अपराध भावना से ग्रसित हो जाते है। फलतः कवि भी आत्मपीड़ा भोगता है; किन्तु ध्यान रहे यह अपराध बोध और पीड़ा-बोध किसी भी कोण से अस्तित्ववादी दर्शन के भय, त्रास और अकेलेपन का पर्याय नहीं है। यदि ऐसा होता तो कवि दायित्व बोध सक्रियता और व्यक्तित्व-शोधन की स्थिति को क्यों प्रस्तुत करता ? वस्तुतः मुक्तिबोध ने यहाँ व्यक्तित्व की उस स्थिति को खोजा है जो उन्हें या व्यक्ति को सामाजिक और नैतिक दायित्व-निर्वाह से विमुख करती है। 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' कविता में भी व्यक्तित्व की—आन्तरिक व्यक्तित्व की खोज निरूपित हुई है। इसमें जो आत्मचेतना है वह भी कवि-व्यक्तित्व को दायित्वशील बना रही है—आत्मसाक्षात्कार से आत्मशोधन का मार्ग दिखला रही है। कवि के व्यक्तित्व का द्वन्द्व यहाँ इस तरह संकेतित है : पर मेरे सम्मुख प्रश्न नाच उठता है/ यदि मूलों में पानी न पहुँच पाये/यदि शाखायें पूरी शक्ति न खींचे/तो मुझ जैसे निर्बल का/जितना भी दायित्व कहाँ तक अनंत है"/[2] इस द्वन्द्व के बाद ही कवि आत्मबोध कर पाता है—अपनी निष्क्रियता और अकर्मण्यता को जान पाता है। इस स्थिति में ही आत्मपरिष्कार की भूमिका निर्मित होती है और कवि का अवचेतन उससे कहला देता है :

> "जितना भी किया गया
> उससे ज्यादा कर सकते थे

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 83
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 236

ज्यादा भर सकते थे
अब काट-छाँट की बाट हर वड़ी है।"[1]

यह काट-छाँट ही व्यक्तित्व का शोधन है—आत्मसाक्षात्कार के बाद की अनिवार्य स्थिति है जो मुक्तिबोध की कविताओं में स्पदित है। 'चम्बल की घाटी' कविता का नायक मैं' भी अचेतन के स्तरों की लिखावट को खोजता है और अंततः अपनी अपूर्णता—व्यर्थता को इस प्रकार शब्दों का जामा पहनाता है : "मैं एक थमा हुआ मात्र आवेग/रुका हुआ एक जबरदस्त कार्यक्रम/मैं एक स्थगित हुआ अगला अध्याय/अनिवार्य/आगे ढकेली गई प्रतीक्षित/महत्वपूर्ण तिथि/मैं एक शून्य में छटपटाता हुआ उद्देश्य"/[2] इस कविता में जो अन्तर्द्वन्द्व है वह टीलों' के सहारे व्यक्त हुआ है। टीला' ही यहाँ अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति से होता हुआ अनेक प्रश्न-उपप्रश्न करता दिखाया गया है। कवितांत में यही टीला (क्रान्तिचेता व्यक्तित्व) संघर्ष का निमंत्रण देता हुआ संशोधित—परिष्कृत व्यक्तित्व को जनसाधारण के के लिए समर्पित होने की सलाह देता है।

संग्रह की आखिरी, सबसे लम्बी और जीवंत कविता 'अँधेरे में' है। इसमें भी आत्मसाक्षात्कार, आत्मशोधन और व्यक्तित्व की पूर्णता को अभिव्यक्ति मिली है। कविता में आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया 'वह' और 'मैं' के मध्य चलती है। इसमें आया 'रहस्यमय रक्तालोक-स्नात-पुरुष' ही वह है जिसकी तलाश में काव्य-नायक 'मैं' निरंतर भटक रहा है। 'मैं' कमजोरियों का पुंजे है; सुविधावादी है। अतः 'वह' से—'रक्तालोक स्नात पुरुष' से मिल भी नहीं पाता है और उसे छोड़ने को भी तैयार नहीं है। 'मैं' 'वह' से मिलने के लिए जब कोशिश करता है तो उसे वहाँ कुछ भी नहीं दिखाई देता है। 'मैं' निराश होता है और उसका आत्मसाक्षात्कार अपूर्ण ही रह जाता है। अतः वह पुनः 'वह' की—व्यक्तित्व के आन्तरिक स्तर की खोज करता है। इस खोज में उसे बहुत कुछ साक्षात्कृत होता है—जुलूस, मार्शल लॉ, प्रोसेशन, मध्यवर्गीय समाज की आन्तरिक स्थितियाँ आदि। इस साक्षात्कार से 'मैं' को आत्मबोध होता है—व्यक्तित्व संशोधित होता है। इस प्रयत्न में आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया और आगे बढ़ती है। वह मन की भीतरी पर्तों पर लिखी लिखावट को पढ़ना चाहता है तो उसे वहाँ आदिम इच्छाएँ और कामनाएँ ही रत्नों और पत्थरों के रूप में पड़ी मिलती हैं। ये वे इच्छाएँ हैं जिन्हें व्यक्ति वास्तविक जिन्दगी में दमित कर चुका है :

"अनुभव, वेदना, विवेक निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 236
2. वही पृष्ठ 231

हाय ! हाय मैंने उन्हें गुहावास दे दिया।
लोक-हित क्षेत्र से कर दिया वंचित
जनोपयोग से वर्जित किया और
निषिद्ध कर डाला खोह में डाल दिया।'[1]

ऐसा करने का कारण व्यक्ति की सुविधावादी दृष्टि ही थी। व्यक्तित्व-परिष्कार की प्रक्रिया और आगे बढ़ती है और नायक सारी स्थितियों से संघर्ष करता हुआ अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने को तैयार होता है ताकि उसे 'अरुण कमल' (नये आदर्शों और संभावनाओं) को प्राप्त कर सके। यह 'अरुण कमल' काव्य-सत्य को भी प्रतीकित कर रहा है। कवितांत में व्यक्तित्व-शोधन और सत्योपलब्धि के लिए क्रान्ति की अनिवार्यता पर जोर दिया गया है। क्रान्ति भी घटित होती दिखाई गई है—'कहीं आग लग गई; कहीं गोली चल गई'। इसके बाद काव्य नायक को संतोष मिलती है क्योंकि समग्र क्रान्ति के परिणामस्वरूप वेदना की नदियाँ प्रवाहित होती हैं; श्रमिकों को पीड़ा बहने लगती है और व्यक्तित्व परिष्कृत होकर अनुभव करने लगता है कि वह दुखीजनों में स्थानांतरित हो रहा है। सम्भवतः कविता अँधेरे से निकलकर सूर्योदयी चेतना में बदल जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तिबोध का काव्य आत्मान्वेषण; आत्मपरिष्कार से होता हुआ अंततः व्यक्तित्वांतरण में जाकर सिमट गया है। मुक्तिबोध आत्मपरिष्कार तक ही नहीं रुके हैं। उन्होंने तो व्यक्ति के सत्य को अन्य तक जन-जन में स्थानान्तरित कर दिया है। 'अँधेरे में' कविता तो इसका स्पष्ट प्रमाण ही है। तभी तो हमें लगता है कि इसमें 'अस्मिता की खोज नहीं है; उसका विस्तार और विलय है जन-मन की चेतना में। मैं से शुरू हुई हम तक पहुँचने वाली यह कविता मात्र अँधेरे से प्रकाश की कविता नहीं है। इसमें तो कवि व्यक्तित्वांतरण की भूमिका पर है। तारसप्तक के वक्तव्य में मुक्तिबोध ने अपनी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत भी किया है: 'मैं कलाकार की स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति (माइग्रेशन इंसटिंक्ट) पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्य उलझन से भरे रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके इस विशाल जीवन-समुद्र की परिसीमा, उसके तट-प्रदेशों के भूखण्ड आँखों से ओझल ही रह जायेंगे। कला का केन्द्र व्यक्ति है पर उसी केन्द्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है।"[2] व्यक्तित्वांतरण का पहला स्तर कलाकार का सृजनगत पुनर्जन्म है। इस रूप में कलाकार अपने सृजन में पुनर्जन्म लेता हुआ व्यक्तित्व के आन्तरिक दृष्टिकोण को कवितावद्ध करता है :

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 282
2. तारसप्तक का वक्तव्य : पृष्ठ 43

"कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वांतरित होकर
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ सच।"[1]

स्थानांतरगामी प्रवृत्ति का दूसरा रूप आत्मविस्तार में दिखाई देता है। यह आत्म विस्तार ही कवि-व्यक्तित्व को अन्य व्यक्तित्वों में विलय कर देता है। इस स्थिति में व्यक्ति सुखानुभूति से भर उठता है। यह आत्मविस्तार व्यर्थ नहीं है क्योंकि इसी से गुलाबी फूल गंधित होते हैं व व्यक्ति अपने 'स्व' को सम्पूर्ण जगत् में बिखरा देता है। आत्म विस्तार की यही भावना उसे यह अनुभव कराती है :

"मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य-पीड़ा है
पलभर में सबमें से गुजरना चाहता हूँ
प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ
इस तरह खुद ही को दिये-दिये फिरता हूँ।"[2]

इसी क्रम में 'मुझे नहीं मालूम' कविता का यह अंश भी देखिए जिसमें अहम् इदम् में पर्यवसित हो गया है—अहं विगलित और विलुप्त हो गया है। कवि ने लिखा है :

"गंध के सुकोमल मेघों में डूबकर
प्रत्येक वृक्ष से करता हूँ पहचान
प्रत्येक पुष्प से पूछता हूँ हालचाल
प्रत्येक लता से करता हूँ संपर्क !
और उनकी महक भरी
चित्र छाया में गहरी
विलुप्त होता हूँ मैं, पर
सुनहली ज्वाल-सा
जागता है ज्ञान और
जगमगाती रहती है लालसा
मैं कहीं नहीं हूँ।"[3]

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 155
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : 73
3. चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृष्ठ 86-87

काव्य-शिल्प :

भाषा वह सेतु है जिससे होकर अनुभूत सत्य पाठक तक पहुँचता है। अतः अभिव्यक्ति और संप्रेषण के एकमात्र माध्यम के रूप में भाषा को विशिष्ट महत्ता प्राप्त है। भाषा वह शक्ति है जो रचना स्तर पर एक ओर तो अपने चाव में आनुभूतिक संवेदना से जुड़कर उसे कथ्य का रूप प्रदान करती है और दूसरी ओर कथ्य-संप्रेषण को कलात्मक रचाव प्रदान करती है। मुक्तिबोध के शब्दों में 'जीवनानुभवों से जुड़ी हुई शब्द की अर्थ-परंपरा के रूप में भाषा एक सामाजिक निधि है।''[1] मुक्तिबोध की काव्य भाषा उनके कथ्य के अनुरूप ही अपने ढंग की है। उसमें कवि के अनुभूत को संप्रेष्य बनाने की अद्भुत शक्ति है, वह जीवन के तथ्यों को उजागर करने में सक्षम है और कवि मानस की जटिलताओं को सही रूपाकार प्रदान करने वाली है। अभिव्यक्ति के समस्त खतरे उठाकर उन्होंने पारंपरिक भाषा-शैली के मठों और दुर्गों को तोड़कर अपने अरुण-कमल वाले उद्देश्य को भाषिक स्तर पर भी सफलता से प्राप्त किया है। उनकी भाषा में जो वैचित्र्य दिखाई देता है वह इसीलिए है कि वे एक ओर तो जटिल और त्रासद अनुभवों से जूझ रहे थे और दूसरी ओर अभिव्यक्ति के संकट को भी महसूस कर रहे थे।

मुक्तिबोध की कविताओं का शिल्प गजब का है। उनमें जो प्रतीक, रूपक मानवीकरण और बिम्ब आये हैं, वे पारंपरिक भी हैं और नये अर्थों से संयुक्त भी हैं। कुछ प्रतीक और रूपक तो जाने-पहचाने हैं पर कुछेक नये या पुराने होकर भी नये अर्थों से युक्त हैं। 'इस ऊँचे टीले पर' कविता में चित्रित 'मृत सुन्दरी' उस मानवात्मा का अर्थ लिए हुए है जो मर गयी है। यद्यपि इसका वर्णन बड़ा तिलिस्मियाना है : "बंगले में कमरे और कमरों के भीतर कमरे - परदे के पीछे परदा और बहुत सुन्दर एक चौड़े पलंग पर मृत सुन्दरी लेटी है।" यह हमारी मृत आत्मा है। इसी संदर्भ में 'चम्बल की घाटी' में चट्टान पर बैठे डाकू के लोमहर्षक कार्यों का विवरण पाठक को चकित कर देता है। कवि ने बताया है कि वह तो हमारा ही जड़ीभूत रूप है। बुराई दर बुराई करते हमारी आत्मा पथरा गई है। हम ही अपने सबसे बड़े शत्रु हैं। वस्तुतः इन कविताओं का शिल्प 'फैन्टेसी' का शिल्प है। इसमें आये प्रतीक और बिम्ब यहाँ तक कि शब्द भी अभिधात्मक अर्थ से ज्यादा व्यंजनार्थ या प्रतीकार्थ रखते हैं। ये बिम्ब, प्रतीक मुक्तिबोध की कविता के प्राण हैं। इनके न रहने पर कविता का महल ही ढह पड़ेगा और अर्थ का चूना धीरे-धीरे झड़ जायेगा।

1. मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी पृष्ठ 26

मुक्तिबोध की भाषा भी उतनी ही ताज़ी और मौलिक है जितनी कि उनकी चिन्तना। यहाँ अपनी और दूसरी भाषा के भेद को मिटाकर अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक हर भाषा-अंग्रेज़ी, संस्कृत, उर्दू, मराठी आदि किसी भी भाषा के चालू शब्द को अपना लिया गया है। लगता है कवि का शब्द-विधान बड़ा 'डेमोक्रेटिक' है। शब्दों के प्रयोग का मुक्तिबोध का अपना ढंग है। वे व्याकरण की परवाह नहीं करते बल्कि व्याकरण को अपनी भाषा की परवाह करने के लिए न्यौता देते हैं। कितने ही शब्द-प्रयोग, कितने ही विशेषण और कितने ही मुहावरे ऐसे हैं जो मुक्तिबोध के यहाँ आकर अपना रूप बदल लेते हैं। इस बदलाव से कविता की सम्प्रेषणीयता बढ़ी है। 'रक्तिम' के लिए 'रक्ताल', 'अंगारमय' के लिए 'अंगारी', 'अंधियारे' के लिए 'अंधियाले', 'रुग्ण' के लिए रोगीला 'धूमिल' के लिए 'धुमैला' 'अचानक' के लिए 'अचक' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। विशेषणों के नये प्रयोग भी बराबर देखे जा सकते हैं: 'प्यारी रोशनी', 'सर्द अंधेरा' और 'चहचहाती साड़ियाँ' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। विशेषणों में रंग को व्यक्त करने वाले विशेषणों के प्रति कवि का अनुराग कविताओं में काफी फैलाव लिए हुए है। कहीं-कहीं तो एक ही संज्ञा के लिए दो दो तीन-तीन विशेषण एक साथ रख दिए गए हैं।

मुक्तिबोध की भाषा भागती सी लगती है। शब्द इतने तेज और तर्रार हैं कि पाठक भी कई बार भाव को पीछे छोड़कर शब्द के साथ ही भाग जाता है। उनमें गतिशीलता है। वे ध्वनिमूलक हैं और बिम्ब-सर्जन के लिए बड़े कारगर सिद्ध होते हैं। 'चटपट आवाज चाँटों सी पड़ती, सटरपटर' 'धड़-धड़ाम', 'अररा कर गिरना', 'खट खटाक खट' आदि। शांति, नीरवता और रहस्यमय व स्थिति के लिए भाषा क्रमशः शीतलता व जिज्ञासा के कदमों से चलती हुई डरावनी स्थितियों के लिए सन्नाटा फैलाती हुई भय और आतंक का घेरा डालती चलती है:

> "सामने है अंधियाला ताल और
> स्याह उसी ताल पर संवलाई चाँदनी
> समय का घंटाघर
> निराकार घंटाघर
> गगन में चुपचाप अनाकार खड़ा है"

इसी प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' कविता की ये पंक्तियाँ भी देखिये जिनमें भाषा वातावरण निर्माण में तो सहायक हुई ही है, बिम्ब निर्माण की क्षमता से भी युक्त है। कवि ने लिखा है:

> "शहर के उस खण्डहर की तरफ
> परित्यक्त सूनी बावड़ी

के भीतरी ठंडे अंधेरे में
बसी गहराइयाँ जल की
सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
उस पुराने घिरे पानी में।
समझ में न आ सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।
बावड़ी को घेर डालें खूब उलझी हैं
खड़े हैं मौन औदुम्बर
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले
परित्यक्त भूरे गोल''

भाषा की बिम्ब क्षमता और गतिशीलता के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा जिसमें हर शब्द बिम्ब बनाता हुआ आगे बढ़ता गया है :

कगारों-कटानों पर सावधान सरककर
झरबेरी झुरमुट के पास थक बैठता कि
देखता हूँ
झुरमुट में हलचल काँपती
कोई साँप पहाड़ी से
निकल कर भागता है लहरीली गति से,
मानो मेरी कविता की कोई पाँत
मुझ से ही भयभीत
भाग जाना चाहती.

और मुक्तिबोध कभी-कभी शब्दों के संग्रथन से ऐसा वातावरण तैयार कर देते हैं कि पाठक अनायास ही रहस्य, रोमांच और किसी अनजानी भूमिका पर पहुंच जाता है, अकस्मात् भौंचक्का-सा रह जाता है और कुछ समय के लिए अपने को भी भूल जाता है। ऐसे स्थलों पर फैंटेसी प्रिय कवि विराट कल्पना का सहारा लेता है। फलतः वातावरण जिस रूप में मूर्तित हो उठता है, वह कवि की शब्द-संयोजना का ही कमाल है : ''तालाब के आसपास अंधेरे में वनवृक्ष/चमक-चमक उठते हैं हरे-हरे अचानक/वृक्षों के शीश पर नाच-नाच उठती हैं बिजलियाँ/शाखायें डालियाँ झूमकर झपटकर/चीख एक दूसरे पर पटकती हैं सिर कि अकस्मात्/वृक्षों के अंधेरे में छिपी हुई किसी एक/तिलिस्मी खोह का शिला द्वार/खुलता है धड़ से।

मुक्तिबोध की शब्द-संयोजन में संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी और मराठी व गुजराती सभी भाषाओं के शब्दों का मिलन दिखाई देता है। यहाँ हरेक भाषा का शब्द दूसरी भाषा के शब्द को अपना हमराज, हमसाया और हमसफ़र समझता है।

उनकी तत्सम शब्दावली की बानगी स्वरूप ये कुछ शब्द देखिए : प्रकोष्ठ, मंत्रोच्चार, स्थितप्रज्ञ, जातवेदस, आजानु बाहु, सहजोत्सर्गमयी, रुधिरस्नात, आलोकस्नात, आत्मसंविद, परिव्यक्त, अनुमामिता, मलिनता, प्रतिपल, विगत शत पुण्य, अखण्ड, प्राक्तन, उद्‌भ्रान्त, आन्दोलिता, संवेदना, निर्वाक्, प्रफुल्लित, कंटकित आत्मचेतन, अतिरेकवादी, पूर्णता, शोषक, विकृताकार, स्फटिक-प्रासाद, कीर्ति व्यवसायी, लक्ष-वक्ष, घनीभूत, विशालाकार, अग्नि, काष्ठ, नागात्मन, ज्वलित, द्युति-प्रस्तर-घन, अंक-शायिनी, व्रणाहत, द्युति-प्रभा, स्नेहाश्लेष, अनावृत और परस्पर-पद व सत्-चित् वेदना आदि सैकड़ों शब्द मुक्तिबोध के काव्य की विधि बनकर आये हैं। इनमें और इनके अलावा कितने ही शब्द ऐसे हैं जो भारतीय दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र से लिये गये हैं। विज्ञान के विभिन्न शब्दों से बने तत्सम शब्द भी मुक्तिबोध की कविताओं में मिलते हैं—चुम्बकीय शक्ति, मूल-उद्‌जन, सामयिक चिकित्सक, अणु-परमाणुओं का विस्तार और ज्यामितिक रेखा आदि ऐसे ही शब्द हैं/कहीं-कहीं तो दीर्घ सामासिक पदावली भी मुक्तिबोध ने बेहिचक इस्तेमाल की है—तारा-द्युति-मण्डल, नक्षत्र-तारक-ज्योतिलोक, निज-इतिहासिक विवरण, अन्वय-व्यतिरेक-प्रभा-उपपति-सहित और शिश्नोदर आदि।

तत्सम शब्दों की बहुलता के साथ ही मुक्तिबोध के काव्य में तद्‌भव और देशज शब्दों का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है। बावड़ी, कनेर मुंडेर, करौंदी पैठना, चूनरी, कंजी आँख उलीचना, घिघियाती खपरैल, थूहर, छरहरी, माटी, दलिद्दर, बिलम, बाक्स, बिलकना, सरगना, भोल, काँधे थापें, लौंकती और चौन्हना आदि ऐसे ही शब्द प्रयोग हैं। उर्दू-फारसी के बहुप्रयुक्त शब्दों में मुक्तिबोध ने जिन शब्दों को अपनाया है वे ये हैं—जिरह, बख्तर, सलाम, ज़रूरत, बदनीयती, बेखौफ, मनसबदार शाही मुकाम और अलगजली आदि। इनके साथ ही अंग्रेजी के प्रोसेशन, शेवरलेट, सीन, स्क्रीनिंग, थोड़ोली, सेक्रेटरी, मीटिंग, प्रोपगैण्डा, आर्टिलरी, गैसलाइट, कैवेलरी, डिसेक्शन, मार्शल-लॉ, आक्सीजन और जनरल आदि का प्रयोग भी मुक्तिबोध ने बड़ी खूबी से किया है। मराठी शब्दों में नसीदार (नक्काशीदार) नक्षे (नक्शे) हंकाल दिया (बाहर कर दिया) गजर, कंदील पूर (बाढ़) और बास आदि को भी मुक्तिबोध के काव्य में स्थान मिला है। वास्तव में मुक्तिबोध की काव्य-संपदा में शब्द-संपदा का विशेष महत्व है। मुक्तिबोध की भाषा में गतिमानता को व्यक्त करने वाली शब्दावली भी मिलती है और अनुकरणात्मक शब्द योजना भी—बड़बड़ाहट, छपछपाहट, धाँय-धाँय, हाय-हाय, छिः-छिः, थू-थू, सरसर, काँव-काँव, हुआँ-हुआँ, लुचलुची, पिचपिची आदि दर्जनों शब्द मुक्तिबोध की काव्य-भाषा के गौरव हैं। इनमें अधिकांश ध्वनिमूलक हैं। इस प्रकार विभिन्न भाषाओं की शब्द-योजना करके मुक्तिबोध ने अपनी भाषा को 'डेमोक्रेटिक' बना दिया है।

कथ्य को सहज संप्रेष्य बनाने के उद्देश्य से मुक्तिबोध ने मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी किया है। जमाना साँप का काटा' 'सचाई की आँखें', दिल की बस्ती उजाड़ना, मन टटोलना, अपना गणित करना, मछलियाँ फँसाना, जिन्दगी में झोल होना, बौद्धिक सींग निकलना, डर में से तिर आना, सिट्टी-पिट्टी गुम होना और दाँव उड़ाना आदि कितने ही मुहावरे मुक्तिबोध की कविताओं में आये हैं। भाषा को प्रभावी और शक्तिमंत बनाने के लिये कनेक स्थलों पर कवि ने सूक्तियों का प्रयोग भी किया है--'अब तो रस्ते ही रस्ते हैं। मुक्ति के राजदूत सस्ते हैं।" दुनियाँ में कमाने के लिए कभी कोई फूल नहीं खिलता, शोषण की अतिमात्रा स्वार्थों की सुख यात्रा, जब सम्पन्न हुई, आत्मा से अर्थ गया मर गई सभ्यता आदि मुक्तिबोध की शैली में नाटकीयता; प्रश्नलता; जटिलता तो मिलती है; व्यंग्यशीलता भी भरपूर है। अनेक कविताओं में व्यंग्य-शैली का सफल प्रयोग हुआ है। 'दिमागी गुहांधकार का ओरांग उटांग', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' और 'एक स्वप्नकथा' में व्यंग्य शैली का सफल प्रयोग हुआ है। स्पष्टीकरण के लिए केवल एक दो उदाहरण देखिए। पूँजीवादी सस्कृति के प्रतीक रूप में चाँदनी के लिए मुक्तिबोध व्यंग्य-शैली में लिख गये हैं :

"बदमस्त कल्पना सी फैली थी रात भर
सेक्स के कष्टों के कवियों के काम-सी।"[1]

इसी प्रकार आत्मालोचन के स्वर में किया गया व्यंग्य भी देखिए :

स्फूर्तियाँ/कहती हैं कि।
मै जो पुत्र उनका हूँ।
अब नहीं पहचान में आता हूँ। लौट विदेशों से।
अपने ही घर पर मैं इस तरह नवीन हूँ
इतना अधिक मौलिक हूँ—
असल नहीं।[2]

वस्तुतः यह व्यंग्य शैली मुक्तिबोध की भाषा में जनजीवन के यथार्थ-प्रेषण का सशक्त माध्यम बनकर आई है। यों अधिकांश कविताओं की शैली सुनियोजित है। इससे कविताएँ व्यवस्थित हो गई हैं। कविताओं में नाटकीयता और गतिशीलता पर्याप्त मात्रा में है। मुक्तिबोध की किसी भी लम्बी कविता को ले लीजिए उसमें हर दस-पाँच पंक्तियों के बाद एक त्वरा-गतिशीलता दिखलाई देगी। हर विराम के

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ. 34.
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ. 192.

बाद नया संदर्भ और उससे निकलते विभिन्न संदर्भ पाठक के हृदय को छूते चलते हैं। उनके यहाँ एक संदर्भ निकलता है फिर दूसरा, फिर तीसरा संदर्भ ठीक वैसे ही जैसे एक बड़े सन्दूक में दूसरा, तीसरा और तीसरे में चौथा निकलता जाता है। इस सबका कारण शैली की सुनियोजित व्यवस्था ही है।

मेरी दृष्टि में काव्य भाषा की श्रेष्ठता का प्रतिमापन बिम्बविधायिनी और दैनिक जीवन की भाषा ही हो सकती है। जो कवि जितना अधिक जनभाषा का प्रयोग करेगा; जिसके शब्दों में जितनी सम्मूर्तन क्षमता होगी; उतनी ही क्षमता उसके कथ्य में भी होगी। इस दृष्टि से देखें तो मुक्तिबोध की भाषा एक सफल कवि की सफल भाषा है। उसमे बिम्बोद्भावन की अपार क्षमता है। मुक्तिबोध के बिम्ब विराट, संश्लिष्ट, औचित्यपूर्ण और यथार्थ-परिदृश्य को उभारने के गुण से अधिक आकर्षक हो गये हैं। ये बिम्ब कहीं ऐन्द्रिय संवेदनों पर आधृत हैं; कहीं अलंकृति पर और कहीं यथार्थ जगत् की छवियों को उद्घाटित करते हैं। इनमें गति है; आकर्षण है; घनता है; विस्तार है और है वातावरण को मूर्तित करने की असीम शक्ति। प्रकृति निर्मित बिम्बों में भी कवि भयानक और रहस्यमय परिवेश को प्रस्तुत कर सका है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। "शहर के उस ओर खण्डहर की तरफ/परित्यक्त सूनी बावड़ी/के भीतरी/ठंडे अँधेरे में/ बसी गोलाइयाँ जल की/ ··· बावड़ी को घेर/डालें खूब उलझी हैं/खड़े हैं मौन औदुम्बर/व शाखों पर/लटकते घुग्घुओं के घोंसले/परित्यक्त भूरे गोल।"[1] इस उद्धरण में आया बिम्ब परिवेश को मूर्तित करता हुआ एक सफल संश्लिष्ट चाक्षुष बिम्ब बन गया है। आदिम जीवन-क्षेत्र के बिम्ब का प्रयोग भी मुक्तिबोध ने किया है। ब्रह्मराक्षस, अजगरी मेहराब वाला बूढ़ा बरगद, भैरव, परित्यक्त सूनी बावड़ी आदि 'आर्केटाइपल' 'इमेजेज' के ही उदाहरण हैं।

मुक्तिबोध के बिम्बों में विविधता है। वे जनजीवन, प्रकृति, सैनिक जीवन, गणित, विज्ञान और तर्कशाला सभी क्षेत्रों से उपकरण जुटाकर तैयार किये गये हैं। बिम्बों का यह वैविध्य 'अँधेरे में', 'चम्बल की घाटियाँ', ब्रह्मराक्षस' डूबता चाँद कब डूबेगा; एक स्वप्न कथा, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' और चकमक की चिनगारियाँ जैसी कविताओं में बखूबी देखा जा सकता है। ऐन्द्रिय बिम्बों का प्रयोग भी मुक्तिबोध ने कुशलता से किया है। ध्वनि, स्पर्श, घ्राण, चाक्षुष और रंग बिम्ब भी मुक्तिबोध के काव्य में पूरे रंग-रोगन के साथ आये हैं—

स्पर्श संवेद्य बिम्ब : [1] "स्वयं की ग्रीवा पर/फेरता हूँ हाथ कि/करता हूँ महसूस/एकाएक गर्दन पर उगी हुई/सघन अयाल और/शब्दों पर उगे हुए बाल तथा/वाक्यों में ओरांग उटांग/बढ़ते हुए नाखून।" इसी प्रकार शारीरिक यातना जनित अनुभव का यह स्पर्शजन्य संवेदन भी देखिए जो पाठक के रोंगटे खड़े

कर देता है : "चाबुक चमकदार/पीठ पर यद्यपि/उखड़े चर्म की कत्थई रक्तिम रेखाएँ उभरीं।"

घ्राण संवेद्य बिम्ब : "अजगरी मेहराब/मरे हुए जमानों की संगठित छायाओं में/बसी हुई/सड़ी-बुसी बास के लिए/फैली है गली के/मुहाने में चुपचाप।"

रंग संवेद्य बिम्ब : "दूर-दूर मुफलिसी के घरों में/सुनहले चिराग बल उठते हैं/आधी अँधेरी शाम/ललाई में निलाई से नहाकर/पूरी झुक जाती है।

श्रवण-संवेद्य बिम्ब : "रात के दो हैं/दूर-दूर जंगल में सियारों की हो-हो/पास-पास आती हुई घहराती गूंजती/किसी रेलगाड़ी के पहियों की आवाज।" [अँधेरे में]

कहने का तात्पर्य यही है कि मुक्तिबोध की भाषा को अधिकाधिक संप्रेष्य बनाने में बिम्बों ने भरपूर सहयोग दिया है। दृश्यांकन; मानसिक ग्रंथियों का अभिव्यंजन; परिवेश की यथार्थता और मनोभावों की अभिव्यजना के लिए मुक्तिबोध ने आकर्षक किन्तु विचित्र बिम्बों की सृष्टि की है।

मुक्तिबोध की भाषा में अतिरिक्त प्रभाव भरने के लिए कहीं-कहीं उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है किन्तु सहजता के साथ। अलंकृति आरोपित नहीं है। उनके अप्रस्तुत नवीन, प्रयोगशील और प्रगतिशील चेतना के वाहक हैं। कुछ उदाहरण देखिए—[1] "जेल के कपड़े सी फैली है चाँदनी", [2] अम्बर के पलने से उतार रवि-राज पुत्र/ढाँक कर साँवले कपड़ों में/रख दिशा-टोकरी में उसको/रजनी रूपी पन्ना दाई/अपने से जन्मा चन्द्र-पुत्र/फिर सुला गगन के पलने में/चुपचाप टोकरी सिर पर रख/खिसक गई।" [3] "तिरछी गिरी रवि-रश्मि के उड़ते हुए परमाणु जब/तल तक पहुंचते हैं कभी/तब ब्रह्मराक्षस समझता है सूर्य ने झुककर नमस्ते कर दिया। [4] उद्विग्न भालों पर/सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए। अनगिनत दशमलव से" [5] "दुख के दागों को तमगों सा पहना" [6] 'शर्म से जलते हुए बल्बों के आस पास। बेचैन खयालों के पंखों के कीड़े"। [7] 'श्याम आकाश में, संकेत भाषा-सी तारों की आँखें चमचमा रही हैं/मेरा दिल ढिबरी सा टिमटिमा रहा है।" ये कुछ उदाहरण हैं जो मुक्तिबोध के नूतन, प्रगत्युन्मुखी और चेतन शिल्प की गवाही देते हैं।

मुक्तिबोध की प्रतीक योजना भी सबसे अलग-थलग है। यद्यपि उन्होंने पारम्परिक प्रतीकों का प्रयोग भी किया है किन्तु उनके अधिकांश प्रतीक नये हैं। इनमें मुक्तिबोध की अपनी विशेषता है। उनके प्रतीक शब्द-वाक्य, पंक्ति और शीर्षकों तक में फैले हुए हैं। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक प्रतीकों के अलावा वैज्ञानिक,

दैनिक जीवन के प्रतीक, प्राकृतिक प्रतीक और मिथिकल अतीत से गृहीत प्रतीकों की प्रचुरता मुक्तिबोध के काव्य का उल्लेखनीय संदर्भ है। पौराणिक प्रतीक मुक्तिबोध के दिमाग में छाये हुए हैं— रावण, ब्रह्मराक्षस, ओरांग ओटांग आदि। रावण जलाया हुआ काठ का मन है–जड़वत् है तो 'ब्रह्मराक्षस' हमारा अचेतन मन भी है और बौद्धिक चेतना भी। ओरांग ओटांग हमारी अविकसित दुर्दमनीय पाशविक वृत्तियों का प्रतीक है। इसी प्रकार गांधी, तिलक, अक्षयवट, अर्जुन और शिवाजी भी प्रतीकवत् प्रयुक्त हुए हैं जो आधुनिक संदर्भों में अपनी अर्थवत्ता प्रमाणित करते हैं। 'मुक्तिबोध' की 'भूल गलती' कविता में आया कैदी ईमानदार, स्वतन्त्रचेता और शोषण के विरुद्ध प्रतिबद्धित व्यक्तित्व का प्रतीक है; 'पता नहीं' कविता में आया 'बरगद' परम्परा का प्रतीक है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने इसे मानवीय संवेदना का संकेतक माना है। 'चाँद' पूंजीवादी शक्ति का; 'भैरव' शोषित वर्ग की मानसिकता का; 'कंस' शोषक और क्रूर सत्ता का, 'पोस्टर' क्रान्तिधर्मिता का; 'डूबता चाँद' मृतप्राय पूंजीवादी व्यवस्था का; 'स्याह पहाड़' संघर्षों का, अंधेरा मध्यवर्गीय संस्कारों की विवशता, समझौतापरस्ती, अवसरवादिता का, 'तिलिस्मी खोह' मानसिक संघर्ष के आकारहीन स्थान का; 'चम्बल की घाटी' व्यवस्था की लूटपाट से शोषित जीवन का, 'इस्पात' शोषित वर्ग की श्रमशक्ति का; 'टीला' आत्मविवेक का; 'वेबीलोन' मृतप्राय राज्य व्यवस्था का, 'शून्य' आंतरिक खोखलेपन का; 'कमल' लक्ष्य का, 'शिशु' शोषित मानवता, आत्मज सत्य और उत्तरदायित्व बोध सभी प्रतिकार्थों से युक्त होकर आया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्तिबोध का काव्य-शिल्प उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रमाण है। उनकी भाषा-शैली, बिम्बनिर्मात्री कल्पना, प्रतीकान्वेषी वृत्ति और यथार्थपरक अप्रस्तुत योजना सभी पर उनकी छाप है।

समूचे मुक्तिबोध को पढ़ने पर लगता है कि वे जन कवि थे, यथार्थ के चित्रकार थे, जीवन की संगत-असंगत स्थितियों के दिग्दर्शक कवि थे। वे अपनी पीढ़ी से काफी आगे सोचते थे। उनकी अनुभूतियों का कैमरा विघटित समाज की उन भावी तस्वीरों के 'स्नैप्स' भी ले आया है जो उनके बाद समाज में उभरी हैं। यह वह कवि था जो मूल्यहीनता, अमर्यादा, असंयम और मानवीय आदर्शों के विरोधी तत्त्वों और रूपों से उत्पन्न उस संत्रास और मरी हुई आवाजों को भी सुन सका जो आजादी के बाद के वर्षों में उभरी हैं। वे बराबर महसूस करते रहे कि जड़ीभूत दबावों का भार मनुष्य की छाती बरदाश्त नहीं कर सकती है क्योंकि वे इतने वज़नी, दमघोटू और भयावह हैं कि "चीख निकालना भी मुश्किल है और असम्भव है हिलना भी। मुक्तिबोध सच्चे अर्थों में जनकवि थे। उनकी कविताएं मानव-सभ्यता का इतिहास भी प्रस्तुत करती हैं और भारतीय जीवन के उस पक्ष को भी जिसमें वे स्वयं पिसते रहे। उन्होंने अधूरी जिन्दगी बिताई पर कविता में उन्होंने पूरे जीवन को जिया भी दिखाया भी।

४. धर्मवीर भारती

नयी कविता के वैचारिक पक्ष को भावुकता और सजल स्निग्धता से संपर्कित करके प्रभावी शिल्प में ढालने वाले कवियों में धर्मवीर भारती का नाम अनुपेक्षणीय है। भारती प्रतिभा संपन्न कवि, विचारक, कथाकार और गद्यकार के रूप में विख्यात हैं। यद्यपि उनकी लेखनी अनेक विधाओं पर चली है, किन्तु वे मूलतः कवि हैं। उनकी काव्य-यात्रा का प्रारम्भ प्रमुखतः 'दूसरे सप्तक' में ही हुआ है। प्रकृति से विद्रोही और प्रगतिशील भारती का कवि एकांतिक होकर भी अंध परम्पराओं के प्रति अस्वीकार करके चला है। यद्यपि उनकी प्रारम्भिक कविताएं किंचित् छायावादी रंग लिये हुए हैं किन्तु उनकी अभिव्यंजना प्रणाली नवीन है। छायावाद से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उन्होंने उन सभी विघटित मूल्यों को चुनौती दी है जो छायावादी कवि को किसी न किसी रूप मे घेरे रहे हैं। अतः मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं कि भारती का काव्य विषय की भूमिका पर छायावादियों के साथ कुछ समय के लिए भले ही खड़ा रहा हो किन्तु अभिव्यक्ति और 'एप्रोच' के धरातल पर वह उनसे भिन्न है। भारती के चिन्तन को प्रमाणित करने वाली कृति 'मानव मूल्य और साहित्य' तो है ही, उनके विविध चिन्तनात्मक निबंध भी हैं। उनके निबंधों में जो विवेचित हुआ है वह यही है कि परम्परा से चली आती हाथी दाँत की मीनारें व्यर्थ हैं—भटकाव की ओर ले जाती हैं। अतः कलाकार को युग सत्य को पहचानना चाहिए। जिस रस को काव्यात्मा माना जाता रहा है, उसे भारती ने प्रभाव या विचार तत्व से जोड़कर नये रूप में प्रस्तुत किया है : उनकी धारणा है कि विचार, भाव और भाषा का अलग कोई महत्व नहीं है। काव्य के विषय निर्धारित नहीं हो सकते हैं। अतः कवि को जहाँ से भी आन्तरिक लय और अनुभूति प्राप्त हो, उसे वहीं से ग्रहण करके काव्य में व्यक्त करना चाहिए।

काव्य—कृतियाँ :

साहित्य की अनेक विधाओं में रुचि लेते हुए भी भारती कविता को शान्ति की छाया और विश्वास की आवाज मानते रहे हैं। उनका कवि आज की बेहद पिसती हुई संघर्षपूर्ण, कटु और कीचड़ में बिलबिलाती जिन्दगी के ही सुंदरतम अर्थ खोज पाने में समर्थ रहा है। भारती के संपूर्ण काव्य को 'दूसरा सप्तक', ठण्डा लोहा, सातगीत वर्ष और 'कनुप्रिया' के माध्यम से समझा जा सकता है। उनका काव्य नाटक 'अंधायुग' उनकी वैचारिक काव्य-यात्रा को प्रस्तुत करता है। 'देशांतर' नाम

से भारती ने कुछ विदेशी कविताओं का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है और 'पाँच जोड़ बाँसुरी' में अपनी मृदुल भावनाओं को शब्दबद्ध भी किया है। इस प्रकार भारती क्रमशः स्वच्छंदतावादी अँग्रेजी रोमांटिसिज्म, उर्दू की गज़ल शैली, प्रयोगवाद और नयी कविता सभी की काव्य भूमियों पर संचरण करते रहे हैं। उनकी कविताओं में रूपासक्ति, प्रणयासक्ति, प्रेम की स्थूल और उदात्त अभिव्यक्ति, प्रकृति की आकर्षक छवियाँ तो मिलती ही हैं, युग-यथार्थ और समसामयिक चिन्तन भी कविताओं के घूँघट से झाँकता दिखाई देता है।

ठण्डा लोहा :

नयी कविता जिस आधुनिक बोध को काव्य की धरती पर उतार रही है तथा जिन नये अनजाने संदर्भों को उद्घाटित करती हुई पुराने प्रसंगों को नये बोध के अनुरूप जाँच-परख रही है उसके समर्थ कवियों में भारती का नाम विशेषोल्लेख्य हैं। यों भारती का व्यक्तित्व कई रंगों में देखा जा सकता है, किन्तु वे अधिकतर नये बोध के सजग शिल्पी है। उनकी कविताएँ और चाहे जो भी स्पष्ट करें, यह निश्चित है कि उनमें मूलतः रोमानी दृष्टि का प्रसार अधिक है। अनेक कविताओं को पढ़ने से लगता है कि वे रोमानी तारल्य (जो छायावाद का ही संस्करण है), उर्दू की नजाकत और नफासत के कवि हैं। 'ठण्डा लोहा' की कविताएँ 'गुनाहों के देवता' के अनेक प्रसंगों का रूपान्तर प्रतीत होती हैं। 1949 का यह उपन्यास 1952 के 'ठंडा-लोहा' की भावनाओं का प्रारम्भिक सोपान है। स्वयं भारती ने इस बात की ओर संकेत किया है कि ये वर्ष मानसिक उथल-पुथल के रहे हैं। 'गुनाहों के देवता की सुधा को 'ठंडा लोहा' की अनेक कविताओं में देखा जा सकता है। लगता है 'गुनाहों के देवता' की सुधा निरन्तर प्रणय-व्यथा के भार से इतनी दब गई है कि कवि भी उसकी वेदना से अभिभूत होकर 'ठंडा लोहा' तक उसे भुला नहीं पाया है। परिणामतः वह 'डोले का गीत' फागुन की शाम, बादलों की पांत आदि कविताओं में अपने मन के दर्द को उभारता है उसके दर्द की एक-एक परत खुलती गई और वह दर्द को नये अर्थों तक ले गया है। दर्द को नये अर्थों तक ले जाना किसी की दृष्टि में भले ही अनुचित हो, किन्तु वह तो यही कहता है—

> प्रीति ही सब कुछ नहीं है, लोक की मरजाद है सबसे बड़ी
> बोलना रूँधते गले से—
> "ले चलो ! जल्दी चलो ! पी के नगर !"

'ठण्डा लोहा' कविताओं में जो उद्दाम आकर्षण, रूपासक्ति और निर्दोष प्यार मिलता है वह गुनाहों के देवता के चन्दर का प्रारम्भिक रूप है—जब तक वह 'सैक्स' से प्रायः अपरिचित है। भारती का यह पात्र एक ओर तो शुद्ध प्रेम को भोगता है और दूसरी ओर 'पम्मी' के आकर्षण में वासना के अमृत बिन्दुओं का

मानकर कृत-कृत्य हो जाता है । यही दो छोर हैं जो भारती के काव्य में मिलते हैं । चन्दर का यह कथन "पम्मी ने मेरे मन की सारी कटुता, सारा विष खींच लिया, मुझे लगा आज बहुत दिनों बाद में फिर पिशाच नहीं आदमी हूँ । यह वासना का ही दान है । तुम कैसे कहोगी कि वासना आदमी को नीचे ही ले जाती है ।" यह वासना की ओर बढ़ने का ही प्रयास है । वासना को सहज रूप में स्वीकार करके तथा उसे व्यक्तित्व की अनिवार्यता मानकर जैसे वह सन्तुष्ट हो जाता है । यह सन्तुष्टि' ठण्डा लोहा' की कविताओं में मस्ती का गीत बनकर प्रकट होती है—

किसी की गोद में सर धर
घटा घनघोर बिखरा कर, अगर विश्वास सो जावे
न हो यह वासना तो जिन्दगी का माप कैसे हो ?
किसी के रूप का सम्मान मुझ पर पाप कैसे हो ?
नसों का रेशमी तूफान मुझ पर शाप कैसे हो ?
महज इससे किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो
मुझे तो वासना का
विष हमेशा बन गया अमृत
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आबाद ।

भारती के कृतित्व में प्रेम पवित्रता और वासना का मादक नशा उपन्यास से ही शुरू हो जाता है । एक ओर तो वासना का विष अमृत बनकर सामने आता है और दूसरी ओर उसे नारी का रूप सरल निष्काम और पूजा के समान पवित्र दिखाई देता है । स्पष्ट है कि एक दृष्टि के पीछे 'पम्मी' है और दूसरी भावना के पीछे सुधा का निष्कलुष समर्पणमय व्यक्तित्व है । उपन्यास को पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है कि सुधा चन्दर की आत्मा है और वह उसके व्यक्तित्व की कुण्ठाओं को खोलकर सामने रख देती है । कहती है "मैं यह नहीं मानती कि शरीर की प्यास ही पाप है । 'नहीं चन्दर, शरीर की प्यास भी उतनी ही पवित्र है और स्वाभाविक है जितनी आत्मा की पूजा । आत्मा की पूजा और शरीर की प्यास दोनों अभिन्न हैं ।" सुधा पूजा में विश्वास करती है जबकि चन्दर नहीं करता किन्तु वह 'सुधा' को पूजारत देखकर कुछ-कुछ अजीब सा अनुभव करने लगता है—"चन्दर की साँसों में धूप की पावन सौरभ के डोरे गुँथ गये थे, उनके घुटनों पर रह-रह कर सद्यस्नाता सुधा के भीगे केशों से गीले मोती चू पड़ते थे । कृशकाय, उदास और पवित्र सुधा के पूजा प्रसाद जैसे मधुर स्वर..........उसकी आत्मा को अमृत से धो रहे थे, लगता था जैसे पूजा की श्रद्धान्वित बेला में उसके जीवन भर की भूलें, कमजोरियाँ, गुनाह सभी घुलते जा रहे थे ।" उपन्यास की ये पंक्तियाँ ठण्डा लोहा की इन पंक्तियों के साथ मिलकर पढ़ी जा सकती है—

"प्रार्थना की एक अनदेखी कड़ी/बांध देती है/तुम्हारा मन हमारा मन/फिर किसी अनजान आशीर्वाद में/डूबकर/मिलती मुझे राहत बड़ी !/प्रातः सद्य स्नात/कन्धों पर बिखेरे केश/आंसुओं में ज्यों/धुला वैराग्य का संदेश/चूमती रह-रह/वदन को अर्चना की धूप/यह सरल निष्काम/पूजा सा तुम्हारा रूप/जी सकूंगा सौ जनम अधिकारियों में, यदि मुझे/मिलती रहे/काले तमस की छांह में/"

यह सुधा के ही काले बालों की छांह है जिसमें कवि जीना चाहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारती का यह उपन्यास और 'ठण्डा लोहा' का चिन्तन एक विशेष दृष्टि को लेकर विकसित हुए हैं। कवि के मन में एक द्वन्द्व रहा है — क्या सच है ? वासना या पूजा या इन दोनों का सम्मिलित रूप ? वह प्रेम मार्ग में इन दोनों को लेकर संतुलन बनाए हुए एक व्यावहारिक चिन्तन-पीठिका प्रस्तुत करता है। 'सात गीत वर्ष' में यही प्रेम उदात्तीकृत भूमिका लिए दिखाई देता है। वहां तन का रिश्ता मन के रिश्ते तक पहुंच गया है। तन का रिश्ता भी मांसलता से काफी ऊपर उठ जाता है और जूही के फूलों-सा तन अपना समूचा जादू भले ही खो बैठे, किन्तु उसका प्रभाव पहले से कहीं अधिक बढ़ा हुआ है। सौ बात की बात यह है कि 'गुनाहों का देवता' और 'ठण्डा लोहा' भले ही अलग-अलग विधाओं में लिखी गई कृतियाँ हों, किन्तु दोनों की मूल चेतना एक है। 'प्रेम', 'सेक्स' और जीवन के विविध संघर्ष भारती के मन के किसी कोने को कुरेदते रहे हैं और उस 'कुरेदन' को इन कृतियों की आत्मा में देखना कोई कठिन काम नहीं हैं। इस प्रकार यह भी अविस्मरणीय है कि भारती की 'ठण्डा लोहा' की कविताएँ वस्तु और शिल्पगत वैविध्य लिए हुए है। उनमें स्वर-वैविध्य है, किन्तु फिर भी सभी में किशोरावस्था की रूपासक्ति, प्रणयजन्य मादक अनुभूतियाँ, निराशा की तीव्रता और भावाकुल तन्मयता की घनीभूत स्थितियों का अभिव्यन्जन है। इनकी संघर्ष चेतना और यथार्थ जीवन से द्रवित होने की वृत्ति भी रोमांटिक भावनाओं की छाया में पढ़ी जा सकती है। कुछेक रचनाओं में जीवन की कटुतम अनुभूतियों को भी रोमानी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। संघर्ष क्रान्त मध्यवर्गीय मानव की विविध मनः-स्थितियों का रूपांकन इसका प्रमाण है। ठण्डा लोहा की प्रथम रचना ही इसका प्रमाण है—

"मेरे और तुम्हारे सारे भोले निश्छल विश्वासों को/आज कुचलने कौन खड़ा है ?/ठण्डा लोहा।/फूलों से, सपनों से, आंसू और प्यार से/कौन बड़ा है ?/ठण्डा लोहा !/"

'ठण्डा लोहा' उन मध्यवर्गीय कुंठाओं का प्रतीक है जो जीवन में मनहूसियत और निराशा को जन्म देती है। 'ठण्डा लोहा' की ही कविता कवि और अनजान पगध्वनियां में भारती के नये चिन्तन की पीठिका को अभिव्यक्ति मिली है। यह वह

कविता है जिस तक आने में कवि को अनेक रोमानी गलियों व गलियारों से गुजरना पड़ा है : इन गलियों में कहीं रूप ने कवि का मन बांध लिया है तो कभी खिड़की से झांकती मस्ती ने आंख मिचौनी का खेल खेला और कभी किसी की तलाश में कवि की आंखें फटी की फटी रह गई है। अनजान पग ध्वनियों में नयी आहट है, नयी खटखट है जो कवि के मन में जन्म लेने वाली मोती-सी उपमाओं पर विवेक की चादर तान देती है। पलकों के स्वप्न हवा हो जाते हैं और उनमें मकड़ी का भूरा जाला छा जाता है—

"काली ठण्डी चट्टानों पर/उदास बैठा/मैं सोच रहा/क्या हुआ मुझे ?/ मेरी पलकों पर स्वप्न नहीं/मकड़ी का भूरा जाला है अक्सर जीवन का सत्य द्वार मेरे आया 'औ' लौट गया/उससे बढ़कर/अब यह मेरा खोखला हृदय/धीरे-धीरे है भूल रहा..........!"

इसी क्रम में 'फूल, मोमबत्तियां, सपने' और कलाकार से व कविताओं को पढ़ा जा सकता है। इनकी भाव—भूमि भी बदली हुई है, किन्तु यह भूमि पहली के बाद ही आती है—तात्पर्य यह है कि यहां आने पर भी पहली किशोर भावना का महत्व कतई कम नहीं होता क्योंकि उन्हीं से गुजरकर तो कवि यह भूमि पा सका है।

सात गीत वर्ष :

'सात गीत वर्ष' की भूमि ठण्डा लोहा से आगे की मंजिल का रास्ता बताती है। आज दुनियां कितनी बदल गई है कहीं आराम नहीं, कहीं चैन नहीं। सभी जगह थकान ही थकान, विवशता ही विवशता, टूटन ही टूटन और इन सब के ऊपर कहीं कोई आशा की किरण नहीं दिखाई देती है। इस संग्रह में कवि आस्था और विश्वास का दीप जलाकर सभी पराजितों को आशा और विश्वास की छांह में जीवन बिताने के लिए 'न्यौतता' प्रतीत होता है। उसका विश्वास है कि आज के अधूरे व्यक्तित्व कल, सम्पूर्ण बनेंगे और हमारी टूटती जिन्दगी नये ढंग से गठित होगी। सही बात यह है कि 'सात गीत वर्ष' का भारती न तो पलायन में विश्वास करता है और न निराश होकर जिन्दगी से मुंह मोड़ लेता है वरन् वह तो स्थिति की जटिलता और जीवन की असलियत को सही रूप में देखने और भोगने के पक्ष में है। यह भोगना बेमानी नहीं है, उसके पीछे एक आशा है, एक आस्था है। सही मानियों में भारती अज्ञेय की ही भांति जीवन के प्रति आस्थावान है। अज्ञेय इसी आस्था के सहारे मिट्टी के मानव को भी देवता बन जाने तक की स्थिति के कायल हैं तो भारती भी 'कमल', 'पंथ' और सूर्य की आस्था पर जीवित है—

रात :/पर मैं जी रहा हूँ निडर/जैसे कमल/जैसे पंथ/जैसे सूर्य/क्योंकि कल भी हम खिलेंगे/हम चलेंगे/हम उगेंगे !/और वे सब साथ होंगे/आज जिनको रात ने भटका दिया है !/

इस प्रकार भारती न तो जटिल संघर्षों को सरल बनाकर भोगने के पक्ष में हैं और न उनसे असम्पृक्त ही रहना चाहते हैं, वे तो यथार्थ और सामयिक संघर्ष को उसके असली रूप में भोगते हुए भी आस्थावान है। कुछेक कविताओं में मानव की शक्ति, सीमा और महिमा का भी गुणगान मिलता है। भारती भाग्यवादी नहीं, कर्मवादी है—आस्थामय कर्मवादी। वे जानते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। जीवन में यदि कहीं सफलता है, मंजिल तक पहुँचने की धुन है तो वह व्यक्ति की ही शक्ति है, उसकी ही पौरुषमयी चेतना है। सफलता तक पहुँचने में वह हारता भी है, टूटता भी है, किन्तु इसी हारने, टूटने, खीझने और बिखरने से वह बनता भी है, संवरता भी है, और यह सब वह अपने पौरुष से करता है या कर सकता है। इस प्रकार व्यक्ति कितना ही घुटले, टूटले और खीझ खीझकर पकले उसे अपनी ही आस्था का सम्बल मिलना है—उसे अपने आप ही बढ़ना है। मनुष्य का यही शक्ति भारती के चिन्तन की नयी रोशनी है—ऐसी रोशनी जहां सारा धुआं हवा हो जाता है। प्रभु के प्रति सम्बोधित 'कौन चरण' शीर्षक से लिखी गई कविता में यही चेतना व्याप्त है—

प्रभु !/पर तुम तो केवल पथ हो/चलना तो हमको ही होगा/हिम की ठण्डी चट्टानों पर/गलना तो हमको ही होगा/सब टूटे और अधूरे हम/हमको कुछ ऐसा लगता प्रभु/तुम भी केवल निष्क्रिय पथ हो/चलना तो हमको ही होगा/आखिर होंगे वे यही चरण/जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को/मिल पायेगी अन्त में शरण।

'सात गीत वर्ष' का भारती अज्ञेय के ही 'स्कूल' में पढ़ा हुआ है। अतः यह अज्ञेय के 'भावनाएँ' तभी फलती है कि लोक का अंकुर कहीं फूटे का अनुयायी बन गया है। यही कारण है कि वह लोक हित के ध्यान में डूबा युग के प्रति जागरूक है। वह व्यक्तिगत हितों को सामाजिकता की चादर उढ़ाकर जनहित की आग जलाता है और युग-पथ पर जन-जन के साथ आगे बढ़ता हुआ, समाजोन्मुखता का सामूहिक गीत गाता हुआ, मानवता के पथ पर बढ़ना चाहता है। उसकी कामना है :

"वैयक्तिक सीमाएँ तोड़/इतिहास के संग गति मोड़/जिस दिन हम युग-पथ पर/जन-जन के साथ/बढ़ते होंगे फिर दृढ़ पग/उन्नत माथ/हम सब के होंठों पर सामूहिक गीत/गतियों की वल्गा/जननायक के हाथ।"

परन्तु वह सबके साथ है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह पराजित है, अस्तित्वहीन है, या अपनी वैयक्तिक सत्ता को सामूहिक गति में इसलिए मिलाता है कि उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। मात्र की अस्तित्ववादी चेतना, लघुतम स्थिति में भी डटे रहने की उद्दाम लालसा तथा अपने व्यक्तित्व के प्रति सजगता आदि सभी कुछ तो उसमें है। उसकी आत्म-चेतना का प्रवाह समष्टि की सीमाओं से घिरकर समाप्त नहीं हो गया है, वरन् वह तो जीवन के प्रत्येक क्षण में चैतन्य है, अपने अस्तित्व को सही तरीके से प्रमाणित करता है—

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ/लेकिन मुझे फेंको मत/क्या जाने कब इस/दुरूह चक्रव्यूह में, अक्षौहिणी सेनाओं को/अकेले चुनौती देता हुआ/कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय।"

व्यक्तित्व को बनाये रखकर भी विराट में मिलने के पीछे एक भावना है। हम संसार में अकेले छूट गये हैं। हमें जीना है और अनस्तित्व में भी अस्तित्व पाना है किन्तु अपनी सार्थकता को संसार से अलग रखकर अभिव्यक्त करने का कोई अर्थ नहीं है। हम विराट के अंश है, सागर की बूंद हैं, किन्तु सागर में मिलकर भी अपने में एक है, अपने जीवन के प्रति सचेत है। हमारी पूर्णता और स्वतन्त्रता सागर या विराट के साथ रहकर भी अक्षुण है। आज हमें पिछले जमाने में बोयी विषमता की फसलों को भी काटना है धरती को भी काटना है, धरती को फिर से संवारना है, नये बीज डालकर, प्यार, पसीना और आंसुओं की फसल उगानी है, किन्तु साथ ही सामाजिक पार्थक्य या भेदीकरण की नीति को भी समाप्त करना है क्योंकि सभी का दर्द एक-सा होता है, सभी का पसीना, सभी के आंसू, सभी का प्यार और सभी की हमदर्दी एक-सी होती है। अतः मेड़ें बांधना बेकार है, भूमि सबकी है और दर्द भी सभी का है। यह मान्यता हमें भारती की मानवतावादी दृष्टि का परिचय देती है। कवि का यह कथन इसी 'मूड' में पढ़ने के काबिल है :

"बिना किसी बाधा के/नित नयी दिशाओं में/जाने की सुविधा दो/बिना किसी बाधा के/श्रम के पसीने से/सिंची हुई फसलों को/खेतों से आंतों तक जाने की सुविधा दो।"

इस संकलन में कहीं व्यंग्य है तो कहीं 'वृहन्नला' के माध्यम से आज के क्लीवी शौर्य का पोस्टमार्टम भी है। कहीं जीवन की रिक्तता है तो कहीं घुटन का धुआं भी है, किन्तु इन सबके ऊपर यादों की मीनार खड़ी है, फूलों की गंध भरा आंगन है और है प्रकृति के ताजे-ताजे, अनाघ्रात, और अचुम्बित चित्र जिन्हें देखकर लगता है कि कवि नये स्वरों को साधते हुए भी अपने प्रारम्भिक मनोभाव को पूरी तरह भुला नहीं पाया है। भुलाये भी कैसे उसने उन क्षणों को जिया है और वह

उनमें खोया भी है अगर आज वह ईश्वर के अनस्तित्व, सामाजिक चिन्तना, मानवीय स्वतन्त्रता और नयी मानवता की बात करने लगा तो क्या हुआ ? रोनानी सौन्दर्य-बोध के संदर्भ में नवम्बर की दोपहर' 'ए वन' रचना है जो अपने हल्के और गुनगुने स्पर्शों से मन को तरोताजा कर जाती है, किन्तु यह ताजगी रह नहीं पाती है क्योंकि जीवन की जटिलताएँ सारी मदहोशी को फूलों के बंधन को ढीला कर देती हैं और भावाकुल तन्मयता के क्षणों में कई प्रश्न चिह्न मुँह बाये खड़े हो जाते हैं। यही वह बिन्दु है जहाँ कवि दो स्तरों पर एक साथ जीना चाहता है। प्रयास तो कई बार हुआ है कि कोई ऐसा मूल्य स्तर खोजा जा सके जिस पर ये दोनों ही स्थितियाँ अपनी सार्थकता पा सकें—पर इस खोज को कठिन पाकर दूसरे आसान समाधान ढूँढ लिए गये हैं - मसलन इन दोनों के बीच एक अमिट पार्थक्य रेखा खींच देना—और फिर दूसरे बिन्दु से खड़े होकर उस बिन्दु को और उस बिन्दु से खड़े होकर इस बिन्दु को मिथ्या भ्रम घोषित करना ··· या दूसरी पद्धति यह रही है कि पहले वह स्थिति जी लेना, उसकी तन्मयता को सर्वोपरि मानना और बाद में दूसरी स्थिति का सामना करना, उसका समाधान खोज लेने के प्रयास में पहली को बिल्कुल भूल जाना। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारती दोनों मनस्थितियों में जिए हैं और पूरी तरह डूबकर बिना दोनों को मिलाए।

कनुप्रिया :

राग-सम्बन्धों की वैचारिक परिणति 'कनुप्रिया' में भी यही स्तर दिखाई देता है। एक ओर राधा की भावाकुल तन्मयता तो, दूसरी ओर उसके द्वारा अनजाने में ही उठाये गये प्रश्न। वस्तुतः राधा ने भावाकुल जीवन जिया है—यही उसके व्यक्तित्व के अनुरूप भी है, किन्तु उसके प्रणय को भारती ने एक वैचारिक पृष्ठभूमि भी दी है। इस पृष्ठभूमि के पीछे एक अनिवार्य तथ्य काम करता दिखाई दे रहा है और वह है जीवन के बदलते हुए मानदण्ड। बीसवीं शती में हमारी मान्यताओं में कितना हेर-फेर हुआ है, कितना कुछ बदला, बना और बिगड़ा है। ऐसी स्थिति में यदि 'कनुप्रिया' की भावाकुल तन्मयता कुछ नये वैचारिक संदर्भों का उद्घाटन करे तो कोई आश्चर्य नहीं है।

'कनुप्रिया' प्रबन्ध है—रागात्मक प्रबन्ध जिसमें प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता है। कुछ आलोचकों ने न जाने किस आशंका से, न जाने कौन से विश्वास से इसे गद्य काव्य भी नहीं माना है। यह प्रबन्ध पाँच खण्डों में विभक्त है : पूर्वराग, मंजरी परिणय, सृष्टि संकल्प इतिहास और समापन ये खण्ड इस बात की सूचना देते हैं कि 'कनुप्रिया की भावाकुल तन्मयता के ही विविध संदर्भ हैं और उन सभी में एक सूत्र प्रारम्भ से समापन तक गुंथता चला गया है। यह सही है कि राधा प्रारम्भ से ही प्रश्न की भूमि तैयार करती है और धीरे-धीरे उसी को विकसित

करती गई है, किन्तु यह भी सही है कि वह दो बिन्दुओं पर एक साथ उपस्थित है। कवि स्वयं इन दोनों विरोधी बिन्दुओं को पूरक बनाने की धुन में लगा रहा है। यही वह स्थल है जहाँ से प्रबन्ध के एक पक्ष का जीवन शुरू होता है। अतः अन्विति, समस्या या संदर्भ विशेष चरित्रांकन और प्रभावात्मक योजना की दृष्टि से कनुप्रिया प्रबन्ध बन गई है।

अंधायुग :

'कनुप्रिया' की भाँति ही भारती की कृति अंधायुग भी उल्लेख्य और विशिष्ट कृति है, फर्क इतना ही है कि 'कनुप्रिया' राग-सम्बन्धों की वैचारिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है और अंधायुग पौराणिक आख्यान के सहारे समसामयिक जीवन के संकट का प्रतिबोधक है। दोनों की समस्याएँ तत्वतः भिन्न नहीं है—भिन्न है तो केवल बिन्दु तक पहुँचने का माध्यम। 'कनुप्रिया' केवल काव्य है किन्तु 'अंधायुग' एक साथ ही नाटक भी है और काव्य भी। अतः उसको 'गीति-नाट्य' कहना ज्यादा सही है। यह नयी विधा है। नयी कविता जिन नये धरातलों पर अवतरित हुई है उनमें इस नयी विधा को विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

'अंधायुग' पौराणिक विषय के सहारे लिखा गया है—ठीक 'कनुप्रिया' की तरह। भारती जैसा कि कहा जा चुका है आधुनिक संवेदनाओं के कवि हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि भारती ने महाभारत के उत्तरार्द्ध की कथा को लेकर समसामयिक बोध को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इस 'गीतिनाट्यात्मक प्रबंध' की कथावस्तु का घटनाकाल महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक का है। कवि ने इसका प्रारम्भ महाविनाश के संकेतों से किया है। कृतिकार का अभीष्ट प्रारंभ से ही यह बताना रहा है कि महाभारत का युद्ध अनीति, अमर्यादा, कुंठा, निराशा अर्द्ध सत्य व अदूरदर्शिता से भरपूर था। एक मानी में सारा समाज ही वैयक्तिक स्वार्थों, निराशा और कुंठा से ग्रस्त होने के कारण अन्धा हो गया था। कहीं भी कुछ भी ऐसा नहीं था जो जल्दी देखने की अपेक्षा सही देखता। कृष्ण की युद्धनीति जन्य कुटिलता, युधिष्ठिर की 'अश्वत्थामा हतो'...... आदि अर्द्धसत्य की सूचक पंक्ति, भीम व दुर्योधन की युद्ध जन्य कुटिल नीति व कौरव और पाण्डव दोनों का बढ़ता हुआ स्वार्थ इस बात का सूचक था कि इस वातावरण में ज्योति-किरण को पहचानने के लिए किसी के पास भी दृष्टि नहीं थी। यह रूपांकन केवल चित्रण नहीं है वरन् इस बात की भी सूचना है कि आधुनिक युग की भयंकर व कंपा देने वाली जटिलताएँ भी वैसी ही हैं—विश्वास छूट गया है, स्वार्थ और 'अंधापन' दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। सभी अपनी-अपनी धुन में हैं किसी को किसी की जरूरत नहीं रह गई है। कोई पीछे नहीं देखता आगे देखने की तो बात ही दूर है।

कवि की 'अपील' यह रही है कि वह आज के घटाटोप में भटकते हुए मानव को भविष्य के प्रति सावधान कर दे। इस बिन्दु से अन्धायुग अन्धों की कहानी होकर भी प्रकाश की कहानी बन गया है। उसमें आशा और विश्वास की किरणों का प्रसाद है। कवि ने इसकी स्वयं सूचना दे दी है —

> युद्धोपरांत
> यह अन्धायुग अवतरित हुआ
> जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
> ....
>
> यह कथा उन्हीं अन्धों की है
> या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।

इस प्रकार अन्धायुग निराशा कुंठा की अभिव्यंजनाओं से युक्त होकर भी प्रकाश की कथा है. उसकी विषयवस्तु विवेक. मर्यादा और अर्द्धसत्य को लेकर चलती है किन्तु सत्य की तलाश में, प्रकाश की आशा में। सच ही भारती को एक अनुकूल स्थल मिल गया है। एक ओर वे महाभारत के युद्धान्त के दृश्यों को देखते हैं और दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध की भयंकरताओं के पश्चात् आया युग उनके सामने है जिसमें महाभारतीय अनाचार. अमर्यादा और अनैतिकता का पल्लवन है। चारों ओर रक्तपात ही रक्तपात—'अन्धतो ही अन्धता' स्वार्थ और अमर्यादा का ही बोलवाला है। अतः कवि भविष्य के खतरों से सावधान रहने का सन्देश देता है। अन्धायुग' कवि के सामने एक जीवन-संकट बन गया है, जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ सभी विकृत हैं और कवि इस संकट की पुनरावृत्ति तीसरे महायुद्ध के रूप में नहीं होने देना चाहता है।

'अन्धायुग' पाँच अंकों में समाप्त हुआ है, जिसमें कौरवों की अन्तिम पराजय से लेकर कृष्ण की मृत्यु तक की कथा सिमटी हुई है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कथा में संगठन है, कहीं भी कोई तार टूटता नहीं दिखाई देता है। प्रत्येक घटना-स्थिति और अनुभूति मूल चेतना से सम्पृक्त है। अंकों के शीर्षक प्रतीकात्मक स्तर पर खुलते हैं। कौरव नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य, पंख पहिए और पट्टियाँ, विजय : एक क्रमिक आत्महत्या तथा कृष्ण का अवसान स्वयं रचनाकार के ही शब्दों में कथा विकास तथा मानवीय मर्यादा की सापेक्ष स्थिति के सूचक हैं। 'स्थापना' से 'समापन' तक सभी कुछ गुंथा हुआ है—कोई भी दृश्य, प्रसंग या मनःस्थिति मूल चेतना से कटी हुई नहीं है। सम्पूर्ण कथानक बुना हुआ है, दुर्योधन की पराजय. भीम और दुर्योधन का मल्लयुद्ध, युधिष्ठिर के अधूरे सत्य से उत्पन्न अश्वत्थामा की मनोग्रंथि का जन्म. अश्वत्थामा में हिंसा की जागृति उसके समस्त अकरणीय कर्म, तथा अनन्त शारीरिक कौरूप्य, 'युयुत्सु' के मन की 'ग्रंथि'

और आत्महत्या के रूप में उसमें मुक्ति पाना, कृष्ण-गांधारी वर्ता और कृष्ण की मृत्यु, आदि सभी घटनाओं में प्रभाव डालने की पर्याप्त क्षमता है तथा ये सभी परस्पर अनुस्यूत हैं। इन सभी को मिलाने और अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने कथा-गायन-पद्धति का सहारा लिया है।

काव्य-प्रवृत्तियाँ :

यद्यपि पिछले पृष्ठों में भारती के काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ आ गई हैं किन्तु स्पष्ट व्यंजना के लिये उन्हें इस प्रकार संकलित किया जा सकता है—

1. भारती मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। उनका प्रारम्भिक काव्य मूलतः रोमानी भावबोध का काव्य है। जहाँ कहीं भी संघर्ष-चेतना और यथार्थ जीवन की अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं, वहाँ भी कवि ने रोमानियत को नहीं छोड़ा है। उन्हें नारी के रूप-सौन्दर्य और माँसल प्रेम के गीत लिखने में पर्याप्त सफलता मिली है। सात गीत वर्ष से पहले की कविताओं में किशोर भावुकता की अभिव्यक्ति हुई है। प्रेम, सौन्दर्य, विरह और मिलन के चित्र उनकी कविताओं में भरे पड़े हैं। उनकी प्रेम सम्बन्धी कविताओं में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष मिलते हैं। मिलन के क्षणों में कवि अपनी प्रिया के वक्ष की जादू भरी मदहोश गरमाई में अपने को डुबा देता है। यही गरमाई 'कनुप्रिया' जैसे काव्य में पहुँच कर वियोग में परिणित हो गई है। संयोग के क्षणों में यदि कवि यह कहता है कि "अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे, अगर मैंने किसी के नयन के बादल कभी चूमे, महज इससे किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो" तो विरह के क्षणों में अपने प्रिय की याद में प्रतीक्षारत 'राधा' की वियोग वेदना का यह स्वरूप देखिए जिसमें वह कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठी विचारों की माला गूँथती दिखाई दे रही है—

> उस दिन तुम उस बौर लदे आम की
> झुकी डालियों से टिके कितनी देर मुझे वंशी से टेरते रहे
> ढलते सूरज की उदास कांपती किरणें
> तुम्हारे माथे के मोर पंखों
> से बेबस विदा माँगने लगीं –
> मैं नहीं आई, मैं नहीं आई !!

2. प्रणय के अतिरिक्त भारती के काव्य में दूसरी विशेषता सौन्दर्यानुभूति से सम्बन्धित है। भारती की कल्पना सौन्दर्य की उपासिका है वे एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने सौन्दर्य के माध्यम से ही शिव तत्व की प्राप्ति की है। उनके सौन्दर्य वर्णन में प्रकृति सौन्दर्य और नारी सौन्दर्य की अनाघ्रात छवियाँ मिलती हैं। कहीं तो उनके काव्य में सौन्दर्य का स्वतन्त्र वर्णन मिलता है और कहीं नारी के माध्यम से सौन्दर्य

को चित्रित किया गया है। प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों रूप उनकी कविताओं में मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियों को देखिए—

तुम्हारे स्पर्श की बादल-धुली कचनार नरमाई।
तुम्हारे वक्ष की जादू भरी मदहोश गरमाई।
तुम्हारी चितवनों में नरगिसों की पांत शरमाई।
किसी के मोल पर मैं आज अपने को मिटा सकता।

नारी सौन्दर्य के वर्णन के लिए कवि ने प्रकृति के अनेक उपकरणों का सहारा लिया है। इस प्रकार भारती की सौन्दर्यानुभूति अपने आप में विशिष्ट है। कहीं उनकी सौन्दर्य दृष्टि असुन्दर वस्तु को भी सौन्दर्य के आवरण में लपेटकर प्रस्तुत करती है और कहीं सुन्दर वस्तु भी कुरूप हो जाती है। 'ठण्डा लोहा' और 'सात गीत वर्ष' की अनेक कविताओं में ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ कवि की सौन्दर्यानुभूति सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है।

3 भारती के काव्य की तीसरी विशेषता वैयक्तिकता है। उनके काव्य में व्यक्तिगत अनुभूतियाँ आकार पा सकी हैं। कहीं कहीं तो उनका व्यक्तिवाद अनावश्यक रूप से कविताओं की पंक्ति में आ बैठा है। इतने पर भी यह स्पष्ट है कि जिन वैयक्तिक अनुभूतियों की सीमा में भारती अपनी अनुभूतियों को रागात्मकता प्रदान करते हैं, वे वहाँ अत्यन्त 'पर्सनल' हो जाती हैं। वैयक्तिकता के चित्रण में कवि बौद्धिकता को भी नहीं भुला पाया है 'नया रस' नामक कविता में कवि रस की बात बौद्धिक भूमिका पर करता हुआ आलिंगनों और चुम्बनों की बौछार लगा देता है—

"फिर क्या है ?/चुम्बन आलिंगन का जादू/मन को जैसे ऊपर ही ऊपर छूकर रह जाता है।/अन्दर जहरीले अजगर जैसे प्रश्न चिह्न/एक पसली को जकड़ लेते हैं/फिर भी बेकाब तन/इन पिघले फूलों की रसवन्ती आग बिना।/चैन नहीं पाता है।"

4. भारती के काव्य में जहाँ एक ओर प्रेम, सौन्दर्य और वैयक्तिकता का स्वर मुखरित हुआ है वहीं दूसरी ओर यथार्थ का स्वर भी अभिव्यक्ति पा सका है। 'ठण्डा लोहा' कविता संग्रह उनकी यथार्थ परक दृष्टि को प्रस्तुत करता है। ठण्डा लोहा' मध्यवर्गीय कुण्ठाओं का प्रतीक है जो जीवन में मनहूसियत और निराशा भर देती है। 'पग ध्वनियाँ' शीर्षक कविता में भारती के चिन्तन को यथार्थ आधार प्राप्त हुआ है। 'सात गीत वर्ष' में यही यथार्थ कुछ अधिक विकसित होकर सामने आया है। इसमें मध्यमवर्गीय जीवन की थकान, घुटन, टूटन, निराशा, उदासी, अजनबीपन और अकेलापन जैसी अनुभूतियों के स्वर विद्यमान हैं। 'टूटा पहिया' शीर्षक कविता का स्वर न केवल यथार्थवादी है, अपितु जीवन की सच्चाइयों का संकेतक भी है—

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ/लेकिन मुझे फेंको मत/इतिहासों की सामूहिक गति/सहसा झूठी पड़ जाने पर/क्या जाने सच्चाई/टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।"

इतना ही नहीं 'नया रस' कविता का यथार्थ भी यद्यपि आरोपित लगता है, लेकिन फिर भी प्रभावित करता है। यथार्थ के स्वर 'भारती' की और भी अनेक कविताओं में मिलते हैं। जीवन में व्याप्त निराशा, वेदना और खोखलेपन का चित्रण भी यथार्थ की भूमिका पर किया गया है। 'कविता की मौत' की अन्तिम पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। इस कविता में कलाकार ने चित्रित किया है कि कला भूखी और भुखमरी का शिकार बनकर जी रही है। परिणामत उसकी कल्पना मर गई है। ऐसी स्थिति में वह जो भी प्रकट कर रही है वह समसामयिक जीव का यथार्थ ही है।

5. यथार्थ के स्वर के साथ-साथ भारती के काव्य में मानवतावाद का स्वर भी सुनाई देता है। उनका मानवतावाद कुछ निश्चित दिशाएँ लिए हुए है। उनका ईश्वर सामान्य मनुष्य की तरह कार्य करता है। यही कारण है कि अन्धा युग के कृष्ण में जो ईश्वरत्व है वह गाँधारी के सन्देह का कारण बनता है। उनकी दृष्टि में परम्परागत धर्म और रूढ़ियों के साथ-साथ अन्धविश्वासों ने भी मानवता के विकास को रोक लिया है। अतः वे सच्चा धर्म उसी को स्वीकार करते हैं जो मनुष्य को संघर्ष सहने और अनेक विषमताओं की उपेक्षा करते हुए निरन्तर धर्म का सन्देश देता है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "साधारण, छोटे महत्वहीन, नगण्य मनुष्य की मुक्ति उसकी निहित सम्भावनाओं का विकास, उसकी चेतना पर जकड़ी हुई राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक जंजीरों को खोलकर उसे अपने विवेक, अपनी जीवन पद्धति से व्याप्त सत्य की निजी उपलब्धि करने का अवसर देना, उसके और जटिलतम ताने-बाने को ठीक-ठीक समझना और किसी काल्पनिक भविष्य नहीं वरन् इसी कटुतम वर्तमान में सामान्य मानव की नियति को संस्कार दे सकने की क्षमता, यही नये साहित्य की मानवतावादी प्रकृति है। प्रमाण के लिए एक ही उदाहरण काफी होगा—

वैयक्तिक सीमाएँ तोड़
इतिहास के संग गति मोड़
जिस दिन हम युग पथ पर
जन-जन के साथ
बढ़ते होंगे फिर दृढ़ पग
उन्नत माथ
हम सबके होठों पर सामूहिक गीत

गतियों की वल्गा
जन नायक के हाथ।

6. भारती ने मध्य वर्ग के मानव की अनेक ऐसी स्थितियों के चित्र प्रस्तुत किए हैं जो सुबह से शाम तक मनुष्य को तोड़ती रहती हैं। सुबह से शाम तक खटने वाले और परिस्थितियों से पीड़ित व्यक्ति में भी उन्होंने अपराजित भावना का चित्रण किया है। अन्धा युग तथा पराजित पीढ़ी के गीत में मध्य वर्ग की चेतना के सहारे तथाकथित पवित्रता को चुनौती दी गई है। कवि ने लिखा है—

हम सब के दामन पर दाग
हम सब की आत्मा में झूठ
हम सब के माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवार की मूँठ

कहने की आवश्यकता नहीं कि भारती की कविता में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं वे प्रेम, सौन्दर्य, यथार्थ, मानवतावाद और अन्ध परम्पराओं से मुक्ति के भाव को व्यक्त करती हैं। उन्होंने यदि कहीं अनास्था, विघटन व अभिशापित स्थितियों का चित्रण भी किया है तो भी उनकी सृजन-क्षमता उन्हें निरन्तर निर्माणकारी शक्तियों से जोड़े रही है। यही उनकी आस्था है और इसी की प्रतिबोधक अनेक कविताएँ 'सात गीत वर्ष में देखी जा सकती हैं।

कनुप्रिया का प्रतिपाद्य :

सन् 1959 में प्रकाशित 'कनुप्रिया' राग-सम्बन्धों की की वैचारिक परिणति प्रतीत होती है। यह वह कृति है जिसमें पुरानी कथा के माध्यम से नये कथ्य को सम्प्रेषित किया गया है। राधा और कृष्ण का प्रणय-प्रसंग भारतीय काव्य के निमित्त परंपरित तो है, किन्तु 'कनुप्रिया' में पारंपरित का ग्रहण या चर्वित चर्वण मात्र नहीं है। इसमें प्रसिद्ध पौराणिक संदर्भ के सहारे आधुनिक मानव की युद्धोत्तर अवश स्थिति को निरूपित-प्रतिरूपित किया गया है। यही कारण है कि 'कनुप्रिया' में मात्र युगल-विलास का पारंपरीण चित्रण नहीं है और न मात्र रीतिकालीन संदर्भों की लकीर पीटती 'गजगौनी राधा' को ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ जो राधा है वह रसवंती, प्रेममयी और मानवती होकर भी अन्तःप्रज्ञ है। वह तो भावाकुल तन्मयता के क्षणों को जीकर भी प्रश्नाकुल है। प्रणय-जनित समर्पण के बाद भी उसे अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व की सजगता और महत्ता का पूरा ज्ञान है। तभी तो वह समर्पण के बाद भी मनःकृत करती है—अपनी समस्त भावाकुलता के बावजूद प्रश्नाकुल है, उसके मन में उगा अनुराग का अंकुर विकसित व प्रवर्धित होकर अनजाने में ही प्रश्नों-उपप्रश्नों की कलियों के रूप में फूटता दिखाई देता है।

'कनुप्रिया' की विशिष्टता इसी में है कि उसमें कवि ने एक प्राचीन कथा-प्रतीक की प्रबन्धात्मक प्रस्तुति सफलतापूर्वक करदी है। 'पूर्वराग' मंजरी परिणय, सृष्टि-संकल्प, इतिहास और समापन की क्रमिक शृंखला में बंधी 'कनुप्रिया' एक ओर तो पारंपरिक संदर्भों के रंगों से अनुरंजित है और दूसरी ओर युगीन-संवेदना सिक्त भाव बोध से अनुप्राणित भी है। वस्तुतः 'कनुप्रिया' इस तथ्य को रेखांकित करती है कि आज भी नयी संवेदना की अभिव्यंजना हेतु—उपयुक्त प्रतीक-सृष्टि के निमित्त प्राचीन संदर्भ अपनी सार्थकता रखते हैं।

'कनुप्रिया' में हम दो केन्द्र-बिन्दुओं को पाते हैं—क्षण और सहज। 'कनुप्रिया' कृष्ण की प्रिया है। वह कैशोर्य-सुलभ मनस्थितियों में जीती है। इसी से वह विवेक से अधिक तन्मयता, ऐतिहासिक उपलब्धियों से अधिक सहज जीवन में सार्थकता के बिन्दुओं को तलाशती दिखाई देती है। उसे जिस 'चरम तन्मयता के क्षण' की तलाश है उसमें समस्त बाह्य—अतीत, वर्तमान और भविष्य सिमट कर पुंजीभूत हो गया है। प्रथम भाग के तीन चरण ये हैं—पूर्वराग, मजरी परिणय और सृष्टि-संकल्प। इनमें सहज जीवन भावाकुल तन्मयता के साथ जिया गया है। राधा पूरी ईमानदारी से यह जीवन जीती है और अपनी कैशोर्य-सुलभ भावनाओं को एक मुग्धा की भांति निवेदित करती चलती है। निश्चय ही इस भूमिका पर जिया गया जीवन सिद्धों की सहज-साधना के महासुख, वैष्णवों के महाभाव और पाश्चात्य दार्शनिकों के क्षण बोध का सम्मिलित रूप प्रस्तुत करता है। दूसरे खण्ड में 'इतिहास' और 'समापन' नामक चरण आते हैं। इनमें महाभारत काल से जीवन के अन्त तक शासक, कूटनीतिज्ञ व्याख्याकार कृष्ण के इतिहास निर्माण को 'कनुप्रिया' की दृष्टि से देखने का उपक्रम किया गया है। इन चरणों में 'कनुप्रिया' अपने द्वारा जिये गये अब तक के भावाकुल एवं सहज जीवन के प्रति पूरी संगति नहीं बिठा पाती है। उसे लगता है कि कहीं कुछ ऐसा है जो पहले पर प्रश्न लगा देता है अथवा सप्रश्न स्थितियों को सहज स्थितियों की ओर ले जाना चाहता है। असल में आलोच्य काव्य का यह खण्ड कवि की परवर्ती चिन्तना को व्यक्त करता है अथवा कहें कि 'अन्धायुग' के चिन्तन को एक दूसरे स्तर से, एक दूसरे कोण से प्रस्तुत करता है। यहाँ 'कनुप्रिया' अर्थात् राधा की भावाकुलता अनजाने में ही क्रमशः प्रश्नाकुल होती गई है। यही वह बिन्दु है जहाँ कवि दो स्तरों पर एक साथ जीना चाहता है और जीता भी है। काव्य की भूमिका में उसने यह कहा भी है : "प्रयास तो कई बार हुआ है कि कोई ऐसा मूल्यस्तर खोजा जा सके जिस पर ये दोनों स्थितियाँ अपनी सार्थकता पा सकें—पर इस खोज को कठिन पाकर दूसरे आसान समाधान खोज लिये गये हैं। मसलन इन दोनों के बीच एक अमिट पार्थक्य-रेखा खींच देना और फिर इस बिन्दु से खड़े होकर उस बिन्दु को और उस बिन्दु से खड़े होकर इस बिन्दु को मिथ्या भ्रम घोषित करना। .... या दूसरी पद्धति यह रही है

कि पहले वह स्थिति जी लेना, उसकी तन्मयता को सर्वोपरि मानना और बाद में दूसरी स्थिति का सामना करना उसके समाधान की खोज में पहली को बिल्कुल भूल जाना। इस तरह पहली को भूलकर दूसरी और अब दूसरी से फिर पहली की ओर निरंतर हटते-बढ़ते रहना धीरे-धीरे इस असंगति के प्रति न केवल अभ्यस्त हो जाना वरन् इसी असंगति को महानता का आधार मान लेना।"

'कनुप्रिया' भी इसी भूमिका पर खड़ी है। एक ओर तो यहाँ राधा की भावाकुल तन्मयता है और दूसरी ओर अनजाने में ही उसके द्वारा उठाये गये प्रश्न हैं। वस्तुतः राधा ने भावाकुल जीवन जिया है जो उसके व्यक्तित्व के अनुरूप भी है, किन्तु उसकी प्रणय-भावना को भारती ने एक वैचारिक पृष्ठभूमि भी प्रदान की है। यों राधा ने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में डूबकर सार्थकता पाई है और वह उद्घोषित महानताओं से अभिभूत व आतंकित नहीं है। वह तो इसके लिए आग्रहवती है कि उसी सहज की कसौटी पर समस्त को कसेगी। इस सहज की कसौटी पर ही समस्त को कसने के प्रयत्न में ही 'कनुप्रिया' राग-सम्बन्धों की प्रश्निल मनोभूमि पर गंधोच्छल संदर्भों के साथ उपस्थित है। प्रश्नों की यह मनोभूमि इस कृति को जो सहज वैचारिकता प्रदान करती है वह अकारण नहीं है। इसके पीछे एक अनिवार्य तथ्य काम करता दिखाई देता है जो जीवन के बदलते मानदण्डों से प्रेरित है। बीसवीं सदी में कितना कुछ फेर-बदल हुआ है, कितना कुछ बना-बिगड़ा है? और कितना कुछ टूटा जुड़ा है? फिर कनुप्रिया की भावाकुल तन्मयता कतिपय नये वैचारिक सन्दर्भों को एक नये कोण से प्रस्तुत करे तो आश्चर्य क्यों हो? तस्वीर वही रहे, किन्तु उसको दिखाने वाला आईना यदि कुछ और तरह का हो तो विचार-बोध को नयी करवट लेनी ही पड़ती है।

'कनुप्रिया' के सर्जक ने 'कृष्ण' को उपदेष्टा, पूर्णावतारी और पृथ्वी का भार हरणकर्त्ता व धर्मसंस्थापक बनाकर प्रस्तुत करने में कोई रुचि नहीं दिखाई है। कारण वह इतिहास, पुराण और आधुनिक जीवन-दृष्टि के अन्तर को भली-भाँति समझता है। अतः उसके कृष्ण नये बोध के परिप्रेक्ष्य में केवल इतिहास के नये निर्माणकर्त्ता हैं। कृष्ण ने अपनी नजर में तो नूतन इतिहास का सार्थक निर्माण किया है, किन्तु राधा के बिना। यहीं कृष्ण से चूक हो गई है और इसी चूक के कारण उनका इतिहास-निर्माण राधा की नजर में अपूर्ण व असार्थक है। इसी अपूर्णता और असार्थकता के कारण कृष्ण सर्व-समर्थ होकर भी जीवन की अवसान वेला में 'अवश' स्थिति में जीते दिखाई देते हैं। 'कनुप्रिया' कृष्ण की इस अवश स्थिति को महसूस करती हुई कहती है :

> "तुम तट पर बाँह उठा-उठा कर कुछ कह रहे हो।
> पर तुम्हारी कोई नहीं सुनता, कोई नहीं सुनता!"

'कनुप्रिया' की राधा का कथ्य यह है कि उसके साहचर्य-सहयोग के बिना कृष्ण अकेले न तो इतिहास का निर्माण करने में समर्थ हैं और न उसे सार्थकता प्रदान करने में सक्षम हैं। ठीक भी है पुरुष के उत्थान में नारी का योग अपरिहार्य है फिर यदि पुरुष प्रिय है तो उसकी कोई भी लब्धि प्रिया के बिना कैसे सम्भव हो सकती है। नहीं न ! तभी तो राधा भी कह गई :

"उस दिन बरसते में जिस छौने को/अपने आंचल में छिपाकर लाई थी/वह आज कितना, कितना, कितना महान् हो गया है ?/लेकिन मैं कुछ सोच नहीं पाती/सिर्फ– जहाँ तुमने मुझे अमित प्यार किया था/वहीं बैठकर कंकड़, पत्ते, तिनके, टुकड़ चुनती रही हूँ/तुम्हारे महान् बनने में/क्या मेरा कुछ टूटकर बिखर गया है कनु !/"

यहाँ कवि का मंतव्य यह बताना रहा है कि राधा वही है, किन्तु उसकी हानि के मूल्य पर ही कृष्ण ने महानता अर्जित की है। कृष्ण की इस महानता की अभिव्यंजना के लिए राधा ने 'कितना' शब्द का तीन बार प्रयोग किया है। यह प्रयोग जहाँ एक ओर कृष्ण की महानता की सत्यता को संकेतित करता है, वहीं राधा और कृष्ण के बीच बढ़ती गई दूरी को भी जो राधा की कीमत के बदले कृष्ण को हासिल हुई है। यही कृष्ण की वह चूक है जिसके कारण वे जीवन की अवसान वेला में नितांत अकेले छूट गये हैं और उनके माथे पर पर पसीना झलझला आया है। फलतः कृष्ण अपने असफल इतिहास का जीर्णवसन की भाँति त्याग कर अपने ही दर्द मे पककर बहुत दिनों बाद जब राधा की याद करते हैं—सार्थकता के बिन्दु की ओर बढ़ते हैं तो उन्हें जन्मांतरों की अनंत पगडंडी के कठिनतम मोड़ पर प्रतीक्षारत खड़ी राधा अपने पार्श्व में ही दिखाई दे जाती है—कृष्ण के इतिहास-निर्माण को सार्थकता देने और कृष्ण की अपूर्णता को पूर्णता देने 'ताकि कोई यह न कहे कि तुम्हारी अतरग केलि सखी केवल तुम्हारे साँवले तन के नशीले संगीत की लय बनकर रह गयी ·····'। राधा का यह सोचना उसकी चिन्तता तो है, किन्तु है उसकी भावुकता की ही एक तरंग। यों भी कृष्ण—थके हारे कृष्ण राधा के आंचल से ही, उसकी गोद में सिर रखकर ही अपनी क्लांति मिटा सकते थे। 'कनुप्रिया' में सम्भवतः इसीलिए कहीं-कहीं राधा में यशोदा की अनुभूति भी दिखाई देती है। यह प्रणय की लता पर लगा वात्सल्य का वह पुष्प है जो राधा के मर्म और धर्म दोनों को निरूपित करता है। इससे लगता है कि 'कनुप्रिया' की राधा मात्र वियोग-विधुरा, कृष्ण के सामीप्य के लिए ललकती और केलि-क्षणों की स्मृति का प्रतीक मात्र नहीं है। उसमें तो कर्त्तव्य और राग की, राग और बोध की और भाव एवं प्रश्न की रमणीयता भी विद्यमान है।

'कनुप्रिया' में तत्व-पक्ष की प्रधानता है, किन्तु यह तत्व-पक्ष गौड़ीय वैष्णव कविता की अध्यात्म-भूमि पर नहीं खड़ा है और न रस-निर्वाह-प्रणाली से बोझिल ही है। इन सब का किंचित् स्पर्श मात्र ही यहाँ है। साथ ही रूप-माधुर्य, वेणु-माधुर्य, चेष्टा-माधुर्य आदि के संकेत मात्र हैं, इनकी परम्परित वर्णना और विस्तारणा नहीं। यों यह ठीक है कि 'कनुप्रिया' में प्रसंगवश कहीं-कहीं दार्शनिकता, गुदगुदाने वाली कोमल भाषा, रागमयी भक्ति-चेतना की सांकेतिक स्थितियाँ और मध्ययुगीन शिल्प के कतिपय प्रयोग भी मिलते हैं। स्पष्टीकरण के लिये ये प्रयोग देखिए —

"तुमने तो उस रास की रात/जिसे अंशतः भी आत्मसात् किया/उसे सम्पूर्ण बनाकर/वापस अपने घर भेज दिया।"

तुम्हारी जन्म जन्मान्तर की रहस्यमयी लीला की एकान्त संगिनी मैं।

"कितनी बार जब तुमने अर्द्धोन्मीलित कमल भेजा/तो मैं तुरत समझ गई कि तुमने मुझे संझा बिरियाँ बुलाया है/कितनी बार जब तुमने अंजुरी भर-भरकर बेले के फूल भेजे/तो मैं समझ गई कि तुम्हारी अंजुरियों ने/किसे याद किया है?/ कितनी बार जब तुमने अगस्त्य के दो/उजले कटावदार फूल भेजे/तो मैं समझ गई कि/तुम फिर मेरे उजले कटावदार पाँवों में/तीसरे पहर—टीले के पास वाले/सहकार की घनी छाँह में/बैठकर महावर लगाना चाहते हो।/"

'कनुप्रिया' में राधा के मन का विश्लेषण अधिक है, कृष्ण यहाँ कम हैं। यों वे कम उपस्थिति बताकर भी सारे वातावरण में भीनी गंध की भाँति व्याप्त हैं। भारती ने प्रतिपादित किया है कि कृष्ण के व्यक्तित्व में जो दरार है उसे राधा ने ही अपने व्यक्तित्व-सेतु से भर दिया है। यदि राधा कृष्ण के लीलाधारी और कूटनीतिक रूप के मध्य में सयोजक सेतु अथवा कोमल स्निग्ध भावों का सेतु बनकर न आती तो उनका व्यक्तित्व खण्डित होने से बच नहीं पाता। स्पष्ट ही राधा के बिना कृष्ण की अपूर्णता को प्रमाणित करने का सफल प्रयत्न 'कनुप्रिया' में मिलता है। 'भारती' की धारणा है कि राधाकृष्ण की एकात्मता ही शक्ति और शक्तिमान का तादात्म्य है। राधा प्रपत्तिमयी होकर भी अपने व्यक्तित्व के प्रति पूरी तरह सजग है। वह कृष्ण के सर्वग्रासी व्यक्तित्व के प्रभाव के सामने भी अपनी निजता को बनाए हुए है: "मैं तुम में बूँद की तरह विलीन नहीं हुई थी, इसीलिए मैंने अस्वीकार कर दिया था तुम्हारे गोलोक का कालावधिहीन रास, क्योंकि मुझे फिर आना था।"

ध्यान से देखें तो भारती यह भी बताना चाहते हैं कि राधा ने पूरे मन से जीवन जिया, कृष्ण को अपना सर्वस्व सौंप दिया, किन्तु उसे अपने समर्पण का समुचित प्रतिदान नहीं मिला। कृष्ण भले ही महान् से महान् बनते गये हों, किन्तु राधा वहीं की वहीं खड़ी रही। कृष्ण की महानता राधा की लघुता पर सही नजर न डाल सकी। महानता का दोष ही यह है कि वह लघुता पर दृष्टिपात नहीं कर पाती है। इसी कारण राधा सहजता-भावाकुल तन्मयता के प्रति आग्र ही है। वह तो इसी विश्वास को लेकर जीवित है कि तन्मयता के क्षण ही सार्थकता दे सकते हैं। इस भूमिका पर आकर ही वह यह निष्कर्ष निकाल पाई है कि तन्मयता या भावाकुल तन्मयता के अभाव में रचा गया इतिहास भी व्यर्थ है। उसने कृष्ण से दो टूक कह दिया है :

"सुनो कनु सुनो/क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिए/लीलाभूमि और युद्धक्षेत्र के/अलंघ्य अंतराल में।"[7]

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'कनुप्रिया' में राधा-कृष्ण के पुराने प्रसंग की आवृत्ति मात्र नहीं है। इसमें तो राधा के अब तक के अनालोचित, अनभिव्यक्त मानस की व्यथा-कथा प्रश्निल शैली में अभिव्यक्त हुई है। अतः राधा मात्र प्रिया नहीं है, वह तो मानवात्मा बन गई है। उसका बेलाग और निर्भीक कथन है कि कृष्ण के इतिहास का सही और पूर्ण अर्थ राधा के बिना निकल ही नहीं सकता है। राधा के बिना इतिहास का प्रत्येक शब्द रिक्त है, अर्थहीन है और रक्त का प्यासा है। यही 'कनुप्रिया' का कथ्य है, उसका प्रतिपाद्य है।

राधा का व्यक्तित्व : राग सम्बन्धों की पारंपरिक भूमिका :

'कनुप्रिया' में 'राधा' का रूप-स्वरूप और व्यक्तित्व परंपरा के रंगों, रेखा-बिन्दुओं और कमोबेश रूप में मिट्टी के उन्हीं कणों से सजाया-सँवारा गया है जिनका सहारा पूर्ववर्ती कवियों ने भी लिया है। हाँ, भारती की राधा प्रणय-विलासिनी, मानिनी और नटखट होने के साथ-साथ आधुनिक बोध के कतिपय तटों का स्पर्श भी करती है। परंपरागत अर्थ में राधा का व्यक्तित्व मिलना तुरता, समर्पण की व्यग्रता और चंचल-शोख नादानियों का सम्मिलित पुंज है। भारती ने यहाँ प्रायः उसी रूप को रखा है, किन्तु उसकी आधुनिक चेतना ने उसमें नयी जीवन-दृष्टि के द्वार भी खोल दिये हैं। इतने पर भी कवि को यह सहज स्वीकार्य नहीं हुआ कि वह उसके भावात्मक रूप को यकायक छोड़ बैठे। यदि वह वैसा करता तो यह कृति इतनी विश्वसनीय और मार्मिक न बन पाती। 'कनुप्रिया' का जादुई प्रभाव इसी कारण मन को बाँधे रहता है। कवि ने उसके प्रणयारंभ से लेकर व्यक्तित्व के सभी पहलुओं तक के मूल में परंपरागत चेतना को ही रखा है। मेरे कहने का यह अर्थ लगाना व्यर्थ होगा कि 'कनुप्रिया' मे आधुनिक बोध नहीं है। वह तो है, किन्तु वैसे ही

जैसे कनुप्रिया अपनी भावाकुल स्थिति में अनजाने ही कुछेक महत्वपूर्ण प्रश्न कर बैठती है। यों आधुनिक बोध की दृष्टि से 'अंधायुग' कनुप्रिया से कहीं अधिक आगे है।

एक बात और राधा के अलौकिक रूप के जो रंग 'कनुप्रिया' में हैं वे भी अधिकांशतः पारंपरिक ही हैं। भारती ने वल्लभ सम्प्रदाय के परंपरागत दार्शनिक आधार पर उसके स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। 'कनुप्रिया' कृष्ण की आह्लाद-कारिणी शक्ति है। वही कृष्ण की योग माया है : 'तुम्हारी शक्ति तो मैं ही हूँ/ तुम्हारा सम्बल/तुम्हारी योगमाया/इस निखिल पारावार में मैं ही परिव्याप्त हूँ/ विराट, सीमाहीन, अदम्य और दुर्दान्त/" इतना ही क्यों यह निखिल सृष्टि राधा का ही लीलातन है—कृष्ण के आस्वादन हेतु। राधा कृष्ण की सृजन-संगिनी है। ब्रह्म की इच्छा का परिणाम है। राधा से क्रीड़ारत होने के लिए ही कृष्ण स्वेच्छा से सृजन करते हैं। असल में सृष्टि के उद्भव, स्थिति और संहार का क्रम राधा के प्रेम के ही सहारे हैं : "और यह प्रवाह में बहती हुई/तुम्हारी असंख्य सृष्टियों का क्रम/महज हमारे गहरे प्यार/प्रगाढ़ विलास/और अतृप्त क्रीड़ा की/अनंत पुनरा-वृत्तियाँ हैं/"

'कनुप्रिया' में 'कृष्ण' कम और 'राधा' अधिक दिखाई देती है। उसका चरित्र 'पूर्वराग' व 'मंजरी-परिणय' खण्डों में अधिक मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। ये ही वे खण्ड हैं जिनमें 'कनु' की प्रिया भाव विह्वल होकर कृष्ण के प्रति आतुर भाव से समर्पण करती है और सम्पूर्ण समर्पण के उपरान्त तृप्ति का अनुभव करती है। वह कृष्ण के व्यक्तित्व में लय हो जाने में ही अपनी सार्थकता समझती है। कृष्ण उसे अपने शरीर के रोम-रोम में बसे दिखाई देते हैं। वह अनुभव करती है कि न जाने कृष्ण की मूर्ति वीणा में छिपे संगीत की भाँति उसके हृदय में कब से छिपी पड़ी थी ? वह डूब जाती है और डूब जाने के अनन्तर उसे अपने रोम-रोम में एक ही छवि दिखाई देती है। इस 'तन्मयता' की स्थिति को 'पूर्वराग' के दो गीतों में देखा जा सकता है। दूसरे गीत को ही लीजिये उसमें राधा की भाव विह्वल मन-स्थिति का सजीव बिम्ब है—

यह जो अकस्मात्/आज मेरे जिस्म के सितार के/एक-एक तार में तुम झंकार उठे हो/सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत तुम कब से मुझ में छिपे सो रहे थे ?

पूर्वराग का तीसरा गीत प्रणयारम्भ की ओर चौथा यौवनागम की स्थिति को व्यक्त करता है। तीसरे गीत में कृष्ण का मौन रहना, राधा के प्रेम की अस्वीकृति का भाव व निर्लिप्त व्यक्तित्व राधा के मन में दूसरा ही प्रश्न जगा देता है। वह उसे भी कृष्ण की आसक्ति समझती है। प्रिय की यह चेष्टा भी उसके मन

को—अंग की एक-एक गति को पूरी तरह बाँध लेती है। कृष्ण को 'सम्पूर्ण का लोभी' कहने में जो व्यंजना है वह बड़े भोलेपन से व्यक्त हुई हैं। वह मुग्धा नायिका की भाँति यह कहती जान पड़ती है कि तुम मेरे प्रणाम को स्वीकार नहीं कर सके—शायद इसलिए कि "तुम मुझ समूची को पा लेना चाहते थे और मुझ पगली को देखो कि मैं तुम्हें वीतराग और निर्लिप्त समझती थी।"

यौवनारंभ के समय राधा पूरी तरह कृष्ण पर आसक्त और समर्पित दिखाई देती है। वह अनुभव करती है कि यमुना जल की नीलिमा और साँवली गहराई कृष्ण के व्यक्तित्व की गहराई है, जिसने अपने श्यामल और प्रगाढ़ आलिंगन में उसके पोर-पोर को कस रखा है। पाँचवें गीत में समर्पित होने की तीव्र आकांक्षा और साथ ही परिताप की आतुरता भी व्यंजित हुई है। राधा सोचती है और पश्चाताप करती है कि मैं उस दिन रास की रात जल्दी ही क्यों लौट आई? 'कण-कण अपने को तुम्हें देकर रीत क्यों नहीं गयी'? कारण तुमने उस रात को जिसे भी अंशतः आत्मसात् किया उसे सम्पूर्ण बनाकर ही घर वापस भेजा। अब वही सम्पूर्णता मनमें बराबर टीसती रहती है,/'पूर्वराग' के ये कुछ ऐसे स्थल हैं जो राधा के व्यक्तित्व को नये बोध से जोड़ने की अपेक्षा परम्परागत रूप से ही अधिक जोड़ते हैं। यों राधा के व्यक्तित्व में प्रारम्भ से ही कुछ प्रश्न हैं। वह भावाकुल तन्मयता में भी प्रश्नाकुल है, किन्तु वे प्रश्न ऐसे नहीं जो उसकी तन्मयता के ऊपर अपना सिक्का जमाये हुए हों। भावाकुल तन्मयता, समर्पित होने की आतुरता, तृप्त होने की शीघ्रता, अपना सब कुछ लुटाकर पूर्ण बनने का लोभ, साक्षात्कार के क्षणों का भय, संशय, उदासी और तम के प्रगाढ़ पर्दे में जहाँ हाथ को हाथ नहीं सूझता था, लाज से आरक्त मुँह छिपाकर कृष्ण से मिलना, रति विलास, प्रणय-संकेत आदि कुछ ऐसी मनःस्थितियाँ हैं जिनमें राधा के मन के प्रारम्भिक प्रश्न कहीं खो गये हैं और ये सभी स्थितियाँ इतनी प्रभावोत्पादक है कि राधा के मन के हल्के-फुल्के प्रश्न इनके प्रवाह में कहीं के कहीं वह गये हैं।

राधा के व्यक्तित्व में जो भावाकुल तन्मयता है उसके प्रति कवि स्वयं सचेत जान पड़ता है। उसने स्वयं भूमिका में स्वीकार किया: "कनुप्रिया अपने अनजान में ही प्रश्न के ऐसे संदर्भ उद्‌घाटित करती है जो पूरक सिद्ध होते हैं। पर ये सब उसके अनजान में होता है क्योंकि उसकी मूलवृत्ति संशय या जिज्ञासा नहीं, भावाकुल तन्मयता है।" 'मंजरी परिणय' खण्ड भी 'पूर्वराग' से बहुत भिन्न नहीं है क्योंकि इसमें भाव बोध का वही पहले वाला स्तर है—कहीं कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता है। 'आम्र बोर' का गीत भी राधा के इसी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालता है। साक्षात्कार के क्षणों में वह कई बार कृष्ण के पास ठीक समय पर नहीं पहुँच पाती है तो न सही, किन्तु वह इन क्षणों में भी अपने को कृष्ण से अलग नहीं मानती

है। वह कहती है कि 'लाज सिर्फ जिस्म की ही नहीं मन की भी होती है।' चरम सुख के क्षणों में एक मधुर भय, एक अनजाना संशय, एक आग्रह भरा गोपन, एक निर्व्याख्या वेदना और उदासी से अभिभूत राधा के मन में यह चेष्टा मौजूद है—

तुम्हारी जन्मजन्मान्तर की रहस्यमयी लीला
की एकान्त संगिनी मैं।

इसके साथ ही राधा भोली बावली लड़की की तरह है। यमुना के तट पर गोधूलि बेला में कृष्ण की राधा के लिए आतुर प्रतीक्षा, झुकी डाल पर खिले बौर को तोड़ना और अनमने भाव से चलते-चलते आम्र-मंजरी को चूर-चूर कर माँग सी उजली पगडंडी पर बिखेरना, कृष्ण का पके फलों को मसलकर राधा के पैरों में महावर लगाना तथा राधा का लाज से धनुष की तरह दुहरी हो जाना, जल्दी-जल्दी अपने पैरों को जोर से खींच लेना फिर घर आकर निभृत एकांत में दीपक के मंद आलोक में जल्दी-जल्दी महावर की अबवनी रेखाओं को देखना और चूम लेना, रात के गहरा जाने पर आम्र डाली को बाँहों में भरकर चुपचाप रोती रहना, कृष्ण के चन्दन-कसाव में डूब-डूब जाना, कृष्ण का रूठना और फिर प्यार से बाँहों में कस लेना, व राधा का बेसुध हो जाना—आलिंगन सुख को न छोड़ने की जिद, चन्दन कसाव के अभाव में देहलता के गुलाबों का टीसना और निभृत एकान्त में सारे जिस्म से आम के बौर का टीस उत्पन्न करना और कृष्ण के प्रति समर्पित होने के कारण राधा का सब कुछ भूलकर हाट-बाट में नगर-नगर में 'श्याम ले लो, श्याम ले लो' की पुकार से अपनी हँसी कराते घूमना आदि कुछ ऐसी भावनाएँ हैं जो राधा के मन के प्रश्न को कुछ क्षणों के लिए ही सही, हल्का अवश्य कर देती हैं। राधा कृष्ण से सम्पूर्णतः बँधी दिखाई देती है, उसका कोई भी अर्थ कृष्ण से अलग नहीं है। वह उनसे सम्पूर्णतः बँधकर ही अपने जीवन की सार्थकता समझती है। यद्यपि वह जानती है कि कृष्ण की पद्धति ही अलग है, तभी तो वह सम्पूर्णतः बँधकर भी सम्पूर्णतः मुक्त है। ये मनःस्थितियाँ राधा के 'पूर्वराग' खण्ड में प्रतिफलित व्यक्तित्व के संदर्भ से जुड़ी हुई हैं।

'कनुप्रिया' के 'पूर्वराग' और 'मंजरी परिणय' (तुम मेरे कौन हो गीत को छोड़कर') में राधा का जो व्यक्तित्व प्रतिफलित है उसमें मध्यकालीन वातावरण की ही अनुगूँज अधिक सुनाई देती है। राधा रीतिकालीन और भक्तिकालीन संदर्भों में ही अपनी स्थिति बनाये हुए है। राधा का भावाकुल व्यक्तित्व, प्रणयाकांक्षा, मिलनोत्सुकता, विरह-वेदना और तन्मयता की स्थिति सभी कुछ वैष्णव और रीति-कविता के धरातल पर चित्रित किया गया है। इसमें कहीं भी आधुनिक बोध मुखरित नहीं है। मैं समझता हूँ यदि भारती इसके विपरीत राधा को अत्याधुनिक

बौद्धिक स्तर प्रदान कर देते तो उसका प्रभाव ही शून्य हो जाता और वह बहुत कुछ (एक अर्थ में) प्रियवास की राधा के समान बेमानी और बेबुनियाद होता। इसका कारण यह है कि राधा के व्यक्तित्व को हम इन्हीं उपर्युक्त संदर्भों में देखने के आदी हो गये हैं फिर प्रत्येक पौराणिक प्रसंग आधुनिक बोध के भार को वहन करने की क्षमता रखता ही हो कोई आवश्यक भी नहीं है। राधा, कृष्ण, राम सीता आदि ऐसे प्रतीक चरित्र हैं जिनके माध्यम से भारतीय जाति अपनी मूल प्रतिमा को मूर्त रूप देती है। गोकुल का नटखट ग्वाल बालक और महाभारत का परम कूटनीतिज्ञ-जिस कृष्ण में ये दोनों रूप समन्वित होते हैं, वह केवल राधा का प्रेयस या वैष्णव संप्रदाय का उपास्य नहीं है, बल्कि समूची भारतीय प्रतिभा का शलाका पुरुष है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि राधा के मन की प्रश्नाकुल व्यंजनाएँ 'तुम मेरे कौन हो' से ही प्रारम्भ होती है। उससे पहले तो वह परम्परागत बोध को ही वाणी देती जान पड़ती है। कनुप्रिया में परम्परागत अनुभूतियाँ कितनी और कैसी हैं? यह 'आम्र-बौर का अर्थ' गीत से भी स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण का राधा को संझाबिरियाँ बुलाने के लिए अर्द्धोन्मीलित कमल का संकेत, अंजुरी भर बेले के फूलों का संकेत तथा सहकार की घनी छाँव में बैठकर महावर लगाने के लिए अगस्त्य के दो फूलों का संकेत, राधा की नादान हरकतें, उसका बावलापन, जिद्दी स्वभाव, कृष्ण के प्रेम में बेसुध होकर 'श्याम ले लो, श्याम ले लो' की पुकार आदि सभी प्रसंगों की अवतारणा रीतिकालीन पैमाने से ही नापी जा सकती हैं। इसमें परम्परा का आग्रह टाला नहीं जा सका है—शायद चाहते हुए भी नहीं टाला जा सका है क्योंकि इन संदर्भों के अभाव में राधा के व्यक्तित्व की कोई भी रूपरेखा बन पाना संभव नहीं था। ये पंक्तियाँ देखिये—

कितनी बार जब तुमने अर्द्धोन्मीलित कमल भेजा/मैं तुरन्त समझ गयी कि तुमने मुझे संझा बिरियाँ बुलाया है/कितनी बार जब तुमने अंजुरी भर-भर बेले के फूल भेजे/तो मैं समझ गयी कि तुम्हारी अंजुरियों ने/किसे याद किया है? कितनी बार जब तुमने अगस्त्य के दो/उजले कटावदार फूल भेजे/तो मैं समझ गयी कि/तुम फिर मेरे उजले कटावदार पावों में/—तीसरे पहर—टीले के पास/सहकार की घनी छाँव में/बैठकर महावर लगाना चाहते हो।"

'राधन्' प्रयोग भी परम्परागत लगता है—बिल्कुल वैसे ही जैसे सीते। इसके अतिरिक्त कुछ शब्दों का प्रयोग भी परम्परागत है। वे बड़े घिसे-पिटे लगते हैं। मृणाल सी बाहें, चम्पकवर्णी देह व नील जलज तन; यमुना की साँवली गहराई में कृष्ण का प्रतिरूप देखना, यमुना के जल में सारे वस्त्र उतार कर घंटों बिहार करना। कृष्ण को कदम्ब वृक्ष के तले खड़े देखना तथा बाँसुरी में स्वर भर कर राधा को बुलाने का प्रयत्न भी राधा और कृष्ण के सम्बन्धों की कोई नयी पीठिका प्रदान

नहीं करता है। यहाँ तक की राधा पुरानी राधा है—वैष्णवों और रीति कवियों की राधा है।

प्रश्निल मनोभूमि :

राधा के व्यक्तित्व में आधुनिक संवेदना—उसका चिन्तन, उसके मन की शंकाएँ, संकल्प-विकल्प के दौर से प्रारम्भ होती हैं। 'तुम मेरे कौन हो' में राधा के प्रश्न खुलकर सामने आते हैं। यही वह स्थल है जहाँ से वह आधुनिक बोध को समेटती प्रतीत होती है। उसका भावाकुल मन प्रश्नाकुल हो जाता है और इस स्थिति में वह अपने आप से अनेक प्रश्न करती है। वह अपने ही मन से आग्रह, विस्मय और तन्मयता के साथ प्रश्न करती है कि आखिर यह कृष्ण कौन है? जो अनजाने ही मेरे मन की गति को बाँधता जा रहा है। वह एक-एक करके कृष्ण को अपना 'अन्तरंग सखा', 'रक्षक', बन्धु', 'सहोदर', अपना 'आराध्य', 'लक्ष्य' और 'गन्तव्य' समझती है। इतना ही नहीं जल-प्रलय से बचाने की सामर्थ्य रखने वाला कृष्ण 'कनुप्रिया' को दिव्यशिशु भी प्रतीत होता है और वह स्वयं सखी, साधिका, माँ और वधू के साथ-साथ सहचरी भी है। ये सम्बन्ध नये हैं और सर्वाधिक नवीनता इनके एक ही धरातल पर आकर सन्तुलित हो जाने और सिमट जाने में हैं। वस्तुतः यहाँ कनुप्रिया में स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों की आधुनिक व्याख्या की गई है। राधा और कृष्ण तो केवल 'मीडियम' भर हैं। असल में यहाँ पुरुष और नारी के विकास को सार्थक बिन्दु पर ले जाने के लिए पुरानी बोतल को नये आसव से भरने का प्रयास किया गया है। आगे और भी अनेक स्थल ऐसे आये हैं जहाँ राधा अपनी भावाकुल तन्मयता में ही अनेक नयी समस्याओं को उठाती है; युग के संदर्भों को उद्घाटित करती है। इस प्रकार वह एक ओर परम्परागत व्यक्तित्व की चेतना से युक्त है तो दूसरी ओर नये भाव-बोध से भी—विशेषकर तब जबकि उसकी जिज्ञासा को मुखरित होने का अवसर मिलता है।

'कनुप्रिया' शक्ति के संचरण में निखिल पारावार में परिव्याप्त होकर विराट, सीमाहीन, अदम्य तथा दुर्दान्त हो उठती है और फिर कान्ह के चाहने पर भी अकस्मात् सिमट कर सीमा में बँध जाती है। यद्यपि राधा की यह स्थिति उसे पौराणिक संदर्भ के निकट ले आती है, किन्तु इस स्थिति को जो परिणति प्राप्त हुई है वह नये बोध को प्रेरित करती है। कृष्ण की ही इच्छा से मानो राधा थोड़े से जीवन में जन्मजन्मांतरों की समस्त यात्राओं को दुहराने के लिए तत्पर होती है और इसी स्थिति में उसे—

"सम्बन्धों की घुमावदार पगडंडी पर, क्षण-क्षण पर तुम्हारे साथ/मुझे इतने आकस्मिक मोड़ लेने पड़े हैं।/"

इतना ही नहीं राधा चारों ओर से होती प्रश्नों की बौछार से घबराकर अपने सम्बन्धों को नयी व्याख्या देती है—

"सखी-साधिका-बाँधवी—/माँ-वधू-सहचरी—/और मैं बार-बार नये-नये रूपों में/उमड़-उमड़कर/तुम्हारे तट तक आयी/और तुमने हर बार अथाह समुद्र की भाँति/मुझे धारण कर लिया—/विलीन कर लिया—/फिर भी अकूल बने रहे/

'सृष्टि संकल्प' खण्ड में राधा के मन में सभी प्रश्न और सभी उत्कट जिज्ञासाएँ पूरे जोर शोर से उद्घाटित होती हैं। 'सृजन संगिनी' के रूप में राधा कृष्ण की इच्छा और संकल्प शक्ति के रूप में अपनी स्थिति को स्थापित करती है। अनेक प्रश्न और जिज्ञासाओं को उठाती हुई राधा इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि यह निखिल सृष्टि हमारे तुम्हारे अगाढ़ालिंगन का परिणाम है। वह कहती है—

और यह प्रवाह में बहती हुई/तुम्हारी असंख्य सृष्टियों का क्रम/महज हमारे गहरे प्यार/प्रगाढ़ विलास/और अतृप्त क्रीड़ा की अनन्त पुनरावृत्तियाँ हैं।/

साथ ही कृष्ण के सम्पूर्ण अस्तित्व का अर्थ ही है - मात्र सृष्टि और कृष्ण की इच्छा का ही परिणाम सम्पूर्ण सृष्टि और इच्छा का अर्थ राधा के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता है। अखिल सृष्टि को अपने कारण कृष्ण की इच्छा का परिणाम समझने वाली राधा के मन में जिज्ञासा के साथ ही साथ एक भय भी है। वह अपनी विराटता का अनुभव करके भी सप्रश्न है :

क्यों मेरे लीला बंधु/क्या वह आकाश गंगा मेरी माँग नहीं है ?/फिर उसके अज्ञात रहस्य मुझे डराते क्यों हैं ?/

वस्तुतः राधा सभी अज्ञात रहस्यों को जानना चाहती है, उसे भय भी लगता है और डर से वह काँपती भी है। कारण जब कृष्ण और राधा ही सर्वत्र व्याप्त हैं और कृष्ण का सकल्प और इच्छा राधा ही है तो फिर उसे किससे भय लगता है ? यही भय राधा के उत्फुल्ल लीलातन पर कोहरे की तरह फन फैलाकर गुंजलक बाँधकर बैठ गया है। फलतः उद्दाम क्रीड़ा के क्षणों में वह प्रश्नाक्रान्त हो जलपरी की तरह छटपटाती रहती है। मैं समझता हूँ जो राधा समस्त सृष्टि को कृष्ण की इच्छा का परिणाम मानती है वह संशयालु और भयाक्रान्त हो तो कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि उसे बहुत से अज्ञात रहस्यों की जानकारी नहीं है। एक बात और भी है कि भारती दोनों विरोधी संदर्भों को मिलाकर रखने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं, किन्तु मेरी समझ में वे इस कार्य में पूरी तरह कामयाब नहीं हुए हैं। लगता है उन्होंने भी अपने ही कथनानुसार एक आसान तरीका निकाला है। उनकी राधा पहले भावाकुल तन्मयता के क्षणों को भोगती है फिर धीरे-धीरे प्रश्नाकुल स्थिति में आधुनिक संवेदना के निकट भी चली जाती है। यह ठीक है कि वह तन्मयता की

जिन्दगी जी चुकी है. किन्तु अब वह नयी मान्यताओं के आलोक में कृष्ण को देखती है। यद्यपि उसका इस प्रकार देखना उसकी 'तन्मयता' को कम नहीं करता है।

राधा का 'आदिम भय', केलिसखी में आकर और भी अधिक विस्तार पाता दिखाई देता है। एक दिगंतव्यापी अँधेरी राधा के गुलाबी तन को पी जाने के लिए तत्पर है। उसे नयी अनुभूति होती है कि उसका अपना शरीर जैसे उसका नहीं है। वह विवश है; अपने से ही अपरिचित होती जा रही है और अपने से ही भयभीत भी, किन्तु यह भय, वह विवशता उसे फिर एक बार रति क्रीड़ा की ओर ढकेलती है। उसके शारीरिक बन्धन शिथिल होते जाते हैं और वह कृष्ण से एकमेक होना चाहती है। इस मिलनातुरता और मांसलता की स्थिति में वह कहती है—

उठो वातायन बन्द कर दो/ ··· अब मैं उन्मुक्त हूँ/और मेरे नयन अब नयन नहीं हैं/प्रतीक्षा के क्षण हैं/और मेरी बाँहें, बाँहें नहीं/पगडंडियाँ हैं/और मेरा यह सारा/···· ··· ·······सीपी जैसा जिस्म/अब जिस्म नहीं है —/सिर्फ एक पुकार है

राधा इतिहास को चुनौती देती है कि जब तक मैं अपने प्रगाढ़ केलिक्षणों को अस्थायी विराम-चिन्ह न दूँ तब तक समय के अचूक धनुर्धर तुम अपने सायक उतारे रहो और धनुष बाण को तोड़कर अपने पंख समेटकर द्वार पर चुपचाप प्रतीक्षा करो। राधा का यह माँसल व्यक्तित्व इस रूप में शायद ही पहले कहीं निरूपित हुआ हो। यहाँ तो राधा अपने मित्र कृष्ण के साथ आधुनिक विलासिनी नारी की तरह सभी कुछ साफ-साफ कह देती है। इस प्रकार ये कुछ ऐसे स्तर हैं जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम सम्बन्धों को नयी दृष्टि मिली है, राधा में 'सेक्स' को लेकर कोई कुंठा नहीं है। वह तो कृष्ण को खुला आमंत्रण देती है। अनेक स्थाल ऐसे हैं जहाँ वह तन के रिश्ते के माध्यम से ही किसी बहुत बड़े स्तर तक उठती दिखाई देती है। उसकी दृष्टि में ऊपर उठने के लिए तन का रिश्ता अपरिहार्य है। इस वर्णन को पढ़कर ऐसा लगता है मानों जो राधा मन की लज्जा को महत्व देती थी; वह आज शरीर की लज्जा को भी भुला बैठी है। उसके सारे हाव-भाव, अनुभाव मौन तृप्ति के निमित्त हैं। वह शरीर-तृप्ति के लिए बेचैन है। उसके काँपते अधर आधी पलकों का बन्द हो जाना तथा कृष्ण को जकड़ में बाँध कर यह कहना—

"और यह मेरा कसाव निर्मम है/और अन्धा, और उन्माद भरा, और मेरी बाँहे/नागवधू की गुंजलक की भाँति/कसती जा रही हैं/और तुम्हारे कंधों पर/बाँहों पर, होठों पर/नागवधू की शुभ्र दन्त-पंक्तियों के नीले-नीले चिन्ह उभर आये हैं"/

आधुनिक संदर्भ से विचार करें तो इन पंक्तियों में फ्रायड की काम चेतना को बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। कहीं कुछ भी तो छिपा नहीं सब कुछ खुला-खुला है। इस रोमांटिक दृष्टिकोण को नये बोध के साथ ही समझा जा सकता है। यह ठीक है कि राधा में समर्पण की आतुरता थी, किन्तु इस प्रसंग में तो उसके स्थान पर शरीरासक्ति और शरीर-तृष्टि के लिए ही खुला 'आमन्त्रण' है। अतः अब तक के सभी प्रसंग राधा की प्रश्नाकुलता को एक सीमा में रोमांटिक संदर्भ में ही प्रस्तुत करते हैं। उसका व्यक्तित्व भावात्मक और प्रणय-भाव से ही सम्बन्धित विविध प्रश्न और जिज्ञासाएँ लिए हुए है।

'कनुप्रिया' का 'इतिहास खण्ड' और 'समापन' अपने पूर्ववर्ती रोमानी और भावप्रवण खण्डों की अपेक्षा कहीं अधिक आधुनिक संवेदनाओं के निकट है। प्रणयाकांक्षा व प्रणयजन्य विविध मनस्थितियों के चित्रण में भारती केवल कुछ प्रश्नों और जिज्ञासाओं को ही उठा सके हैं और वे भी उनकी रोमानी चेतना के इर्द गिर्द घूमते हैं। भारती का प्रयत्न यह रहा है कि पहले वे राधा के सहज तल्लीनकारी क्षणों की ओर इंगित करें और तदनंतर कृष्ण के महान और क्रान्तिकारी इतिहास प्रवर्तक रूप का संकेत देकर राधा के आन्तरिक संघर्ष को प्रस्तुत कर सकें। कारण है कि राधा विरह-वेदना के क्षणों में कृष्ण और अपने सम्बन्धों पर पुनर्दृगपात करती है और मन की अनेक गुत्थियाँ सुलझाते हुए स्वयं उलझ जाती है। राधा का यह दुहरा व्यक्तित्व समानान्तर चलता है। अतः इसमें बाहर से संगति (हारमनी) नहीं दिखाई देती है।

कृष्ण के सम्पर्क से राधा ने जो भी उपलब्ध किया है वही इतिहास के अन्तराल में उससे छूटता दिखाई देता है। वह रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण और बुझी हुई राख के समान हो गई है। उसके मन में यदि कुछ शेष रह गया है तो संशय. जिज्ञासा या प्रश्न हैं जो कृष्ण के अभाव में अपने पूर्वसम्बन्धों की स्थिति से जुड़कर अवतरित हुए हैं :

कौन था वह/जिसने तुम्हारी बाँहों के आवर्त में/गरिमा से तनकर समय को ललकारा था/कौन था वह/जिसकी अलकों में जगत की समस्त गति/बंध कर पराजित थी ?

राधा इस खण्ड में आकर अधिक चिन्तनाकुल, प्रश्नाकुल और बौद्धिक हो गई है। वह वेदना और कसक को सह जरूर रही है कि कृष्ण जो सदैव भावाकुल और प्रणयाकुल क्षणों में उसके साथ रहते थे—अभिन्न और एकान्त, वे ही इतिहास रचते समय उसे विस्मृत कैसे कर गये ? क्या उन्होंने उसे केवल सेतु भर समझा है जो उनके गुजर जाने के बाद निर्जन और निरर्थक छूट गया है। यह चिन्तना राधा

के प्रणय को वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करती है और ये पंक्तियाँ राधा की वेदना को सप्रश्न व्यंजित करती है :

जिसको जाना था वह चला गया/हाय मुझी पर पग रख/मेरी बाँहों से इतिहास तुम्हें ले गया!/सुनो कनु सुनो/क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी ? तुम्हारे लिए/लीला भूमि और युद्ध क्षेत्र के/अलंघ्य अन्तराल में

ये पंक्तियाँ कृति की आत्मा है, जिनमें राधा के व्यथा भरे प्रश्न, उसकी समस्त जिज्ञासाएँ और समस्त संशय पुंजीभूत हो गये। इतिहास आगे बढ़ता जा रहा है। कृष्ण की 18 अक्षौहिणी सेनाएँ गुजर रही है—उन समस्त प्रणय स्थलों से जहाँ वह प्रणयमग्न रहा करती थी, किन्तु राधा के मन में एक प्रश्न है, दुविधा है कि क्या वे क्षण असत्य थे मेरे द्वारा किये गये, कहे गये वायदे और शब्द क्या छलना थे ? वस्तुतः राधा के मन का द्वन्द्व, उसकी समस्त व्यथा भरी चिन्ता का कारण बहुत बड़ा है। उसकी चंचल अंगुलियाँ रेत में कृष्ण का नाम लिख देती हैं, किन्तु जैसे ही वह सचेत होती है वैसे ही—

इस धृष्टता को जान पाती हूँ/चौंक कर उसे मिटा देती हूँ/ उसे मिटाते हुए दुख क्यों नहीं होता कनु ?/क्या अब मैं केवल दो यन्त्रों का पुंज मात्र हूँ/ ? —दो परस्पर विपरीत यन्त्र—/उनमें से एक बिना अनुमति नाम लिखता है/दूसरा उसे बिना हिचक मिटा देता है।

यही राधा के प्रणय की वैचारिक पृष्ठभूमि है जो उसे भावाकुल तन्मयता से प्रश्निल भूमि पर ला खड़ा करती है। आगे तो राधा युद्ध की अमंगल छाया अनुभव करती है। युद्ध की भीषण परिस्थितियों में अपने प्रेम को असहाय और बेबस अनुभव करती हुई अपने से ही अजनवी बन जाती है। राधा अपने मन में विवेक के सहारे समाधान पा लेती है। उसका समाधान यह है कि कृष्ण मेरे हैं और ये अगणित सैनिक भी उसी प्रिय के हैं, किन्तु ये मुझे प्रिय कनु की भाँति थोड़े ही पहचानते हैं। अतः यदि ये आम की उस डाल को रौंद डालें, काट डाले जिसने प्रतीक्षा की कितनी ही शामें देखी हैं तो कोई आश्चर्य नहीं है। युद्ध की इसी भूमिका पर राधा के मन में इतिहास का प्रश्न भी मुखरित हुआ है।

एक बार यह मान लेने पर कि व्यक्ति की उपलब्धि, उसके क्षण की तन्मयता, मात्र भावावेश है, कल्पना है, अर्थहीन आकर्षण है और यह मान लेने पर कि पाप पुन्य, धर्माधर्म, न्यायदण्ड और क्षमाशील दायित्व सत्य है तो भी जिसने उस उपलब्धि की सार्थकता का अनुभव किया है उसके लिये इस युद्धघोष क्रन्दन, स्वरूप अमानुषिक घटनाओं वाले इतिहास की सार्थकता समझ पाना कठिन है। व्यक्ति की उपलब्धि की सार्थकता के बिना दायित्व की व्याख्या करने वाले शब्द अर्थहीन हैं।

इसीलिये राधा इन शब्दों की व्याख्या के स्थान पर कृष्ण की वाणी को अधिक महत्वपूर्ण मानती है।

'समुद्र स्वप्न' के अन्तर्गत राधा का प्रश्न बड़ा प्रश्न बन जाता है। राधा की मनः चेतना जो अनुभव करती है वह नयी अनुभूति है। युद्ध होता है, संहार होता है प्रलय का सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, किन्तु फिर भी निर्णय राधा के पक्ष में होता है। कृष्ण संघर्षों के बाद थक कर इतिहास को त्याग देते हैं और राधा को पाने के लिए आतुर हो उठते हैं। यही अन्वेषण व्यक्तित्व का अन्वेषण है सार्थकता का बिन्दु है—

और चारों ओर/एक खिन्न दृष्टि से देखकर/एक साँस लेकर/तुमने असफल इतिहास को त्याग दिया है और अब इस क्षण तुम/केवल एक भरी हुई/गहरी पुकार हो......../सब त्याग कर/मेरे लिये भटकती हुई/.......

'समापन' खण्ड में कृष्ण श्रान्त, क्लान्त और उदासी का अनुभव करते हैं और युद्धजनित त्रास से विक्षुब्ध होकर राधा को (अपने व्यक्तित्व को) पुकारते हैं और राधा सभी कुछ छोड़कर कृष्ण के साथ खड़ी हो जाती है। वह अनुभव करती है कि मेरे बिना कृष्ण अपूर्ण हैं—भावाकुल क्षणों में भी और प्रश्नाकुल या इतिहास निर्माण के क्षणों में भी। अतः राधा जो केवल 'तन्मयता' में जीवित रही है; वह अब कृष्ण के साथ आकर इतिहास गूँथने में सहायक होती है। उसका संकल्प इतिहास को भी सार्थकता प्रदान करता है। कनुप्रिया का उद्देश्य ही यह है कि नारी और पुरुष के साहचर्य से ही विकास सम्भव है। राधा और कृष्ण नर-नारी के प्रतीक बनकर आये हैं। उनके माध्यम से पुराने विषय को नयी वस्तु के साथ प्रस्तुत किया गया है। राधा (नारी) सोचती है कि मेरे बिना इतिहास सार्थक नहीं हो सकता है। अतः कहती है :

बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता/तुम्हारे इतिहास का ..../ ..../मैं आ गयी हूँ प्रिय/मेरी वेणी में अग्निपुष्प गूँथने वाली/तुम्हारी अंगुलियाँ/अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूँथती ?/

इस प्रकार 'कनुप्रिया' में राधा का व्यक्तित्व दो बिन्दुओं पर उपस्थित है एक रागात्मक है और दूसरा प्रश्नाकुल, किन्तु दोनों में बाहर से भले ही न हो एक आन्तरिक संगति दिखाई देती है। राधा की समस्त प्रतिक्रियाएँ भावाकुल स्थिति के विभिन्न स्तरों के रूप में ही प्रस्तुत हो सकी हैं। राधा की भावाकुल तन्मयता में जो सहज प्रश्न उद्घाटित हुए हैं वे उसके मन की स्वच्छता और मासूमियत को व्यक्त करते हैं। राधा जानबूझ कर दोनों स्थितियों में नहीं पड़ती है, वरन् भावुकता के दौर में ही उसके मन के कुछ प्रश्न, संशय और जिज्ञासाएँ सामने आती हैं। हाँ, एक

बात अवश्य है कि ये अनजाने में ही उठे प्रश्न राधा को आधुनिक बोध के निकट ले आते हैं। यही कारण है कि राधा के माध्यम से भारती ने अनेक समस्याएँ भी उठायी हैं जो युग चेतना से सम्पृक्त है—नारी के आधुनिक मन की तसवीरें। इनमें नारी के मन के प्रश्न व जिज्ञासाएँ सन्निहित हैं। अतः भारती ने यथार्थ को सचेत बनाकर नये अर्थ बोध से जोड़ दिया है। भारती का मूल प्रश्न वही है जो नयी कविता का है। प्रारम्भ में यथार्थ का प्रश्न रोमांटिक सीमाओं में अभिव्यक्ति पाता है तो अन्त में वही 'रियलियस्टिक एप्रोच' से जुड़ता दिखाई देता हैं। भावना का बुद्धि से जुड़ना या भावना के सहारे बुद्धि का विकसित होना आज के युग का यथार्थ है। (एक मानी में) कारण आज जीवन के मूल विपर्यय का कोई हल निरी बुद्धि से, निरे ऐतिहासिक चिन्तन से नहीं निकल सकता है, मानवता की समस्याएँ मानव की जिस अखण्डता के स्तर पर हल की जा सकती है वह विज्ञान अथवा तर्क का स्तर नहीं, बल्कि सहज रागात्मक सम्बन्ध का स्तर है। यही चिन्तना भारती 'कनुप्रिया' में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'कनुप्रिया' में पूर्वाराग मंजरी परिणय, सृष्टि संकल्प और केलि सखी के अन्तर्गत प्रणय की विविध मनस्थितियाँ साफ सुथरे रंगों में दमकती दिखाई देती है तो 'इतिहास' और 'समापन' में राधा और कृष्ण का प्रेम नयी दृष्टि और नया धरातल पा जाता है—ऐसा धरातल जिसमें आधुनिक संवेदना के आयाम विकसित होने के लिए गुन्जाइश पा गये हैं।

'कनुप्रिया' में 'सृष्टि संकल्प' वाले अंश के स्थान पर यदि आधुनिक जीवन के विविध सदर्भ उद्घाटित हुए होते तो यह कृति और भी पूर्ण लगती, किन्तु भारती ने ऐसा करना उचित नहीं समझा क्योंकि वे तो एक ऐसी नारी प्रस्तुत कर रहे थे जिसने डूबकर जीवन जिया हो और अनजाने में ही कुछ प्रश्न उठा गई हो। खैर जो हो कनुप्रिया में कोई स्थल ऐसा नहीं जो अयथार्थ, अस्वाभाविक, अरुचिकर या आरोपित हो। सभी कुछ सहज, सरल और यथार्थ है। 'कनुप्रिया' की समस्त चेतना में दो बातें बड़ी महत्वपूर्ण है—निश्छल सहज संवेदनशीलता और सूक्ष्म प्रश्नाकुल स्पंदन जो भावुकता के साथ ही घटित हुआ है। इस कृति में राधा प्रमुख है, कृष्ण तो उसके संदर्भ से ही आ गये हैं। 'कनुप्रिया' में कृष्ण का व्यक्तित्व प्रारम्भिक स्थिति में निर्लिप्त, वीतराग सा दिखता भले हो, किन्तु वे सम्पूर्ण के लोभी हैं तथा अपने प्रणय सम्बन्ध से सभी को पूर्ण बनाने वाले हैं। राधा के प्रणाम मात्र से वे सन्तुष्ट नहीं। यह अलग बात है कि वे आगे चलकर इतिहास के व्याख्याता और निर्माता के रूप में ही दिखाये गये हैं।

राग चेतना का प्रबन्ध :

कनुप्रिया' भाव-प्रबन्ध है—रागात्मक प्रबन्ध जिसमें प्रभाव डालने की अद्‌भुत क्षमता है। यह भावात्मक प्रबन्ध पाँच खण्डों में विभक्त है : पूर्वराग, मंजरी परिणय

सृष्टि संकल्प, इतिहास और समापन। ये खण्ड इस बात की सूचना देते हैं कि 'कनुप्रिया' की भावाकुल तन्मयता में भी एक संश्लिष्टि है, एक अन्विति है। राधा की समस्त भावुकता और तत्प्रेरित प्रतिक्रियाएँ तन्मयता के ही विविध सोपान हैं और इन सभी में एक सूत्र प्रारम्भ से समापन तक गुंथता चला गया है। यह सही है कि राधा प्रारम्भ से ही प्रश्न की भूमि तैयार करती है और धीरे-धीरे उसी को विकसित होती गई है. किन्तु यह भी सही है कि वह दो बिन्दुओं पर एक साथ उपस्थित है। कवि स्वयं इन दोनों विरोधी बिन्दुओं को पूरक बनाने की धुन में लगा रहा है। यही वह जगह है—वह स्थल है जहाँ से प्रबन्ध के एक पक्ष का जीवन शुरू होता है। अतः अन्विति विशिष्ट संदर्भों का क्रमिक विन्यास, चरित्रांकन और प्रभावात्मक योजना की दृष्टि से 'कनुप्रिया' प्रबन्ध बन गई है।

'कनुप्रिया' से पहले 'अंधायुग' लिखा गया जिसमें भारती ने कृष्ण के महाभारतीय रूप को सामने रखकर आधुनिक जीवन की विसंगतियों को बाह्य दृष्टि से निरूपित करने का प्रयास किया है तो 'कनुप्रिया' में भगवान के कृष्ण के लीला बिहारी रूप को मनोगत रखकर आधुनिक समस्याओं और तद्गत प्रश्नों को आन्तरिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। ऐसा इसलिए किया गया कि कवि जीवन के अन्तस् और बाह्य दोनों बिन्दुओं की सत्ता और महत्ता को स्वीकार करता है। असल में ये दोनों दृष्टियाँ हैं जो एक दूसरे की पूरक हैं। जो प्रश्न और तज्जनित समस्याएँ भारती को 'अंधायुग' में गांधारी, युयुत्स और अश्वत्थामा के माध्यम से विचलित करती रहीं तथा जिनकी पृष्ठिका में भय, संशय और जिज्ञासा की वृत्ति थी, उन्हीं समस्याओं व प्रश्नों को एक अन्य बिन्दु से उठाया गया है 'कनुप्रिया' में। यह बिन्दु जिज्ञासा, भय और संशय का नहीं, भावाकुल तन्मयता का है—एक ऐसा भावस्तर है "जहां पर अनजाने में ही प्रश्न के ऐसे संदर्भ उद्घटित होते हैं जो पहले प्रश्नों के पूरक सिद्ध होते हैं।" इन दोनों कृतियों में आस्था-अनास्था, पाप-पुण्य, न्याय-दण्ड, धर्म-अधर्म, विजय-पराजय, सत्य-असत्य आदि अनेक प्रश्न हैं और इन्हीं में उक्त कृतियों का सौन्दर्य और महत्व प्रतिध्वनित है। इतने पर भी यह सच है कि इन प्रश्नों के प्रस्तुतीकरण का भावस्तर बदला हुआ है। सार्थकता क्या है? सार्थक बिन्दु कौनसा है? यह प्रश्न जहाँ 'अंधायुग' में अश्वत्थामा के बहाने यों उठाया गया है :

उसके नये अर्थ में/क्या हर छोटे से छोटा व्यक्ति/विकृत, अर्द्धबर्बर, आत्मघाती, अनास्थामय/अपने जीवन की सार्थकता पा जायेगा ?/

तो 'कनुप्रिया' में राधा की भावाकुल तन्मयता के क्षणों में इसे एक दूसरे रूप में यों उठाया गया है :

"हारी हुई सेनायें, जीती हुई सेनायें/नभ को कंपाते हुए युद्ध-घोष, क्रन्दन स्वर/भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई/अकल्पनीय, अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की/क्या ये सब सार्थक हैं ?"

एक में विकृति और अनास्था के माध्यम से सार्थक बिन्दु की खोज की गई है और दूसरी कृति में युद्धीय अमानुषिकता और अयाचित व अकल्पनीय घटनाओं के बीच सार्थकता के बिन्दु की तलाश की गई है। स्पष्ट ही दोनों कृतियों का संवेदन-स्तर एक ही तलाश की ओर अग्रसर है, किन्तु प्रस्तुतीकरण भिन्न-भिन्न है। 'कनुप्रिया' का वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह रोमांटिक होकर भी आधुनिक बोध को लिये हुए है। उसकी कथा के बिन्दु ही रोमांटिक हैं तभी तो कृष्ण के लीला बिहारी व्यक्तित्व, राधा के उन्मुक्त, स्वच्छंद, प्रेमिल और भक्तों द्वारा अनुभावित व्यक्तित्व को रूपायित किया गया है। ये सब रोमांटिक वृत्ति के ही संकेत सूत्र हैं। 'कनुप्रिया' में राधा प्रधान है। भारती ने पारम्परिक, भावाकुल प्रणयाकांक्षी, मिलनोत्सुक विरहाकुल रूप को प्रस्तुत करते हुए उसके तन्मयकारी क्षणों में सार्थकता की तलाश की है। यह एक नवीन बोध है या कहूँ कि बोध का नया धरातल है। तन्मयकारी भावाकुल क्षणों में सार्थकता की तलाश का यह बोध कृति की उपलब्धि है, कोई साधारण स्थिति नहीं।

'कनुप्रिया' का आधार भागवत है। उसमें कृष्ण का जो रूप है वह भागवत का लीलारूप ही है। हाँ इस लीलारूप के साथ महाभारतीय कृष्ण के राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ और व्याख्याकारक व्यक्तित्व को भी रूपायित किया गया है। राधा रागात्मक सेतु पर खड़ी होकर भी इतिहास के जीवंत क्षणों मे कृष्ण के साथ रहना चाहती है। वह अनुभव करती है कि केलि क्षणों की अन्तरंग मित्र मैं इतिहास में कैसे भुला दी गई ? इसी कारण वह कह उठती है :

बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता तुम्हारे इतिहास का/शब्द, शब्द, शब्द/राधा के बिना/सब रक्त के प्यासे/अर्थहीन शब्द/

इन्हीं पंक्तियों में 'कनुप्रिया' का उद्देश्य प्रतिबिम्बित हो उठा। वस्तुतः 'कनुप्रिया' में राधा के प्रेम को जिस नये रूप में दिखाया गया है उसका आधार केवल पुरानी बात को नये मुहावरे में ढालने का प्रयत्न भर नहीं है। भारती का उद्देश्य इससे बड़ा है क्योंकि वह राधाकृष्ण के प्रेम को भी एक वृहत्तर रूप में देखते हैं—ऐसा रूप जिसे देश कालातीत कहा जा सकता है, क्योंकि वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।

'कनुप्रिया' में राधा के मनोद्गारों का अभिव्यंजन है। यह अभिव्यंजन इतना क्रमिक, शृंखलित और सुविन्यास है कि एक सूक्ष्म-कथा की अन्तर्धारा का

आभास होने लगता है। इस प्रबन्ध में राधा कभी भावाकुल होकर स्वयं से बातें करती दीखती है और कभी भाव-विह्वला राधा अपनी स्थिति को भूलकर कृष्ण से बातें करने लग जाती है और कभी प्रिय की कही हुई बातों को याद करके यों ही बोलने लग जाती है। इस प्रकार राधा के समस्त मनोद्गार श्रृंखलित हैं, उनमें एक सरल-भोला क्रम है। इस क्रम को आधार और व्यवस्था देने का काम पूर्वराग, मंजरी-परिणय सृष्टि संकल्प और इतिहास चार सर्गों या शीर्षकों ने किया है। इनमें क्रमशः पाँच, तीन-तीन और सात गीत हैं। अन्त में समाधान की योजना है। इस प्रकार कुल 19 गीतों और पाँच शीषकों मे 'कनुप्रिया' की सूक्ष्म-कथा को पिरोया गया है। इस तरह इसे प्रबन्ध की श्रेणी में ही लिया जा सकता है। प्रत्येक अंश में मार्मिकता है, काव्यात्मकता है। भारती ने प्रभावी-बिन्दुओं का चयन किया है। 'पूर्वराग' खण्ड में भाव-विह्वलता, समर्पण की आकांक्षा और परितृप्ति की आकांक्षा व्यक्त हुई है तो 'मजरी-परिणय' में राधा का चरित्र साक्षात्कृत क्षणों के भय, संशय, उदासी और गोपन, प्रगाढ़ साहचर्य, रति-विलास की अतृप्ति, प्रणय-संकेत और रीतने की प्रक्रिया आदि की समस्त मनःस्थितियों में से किसी स्तर पर प्रश्नशील तथा आग्रही रहा है। सृष्टि-संकल्प में राधा स्वयं को कनु की सृजन-संगिनी अनुभव करती है। इस खण्ड का प्रत्येक गीत एक विशेष भाव को लेकर चला है और सभी भाव-कण एक दूसरे से पूरी तरह जुड़े हुए हैं। 'आदिम भय' में वह स्वयं को इस सृष्टि का प्रतीक स्वीकारती हुई स्वयं से ही प्रश्न करती चलती है। सृष्टि-संकल्प का अन्तिम गीत केलि-सखि है। प्रणय का उन्मेष इसमें बखूबी आकार पा सका है। परिणामतः वह कहती है :

कह दो समय के अचूक धनुर्धर से, कि अपने शायक उतार कर/तरकस में रखले/और तोड़ दे अपना धनुष/और अपने पंख समेट कर द्वार पर चुपचाप/ प्रतीक्षा करे।

किन्तु इतिहास में उसे अपनी उपेक्षा बरदाश्त नहीं होती है। वह असलियत को पहचानती है और अपने तन को एक सेतु मात्र स्वीकारती है जिसके सहारे कृष्ण इस पार से उस पार उतर गये है–युद्ध क्षेत्र के अलंघ्य अंतराल में। वह असहाय सी, विवश सी छूट जाती है क्योंकि सेनाओं की भगदड़ में वह अपने प्यार के साथ पूरी अकेली छूट गई है। यह अलग बात है कि वह आत्मतोष के लिये उपलब्ध स्थिति को ही अपने गर्व का कारण मानती है : गर्व कर बावरी/कौन है जिसके महान् प्रिय की/अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ हों।

किन्तु कृष्ण की महत्ता का यह स्वीकार बोध इन पंक्तियों के साथ जीवनगत सार्थकता के प्रवाह में मिल जाता है : कितना कुछ है जिसका/कोई भी अर्थ मुझे

समझ नहीं आता/अर्जुन की तरह कभी/मुझे भी समझा दो/सार्थकता है क्या बंधु !

इस तरह सम्पूर्ण कृति के ये सभी अंग-शीर्षक खण्ड जो चाहे कहलें एक सूक्ष्म, किन्तु भावात्मक कथा को विकसित करते गये हैं और सभी गीतों में काव्यात्मक विकास भावात्मक विकास का सहचर बनकर आया है।

'कनुप्रिया' में भावात्मक और प्रभावी स्थलों का विन्यास भी भरपूर है। इसमें प्रारम्भ से अन्त तक राधा की भावाकुल तन्मयता ही प्रतिबिम्बित है और इस प्रतिबिम्बित में भी एक सहज और भावोच्छल गंधोच्छल क्रम है। पूर्वराग' खण्ड की अबोध और अनजान जिज्ञासा ही 'मंजरी परिणय' में परिपक्व होती दिखाई देती है। राधा की अबोध मनस्थिति में भाव और प्रश्न एक साथ आकर मिलते गये हैं। तभी तो आम्र बोर का अर्थ न समझ सकने और उसके न आने पर कृष्ण केमान को वह अपने भावुक प्रश्नों व तर्कों से दूर करती है : मेरे हर बावलेपन पर/कभी खिन्न होकर, कभी अनबोला ठानकर, कभी हँसकर/तुम जो प्यार से अपनी बाहों में कसकर/बेसुध कर देते हो/उस सुख को मैं छोड़ूँ क्यों करूँगी बार-बार नादानी करूँगी/तुम्हारी मुँह लगी, जिद्दी नादान मित्र भी तो हूँ न !

'सृष्टि-संकल्प' में कनुप्रिया' अपने सर्वस्व 'कनु' में अपने को गलाकर सृजन संगिनी भी बन जाती है और इन केलि क्षणों को पूरी ईमानदारी से जीकर भी 'आदिमभय' से मुक्त नहीं हो पाती है : 'उद्दाम क्रीड़ा की बेला में/भय का यह जाल किसने फेंका है/' यही भय शंका और प्रश्निल मनस्थिति को गाढ़ से गाढ़तर करता जाता है और अन्ततः इस दुःखद प्रश्न में परिणति पाता है : 'प्रगाढ़ केलि क्षणों में अपनी अन्तरंग सखी को तुमने बाँहों में गूँथा। उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गये' ? अपने सेतुत्व को जानकर भी वह 'मैं आ गई हूँ प्रिय' कह देती है। कारण स्पष्ट है—राधा ने जो जीवन जिया है उसी में उसे सार्थक बिन्दु मिले हैं। अतः आरंभ से समापन तक, अबोध से बोध तक, भाव से प्रश्न तक और भोलेपन से वाक्पटुता तक में राधा की भावुक मनस्थितियों के विकसित सोपानों को लक्ष्य किया जा सकता है। अतः कथा की ही नहीं, भाव की भी सूक्ष्म अन्तर्धारा में उपलब्ध यह क्रम, यह विन्यास और परत दर परत यह विकास आलोच्य कृति को प्रबंधत्व प्रदान करता है। निश्चय ही कनुप्रिया एक नये अर्थ का प्रबंध काव्य है। यहाँ कृष्ण के साथ विताये राधा के विविध तन्मयकारी क्षणों को ही रूपाकार प्रदान करना भारती का अभिप्रेत है कोई स्थूल कथा की आवृति करना मात्र नहीं/ निश्चय ही भारती ने 'कनुप्रिया' में कथा-संकोच से ही काम चलाया है। उसने मानसिक द्वन्द्वों-अन्तर्द्वन्द्वों से विश्लेषण पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि कनुप्रिया की कथा मनोनिष्ठ अधिक है, स्थूल कम। उसमें कथा के स्फीत तन्तु कम हैं, सूक्ष्म संवेदना अधिक है। इसके विपरीत यदि कवि कथा के स्फीत तन्तुओं को

जुटाने पर अधिक ध्यान देता तो यह कृति भी 'प्रिय प्रवास' की श्रेणी में आ गई होती।

चरित्रांकन की दृष्टि से तो 'कनुप्रिया' के प्रबंध विधान में कोई कमी है ही नहीं। वस्तुतः 'कनुप्रिया' एक ऐसा प्रबंध काव्य है जो आधुनिक भावबोध और शिल्प दोनों को आत्मसात करके चला है। 'कनुप्रिया' में लोक-सेवा के स्थान पर मानवता की भूमि का फैलाव अधिक है। यह रचना संकेतित करती है कि मानवता के लिए बुद्धि और तर्क जितने अनिवार्य हैं, रागात्मक सम्बन्ध भी उतने ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं। ये दोनों ही जीवन के समग्र मूल्य हैं। 'कनुप्रिया' का एक निष्कर्ष यह भी है कि क्षण भर की तन्मयता का मूल्य भी बहुत बड़ा है। उसे भुलाकर सार्थक बिन्दु की तलाश अर्थहीन है। कारण सारी समस्याओं का हल कोरी बुद्धि के बल पर ही नहीं निकाला जा सकता है। यदि कोई हल प्राप्त भी हो जाय तो वह कितना स्थायी होगा ? यह एक प्रश्न है। कवि का संकेत मानो यही है कि मानवता के लिए, विविध मानवीय समाधानों के लिये रागात्मक मूल्य भी न केवल अनिवार्य होते हैं, अपितु अपरिहार्य भी होते हैं। समापन खण्ड इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि मानव रागात्मक संवेदन के स्तरों को छोड़कर जिन ऊँचाइयों को पाना चाहता है, वे उसे मिलती नहीं हैं। यदि मिल भी जाती हैं तो बहुत बड़ा मूल्य देकर। अतः उसे अपनी इस हानि का जैसे ही अहसास होता है वैसे ही वह पुनः राग चेतना की ओर लौटता है। कृष्ण भी लौटे हैं :

'अन्त में तुम हार कर, लौटकर थक कर/मेरे वक्ष के गहराव में/अपना चौड़ा माथा रखकर/गहरी नींद में सो गये हो/और मेरे वक्ष का गहराव, समुद्र में बहता हुआ, बड़ा सा ताजा, क्वारा/मुलायम गुलाबी वट-पत्र बन गया है।'

कृष्ण का इतिहास-निर्माण बाह्य कृत्य है जो आन्तरिक रागात्मकता की प्रतीक राधा के तन्मयाकुल और भावापन्न साहचर्य के अभाव में पूर्णता पा ही नहीं सकता था। भारती की स्थापना ही यह है कि अन्तर्बाह्य के समायोजन के बिना, तर्क और भाव के समीकरण के बिना और राग व विवेक की सहयात्रा के बिना किसी महत्तर और सार्थक मूल्य की तलाश बेमानी है। राधा ने कृष्ण के साहचर्य से एक सत्य पाया, एक सार्थकता तलाशी और अपने तलाशे हुए मूल्य को ही अन्तिम सत्य माना-अपना सार्थक सत्य माना। उसे शंकित भले होना पड़ा हो, किन्तु उसने कृष्ण के संदर्भ से उसे कभी झुठलाया नहीं। कृति की मूल संवेदना प्रेम है, किन्तु वह भी जीवन-मूल्यों से असम्पृक्त नहीं है। युद्ध और प्रेम में कौन सच है ? स्पष्ट ही प्रेम सच है क्योंकि वह द्विधाहीन मन की निश्छल और संकल्पात्मक अनुभूति है और उसे ही राधा ने जिया है। युद्ध और इतिहास की निर्माणपरक अनुभूतियाँ तो अनजिया सत्य हैं फिर उनमें सार्थकता का बिन्दु कहाँ सभव है ? नहीं न ! यही तो कनुप्रिया' का संकेत है।

कनुप्रिया का शिल्प :—

कनुप्रिया भाव-बोध के धरातल पर यदि परम्परा और नवीनता का समिश्रण प्रतीत होती है तो शिल्प के धरातल पर भी उसमें परम्परा प्रयोग और प्रगति के तत्वों का समुचित समीकरण दिखाई देता है। शिल्प किसी भी कृति का बाह्य रूप है। कवि के मानस में उमड़ती-घुमड़ती अनुभूतियाँ जब बाहर आने को छटपटाती हैं तो शिल्प की आवश्यकता होती है। शिल्प वह माध्यम है जो अनुभूति को व्यक्त करता है। शिल्प विधि के अंगों में भाषा, शैली, अलंकार योजना, बिंब योजना, प्रतीक योजना और छंदयोजना को विशेष महत्व प्राप्त है। कनुप्रिया न केवल भावबोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है अपितु शिल्प-सौन्दर्य की दृष्टि से भी उसका विशेष महत्व है। उसमें प्रयुक्त शिल्प एक ओर तो छायावादी संस्कारों से प्रभावित है और दूसरी ओर नयी कविता की शैल्पिक रंगत का आभास भी देता है।

कनुप्रिया के शिल्प को लेकन कई प्रकार की बातें कही जाती हैं। कुछ आलोचकों की दृष्टि में कनुप्रिया का शिल्प कमजोर और अपरिक्व है। यह आरोप संभवतः इसलिए लगाया गया है कि इसकी रोमानी चेतना के आग्रहवश धर्मवीर भारती उर्दू की नजाकत और लचक को प्राथमिकता दे गये हैं। सचाई यह है कि इस कृति में शब्दों का चुनाव उर्दू की नजाकत और लचक के काफी निकट है, किन्तु यह स्वाभाविक था। राधा की भावाकुल तन्मयता के लिए नयी शब्दावली-बौद्धिक खींचतान भरी शैली एकदम उपयुक्त नहीं हो सकती थी। कवि को जो कुछ कहना था वह दूसरे शब्दों में-नयी कविता की बौद्धिक शैली में कहा तो जा सकता था किन्तु तब इसका प्रभाव कम हो जाता और राधा की भावाकुल तन्मयता के आगे प्रश्न-चिह्न लग जाता। मेरी दृष्टि में राधा जिस मनःस्थिति में जी रही है उसके लिए यही शिल्प उपयुक्त था। हाँ, जहाँ-जहाँ राधा प्रश्निल हो उठी है वहाँ-वहाँ कनुप्रिया का शिल्प भी तद्नुकूल होता चला गया है। यह तो कहा जा सकता है कि इसका शिल्प छायावादी अधिक है, किन्तु यह कहना बेबुनियाद है कि वह कमजोर है। फिर किसी हद तक उसमें पारंपरिक संदर्भ भी अनुस्यूत हैं।

अज्ञेय जी ने भारती के भाषा-संस्कार को एक मिश्र संस्कार कहा है। उनकी आपत्ति उर्दू शब्दों के प्रयोग से संबंधित है। राधा-कृष्ण के संदर्भ में वे उतने प्रभावकारी नहीं बन पाये हैं। कारण राधा-कृष्ण का संदर्भ पौराणिक है, उसमें यह शब्दावली पूरी तरह खप नहीं पायी है। कवि जिस देश-काल को हमारे सामने मूर्त करना चाहता है उसका वे खण्डन करते हैं।" हमारी समझ में यह बात नहीं है, क्यों कि बात देशकाल की नहीं, भाव-बोध की है। कवि राधा और कृष्ण के प्रणय-बोध को रोमानी शैली और सबसे अधिक ईमानी शैली में व्यक्त करना चाहता है। इसीलिए यदि उसने कुछ उर्दू शब्दों से काम लिया है तो कथ्य अप्रभावकारी नहीं

हुआ है और न ऐसा माना जा सकता है। कनुप्रिया की संवेदना कवि की निजी संवेदना है। अतः उसकी भाषा का अपना महत्व है। वह राधा की विविध मनः-स्थितियों के बिंब उतारने में पूरी तरह सक्षम है। अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि ताजे, सघन और मौलिक बिम्बों की सृष्टि कर सका है। कवि ने शब्दों की आत्मा में पैठकर जैसे सारे जीवन्त रंग भर दिए हैं हैं। अपवादस्वरूप उसमें कुछ शब्द ऐसे जरूर हैं जो भावराशि में खपते नहीं हैं। 'जिस्म', 'जादू' तो ऐसे हैं ही, कुछ वे शब्द भी हैं जो तत्सम और देशज के योग से बने हैं-निर्वसना जलपरी, जिद्दी नादान-मित्र, शिथिल गुलाबतन, अथाह सूनापन और तेजस्वी माथा आदि।

भाषा :

भाषा वह सेतु है जिससे होकर एक व्यक्ति का सत्य दूसरे तक पहुंचता है। जब तक कवि की भाषा इस सेतुत्व गुण से युक्त रहती है तब तक वह सार्थक और अपरिहार्य प्रतीत होती है। स्वय धर्मवीर भारती की मान्यता है कि भाषा को भावानुगामी होना चाहिए। भाषा की कृत्रिमता को धर्मवीर भारती ने कभी महत्व नहीं दिया। दूसरा सप्तक के वक्तव्य में भारती ने लिखा है 'भाषा भाव की पूर्ण अनुगामिनी रहनी चाहिए। बस ! न तो पत्थर का ढोंका बनकर कविता के गले में लटक जाए और न रेशम का जाल बनकर उसकी पाँखों में उलझ जाए।'' कहने का तात्पर्य यही है कि भाषा जिस सीमा तक प्रभावी, अभिव्यंजक, संप्रेषणीय और संवेद्य होगी उसी सीमा तक काव्य का कथ्य भी संवेद्य और सक्षम होगा। साहित्यिक दृष्टि से देखें तो भाषा का सहज-संवेद्य होना अत्यन्त अनिवार्य है। नयी कविता में प्रयुक्त भाषा काव्यात्मक और बोल-चाल दोनों ही प्रकार की है। भारती ने कनुप्रिया में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त है। कनुप्रिया भाषा के स्तर पर कमजोर कृति प्रतीत नहीं होती। उसमें प्रयुक्त शब्दविधान कहीं तत्सम शब्दावली से युक्त है यो कहीं बोलचाल की शब्दसयोजना से। उर्दू और फारसी के शब्दों का प्रयोग उन्हीं प्रसंगों में अधिक हुआ है, जहाँ राधा की भावाकुल तन्मयता को प्रस्तुत किया गया है। राधा जिस समर्पण के साथ कृष्ण के प्रति उपालंभ देती है अथवा अपनी मनोगत भावनाओं की अभिव्यजना करती है उसके लिए भाषा की कोमलता, स्निग्धता और संगीतात्मकता अपेक्षित थी। यही कारण है कि कनुप्रिया की भाषा में रागतत्व भी है और प्रश्निल स्थितियों में उसकी भाषा यथार्थपरक हो भी गई है। शब्दचयनगत विशेषताओं के आधार पर कनुप्रिया की भाषा का विवेचन आगे किया जा रहा है।

शब्द प्रयोग :

धर्मवीर भारती सामान्यतः जनभाषा के पक्षधर रहे हैं, किन्तु विषय निर्वाह के उद्देश्य से उन्होंने संस्कृत गर्भित शब्दावली का प्रयोग भी किया है। उनकी भाषा

में शब्दावली कैसी भी रही हो, निश्चय ही वह सहज प्रवाह से युक्त है। उसकी भाषा में सरलता और सुबोधता इतनी अधिक है कि पाठक कनुप्रिया को बारबार पढ़ने के लिए बाध्य हो जाता है। संस्कृत गर्भित शब्दावली के प्रयोग में भारती ने बड़े कौशल से काम लिया है। ऐसी शब्दावली कहीं आभिजात्य कहीं गरिमा और कहीं भव्यता व उदात्तता लाने के लिए प्रयुक्त हुई है। जहाँ प्रसंग उदात्त सरणियों को पार करता हुआ उच्चता की भावनाओं को प्रतिमूर्तित करता है वहाँ संस्कृत गर्भित शब्दावली का प्रयोग प्रभावी बन पड़ा है। उनके द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्दावली के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं— पुष्पहीन, प्रस्फुटन, अवगुंठन, ध्यान-मग्न, निर्लिप्त, वीतराग, अनावृत, अस्तव्यस्त, निर्व्याख्या, निभृत एकान्त, मृणाल, निखिल पारावार, दिग्वधू, कालवधू, जन्म-जन्मान्तर सृष्टि संकल्प, अस्फुट सीत्कार, प्रसुप्त, संज्ञाशून्य, पुनरावृत्तियाँ, लीलातन, छायातन, आस्वादन, करकापात, केशविन्यास, निर्वसना, उत्फुल्ल, वातायन, केलिकथा, अलकपाश, आश्लेष, भावावेश, सृष्टि-संकल्प, सृजनसंगिनी, अभिसार, दंतपंक्ति, ज्योतिमाला, अकल्पनीय और अमानुषिक आदि कितने ही ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग कनुप्रिया में हुआ है। तत्सम शब्दों में ही कुछ सामासिक और कुछ संधिज शब्दों का प्रयोग भी कनुप्रिया में हुआ है। सृजन संगिनी मंजरी प्रणय, आम्रबौर' केलिकथा, नील जलज, जावक रचित, वेतस लता और केशविन्यास जैसे शब्द सामासिक हैं तो धर्मोन्मीलित, धर्माधर्म, दिशाकाश, चम्पकवर्णी, पुनरावृत्ति, भावावेश, सख्यातीत, निरावृत्त, अनावृत और निर्व्याख्या आदि संधिज शब्द हैं। इन संस्कृत गर्भित शब्दों के प्रयोग से कनुप्रिया की मूल चेतना पर कोई आघात नहीं पहुंचा है। ये शब्द कनुप्रिया की भाषा को एक गरिमाबोध से जोड़ देते हैं।

कनुप्रिया की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। भाषा में कोमलता और सार्थकता लाने के लिए ऐसे शब्द स्थान स्थान पर देखे जा सकते हैं। कवि ने तद्भव शब्दों का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं किया है। उसने प्रयोग से पहले प्रत्येक शब्द को तोला और तराशा है, तब कहीं जाकर उसे कविता की पंक्तियों में बिठाया है। रीतता हुआ, संध्याबिरियाँ टेरा व बावरी जैसे शब्द तद्भव हैं। इतना ही नहीं कवि ने बोलचाल की भाषा को भी स्नेहिल दृष्टि प्रदान की है। यों कनुप्रिया के कवि की कुशलता उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द विधान में है तो उसकी कमजोरी भी शब्दों के यत्र-तत्र हुए बेमेल नियोजन में निहित है। विशेषणों और सम्बोधनों का चुनाव बड़ी खूबी और जागरुकता से किया गया है। 'कनु' को जो विशेषण और सम्बोधन मिले हैं वे प्रभावी, सार्थक और प्रसंगसंबद्ध होने के साथ-साथ अर्थगर्भित भी हैं: मेरे साँवरे! मेरे स्वर्णिम गीत! मेरे प्यारे! मेरे प्राण! मेरे समुद्र! मेरे सहयात्री! लीला बंधु! चंदन! मेरे अधैर्य! मेरे इच्छामय! मेरे

स्रष्टा ! मेरे असमंजस ! मेरे उत्तर ! और मेरे लीलामय आदि । कहीं-कहीं लाक्षणिक विशेषण भी मन की गहराइयों में उतर कर हमें एक नये अर्थ की प्रतीति करा जाते हैं। आहत प्यार ! ऐसा ही प्रयोग है। इसमें 'प्यार' का मानवीकरण भी है और दूसरे 'आहत' शब्द की लाक्षणिकता ने इस चमत्कारिक विशेषण को परिकर अलंकार भी बना दिया है। यों भी लाक्षणिकता तो 'कनुप्रिया' में कदम-कदम पर मिलती है ।

कनुप्रिया में आये कुछेक लाक्षणिक प्रयोग तो मुहावरों के रूप में भी आये हैं। एक तो मुहावरे यों भी भाषा को समृद्ध बनाने के साथ-साथ अर्थ को प्रभावी और घनीभूत करते हैं फिर उनकी लाक्षणिकता तो अभिव्यंजना को और भी सशक्त बना देती है। 'कनुप्रिया' जैसी भाव विह्वला और समर्पिता नारी के मनोभावों की व्यंजना के लिए तो ये लाक्षणिक प्रयोग और भी उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ : धूल में मिली हूँ/ धरती में गहरे उतरी हूँ/ रेशे-रेशे सोई हूँ/ राहों के अलाव में कसी हुई; दर्द से पके हुए / हाय मुझी पर पग रख मेरी बाहों से इतिहास तुम्हें ले गया /' हवा मेरी रूखी अलकों से खेल करती है' तुम्हारे महान् बनने में क्या मेरा कुछ टूट कर बिखर गया है कनु / वह मेरी तुर्शी है जिसे तुम विशेष प्यार करते हो। अँधेरे में भी दृष्टियाँ जाग उठी हैं और हर शब्द को अँजुरी बनाकर बूँद-बूँद तुम्हें पी रही हूँ / यों कुछेक परम्परागत मुहावरे भी कनुप्रिया में मिलते हैं; किन्तु वे न तो उतने आकर्षक ही हैं और न उतने अर्थगर्भित ही हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि कतिपय मुहावरे अति प्रयोगों की चोट सहते-सहते इतने घिस-घिसा गये हैं कि उनके अर्थ की 'पालिश' उतर गई है। फलतः वे प्रभावी नहीं रहे; आम बोलचाल की भाषा के अंग बन गये हैं। 'मुँह लगी' और 'हाथ को हाथ न सूझना' जैसे प्रयोग इसी प्रकार के हैं। संभवतः इसी वजह से भारती ने इनसे अपने काव्य को बचाये रखा है। हाँ कहीं-कहीं व्यंग्य जनित वक्रोक्तियों के प्रयोग से भी मन्तव्य को आकर्षक शैली में अभिव्यक्ति प्रदान की गई है : "कर्म, स्वधर्म निर्णय, दायित्व ''' "मैंने भी गली-गली सुने हैं ये शब्द" में व्यंग्य-वक्रता को देखा जा सकता है।

शब्द प्रयोग की दृष्टि से 'कनुप्रिया' में अनेक स्थलों पर बोलचाल की भूमिका पर विकसित प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इनके प्रयोग से कवि ने दो काम किये हैं : एक तो अर्थ-प्रवाह में सरसता और मिठास आ गया है और दूसरे भावात्मक संदर्भों में आये ये शब्द एक अतिरिक्त, किन्तु अनिवार्य भोलापन भी भाव के साथ समेट लाये हैं। संझाविरियाँ, घनी छाँव, छोटे से छोने, अँजुरी भर-भर, नगर-डगर, बावरी, पोर-पोर कसे हुए आदि शब्द प्रयोग इसी श्रेणी में आते हैं। वस्तुतः 'कनुप्रिया' में प्रयुक्त शब्दावली प्रेषणीयता और औचित्य के गुणों से समृद्ध है, उसमें ठहराव नहीं है; एक वेग है; एक स्पंदन है और इस सबसे ज्यादा

उसमें एक प्रेमिल यौवन है। शब्दों का चुनाव और पंक्तियों में उनका नियोजन इतना मादक और लालिमायुक्त है कि भाषा में चित्रात्मकता का समावेश भी सहज ही हो गया है। चित्रात्मक भाषा में जो प्रवाह, जो गत्वरता और जो स्पंदित करने वाली संदर्भोचित प्रेषणीयता होनी चाहिए, वह कनुप्रिया के प्रत्येक अंग में कमोवेश मात्रा में मिलती है। कृति का आरम्भ रोमानी भूमिका से उठकर आधुनिक भाव बोध की भूमियों का स्पर्श करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'कनुप्रिया' के चित्रात्मक अंशों में बिम्बों की माला कहीं शब्द-वैभव से, कहीं स्मृतियों की माला से और कहीं उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं के सज्जात्मक वर्णनों से खिल-खिल उठी है। उपमा और रूपक गर्भित बिम्बों के ये नमूने देखिये :

अक्सर जब तुमने दावाग्नि में/सुलगती डालियों, टूटते वृक्षों/
हहराती लपटों और घुटते हुए धुएँ के बीच निपाय/
असहाय बावली सी/भटकती हुई मुझे/साहसपूर्वक अपने/
दोनों हाथों में/फूल की थाली-सा/सहेजकर उठा लिया/····

और तुम्हारा साँवरा लहराता हुआ जिस्म तुम्हारी किंचित् मुड़ी हुई शंख-ग्रीवा/तुम्हारी उठी हुई चंदन-बाहें, तुम्हारी अपने में डूबी हुई, अधखुली दृष्टि ······;

और आलिंगन-कसाव का यह बिम्ब कितना मादक; कितना भावपूर्ण और कितना असली है :

और यह मेरा कसाव निर्मम हैं/ और अंधा और उन्माद भरा/
और मेरी बाहें/नागवधू की गुंजलक की भाँति कसती जा रही हैं/
और तुम्हारे कंधों पर/बाहों पर, होठों पर, नागवधू की शुभ्र-दंत-
पंक्तियों के/नीले-नीले चिह्न उभर आये हैं/

बिम्बों की तरह ही 'कनुप्रिया' में कतिपय प्रेमिल प्रतीक भी आये हैं। 'इतिहास खण्ड' और समुद्र-स्वप्न शीर्षक गीत तो प्रतीक शैली में ही लिखे गये हैं। समुद्र, सीपियाँ, लहरें, मछलियाँ, नारियल कुंज और 'बूढ़ा पीपल' आदि सब प्रतीक ही तो हैं जो क्रमशः ससार, असहाय मानवता, विक्षुब्ध भाव, हर्ष-उल्लास और विषाद व निराशा का प्रतीकत्व लिये हुए हैं।

नई कविता ने अप्रस्तुतों के क्षेत्र में भी कतिपय नयी योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। भारती की 'कनुप्रिया' भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं है। कुछेक मूर्त, सूक्ष्म और सार्थक अप्रस्तुतों की बानगी देखिये—

1. वेतसलता सा काँपता तन 2. माँग सी उजली पगडंडी 3. लाज से धनुष की तरह दोहरी हो जाती हूँ 4. शेष रह गई मैं केवल काँपती प्रत्यंचा सी। इसी प्रकार वियोगिनी राधा के शिथिल, रीते और म्लान मुख व तन के लिये लाये गये ये अप्रस्तुत कितने सूक्ष्म, किन्तु कितने मूर्त हैं :

1. बुझी हुई राख टूटे हुए गीत/ डूबे हुए चाँद/ रीते हुए पात्र/ बीते हुए क्षण सा—मेरा यह जिस्म आज/

2. वह जूड़े से गिरे हुए बेले-सा/बीते हुए उत्सव सा/उठे हुए मेले सा/ बुझी हुई राख में छिपी चिनगारी सा/

रीते हुए पात्र की आखिरी बूँद सा/पाकर खो देने की व्यथा भरी गूँज-सा ...... ! ये सभी उपमान भावोपम, चित्रोपम और रसोपम तो हैं ही; यथार्थ और सूक्ष्म भाव-बिन्दुओं को मूर्तित करने की क्षमता भी रखते हैं। इनमें नवीनता के साथ मौलिकता; भावुकता के साथ व्यंजकता और मादकता के साथ संदर्भ परकता भी भरपूर है। लगता है काव्य की वर्ण्य मनःस्थितियों को भारती स्वयं जी रहे हैं तभी तो इतने सही; इतने वास्तविक और इतने गहरे अप्रस्तुओं की सृष्टि हुई है। 'कनुप्रिया' मुक्त छंदीय रचना है। यों कवि छंदों के बंधन को अस्वीकार करता है। यही वजह है कि 'कनुप्रिया' में अनेक स्थलों पर गद्य दिखाई देता है; किन्तु यह गद्य भी कई जगह तो कृति की संवेदना की सुन्दरता को बढ़ा देता है : "आज इस निभृत एकान्त में मैं तुमसे दूर पड़ी हूँ/मैं घंटों जल में निहारती हूँ/क्या तुम समझते हो कि इस भाँति मैं अपने को देखती हूँ/" वास्तविकता यह है कि 'कनुप्रिया' की रचना एक भाव-लय के आधार पर हुई है। उसमें प्रारम्भ से अन्त तक ऐसा आकर्षण है कि पाठक उसकी लहरों पर तैरता हुआ अन्त तक पहुँचकर ही साँस लेता है।

कनुप्रिया का कवि शैली का धनी है। उसने भावानुकूल और प्रसंगानुकूल शैलियों की अवतारणा की है। इसी से उसमें नाटकीय शैली; संवाद शैली; तर्क शैली, आवेश शैली, सम्बोधन शैली, अलंकृत शैली और माधुर्य व व्यंग्य आदि शैलियों के भी दर्शन होते हैं। व्यंग्य शैली की प्रतिबोधक ये पंक्तियाँ देखिये :

उदास क्यों होती है नासमझ/कि इस भीड़-भाड़ में/तू और तेरा प्यार नितान्त अपरिचित छूट गये हैं/गर्व कर बावरी !/कौन है जिसके महान् प्रिय की/ अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ हों ?/

कृति में प्रयुक्त नाटकीय शैली परिवेश की गतिशीलता और उसके उत्थान-पतन को व्यक्त करती है। साथ ही भावों को व्यक्त करने में पूरी तरह सफल है। अनेक स्थलों पर तो स्थिर बिम्ब भी नाटकीयता से युक्त है :

मैंने कोई अज्ञात वन देवता समझ/कितनी बार तुम्हें प्रणाम कर सिर झुकाया/पर तुम खड़े रहे, अडिग, निर्लिप्त, वीतराग, निश्चल/तुमने कभी उसे स्वीकारा ही नहीं।/

यों तो कृति में आद्यंत नाटकीय शैली का विधान देखने को मिलता है; किन्तु 'मंजरी परिणय' के तो सभी गीत नाट्यात्मक हैं। कृष्ण ने राधा को आम्र

मंजरियों के नीचे बुलाया है किन्तु वह नहीं आती। इसी प्रसंग में "मैं नहीं आयी/नहीं आयी/नहीं आयी/में यह आवृत्ति सारे प्रसंग को नाटकीय बना देती है। कृष्ण के चले जाने पर राधा आती है और उन्हें न पाकर रोती है। वापस लौटती है तो आम के टूटे बौर जो कृष्ण की अँगुलियों द्वारा अनजाने में चूर होकर पगडंडी पर बिखर गये थे, राधा के पावों को बुरी तरह सालते हैं:

पर तुम्हें यह कौन बतलायेगा साँवरे/कि देर में ही सही/पर मैं तुम्हारे पुकारने पर आ तो गयी/और माँग सी उजली पगडंडी पर बिखरे/ये मंजरी कण भी अगर मेरे चरणों में गड़ते हैं तो/इसीलिए न कि कितना लम्बा रास्ता/कितनी जल्दी-जल्दी पार कर मुझे आना पड़ा है/ और काँटों और कांकरियों से मेरे पाँव किस बुरी तरह घायल हो गये है!

यह सब कितना नाट्यात्मक है। अभिव्यक्ति का यह नाटकीय नियोजन समस्त कृति में मिलता है। 'शब्द : अर्थहीन' गीत में यह नियोजन और भी ऊँचाई पर दिखाई देता है जब कृष्ण कर्म, स्वधर्म, निर्णय आदि के उपदेश दे रहे होते हैं और राधा केवल राधन, राधन, राधन ही सुन पाती है। नाटकीय शैली की भाँति ही भावावेग पूर्ण शैली भी कनुप्रिया की आत्मा मे बसी है। इस शैली के द्वारा कवि ने भावावेग को स्वाभाविक बनाये रखने के साथ साथ ईमानदारी से रेखांकित भी कर दिया है। शब्दों और वाक्यों की आवृत्ति ने इस शैली को और अधिक रसमय बना दिया है : "और तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा का अर्थ हूँ केवल मैं! केवल मैं!! केवल मैं!!!" इसी प्रकार भावावेगपूर्ण शैली की सूचक ये पंक्तियाँ भी देखिये—

मेरे अधखुले होंठ काँपने लगे हैं और कंठ सूख रहा है और पलकें आधी मुँद गई हैं/और मेरे सारे जिस्म में जैसे प्राण नहीं हैं मैंने कसकर तुम्हें जकड़ लिया है/और जकड़ती जा रही हूँ/और निकट और निकट कि तुम्हारी साँसें मुझमें प्रविष्ट हो जायें/तुम्हारे प्राण मुझमें प्रतिष्ठित हो जायें/तुम्हारा रक्त मेरी मृतप्राय शिराओं में प्रवाहित होकर/फिर से जीवन संचारित कर सके/

ये उकेरे गयेचित्र कहीं प्राचीन शब्दावली के सहारे और कहीं नवीन विशेषणों व प्रतीक आदि के सहारे तैयार हुए हैं। फलतः रोमानी और प्रेमिल संदर्भों में चित्र भाव-पूर्ण और आधुनिक व बौद्धिक संदर्भों में वैचारिक हो गये है। दो उदाहरण देखिये :

"और जब तुमने कहा था कि 'माथे पर पल्ला डाल लो!/तो क्या तुम चिता रहे थे/कि अपने इसी निजत्व को,/अपने आन्तरिक अर्थ को मैं सदा मर्यादित रखूँ, रसमय और/पवित्र रखूँ/नववधू की भाँति।

इसी प्रकार प्रणय-केलि के बाद राधा को भोगे हुए क्षणों की स्मृति दुखा रही है; उसका वेतस लता सा काँपता तन कैसा म्लान और टूटा सा हो गया है;

उसका यह चित्र एक साथ ही पाठक के मन में अनगिनत चित्रों की लड़ियाँ गूँथ जाता है :—

कल तक जो जादू था, सूरज था, वेग था/तुम्हारे आश्लेष में/आज वह जूड़े से गिरे हुए बेले सा/टूटा है, म्लान है/दुगुना सुनसान है/बीते हुए उत्सव सा, उठे हुए मेले सा/मेरा यह जिस्म/टूटे खण्डहरों के उजाड़ अन्तःपुर में/छूटा हुआ एक साबित मणिजटित दर्पण-सा/आधी रात दंश भरा बाहुहीन/प्यासा सर्पीला कसाव एक/जिसे जकड़ लेता है अपनी गुंजलक में/

'कनु' की प्रिया का व्यक्तित्व स्मृतियों की मंजूषा बनकर रह गया है। प्रिय के साथ बिताये गये वे अनमोल और अविस्मरणीय क्षण उसके मानस में बार-बार कौंध जाते हैं और उसी प्रक्रिया में एक के बाद एक चित्र उभरते गये हैं :

उस दिन तुम उस बौर लदे आम की/झुकी डालियों से टिके कितनी देर मुझे वंशी से टेरते रहे/ढलते सूरज की उदास काँपती किरणें/तुम्हारे माथे के मोर पंखों/से बेबस, विदा माँगने लगीं/मैं नहीं आयी !

इसी क्रम में कनुप्रिया में प्रयुक्त सरस और माधुर्यपूर्ण शैली के साथ-साथ अलंकृत और कलात्मक शैली को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इसके भी अनेकानेक उदाहरण कनुप्रिया में उपलब्ध हैं; किन्तु स्पष्टीकरण के लिये एक पर्याप्त है :

तुम्हारे चंदन-कसाव के बिना मेरी देहलता के/बड़े-बड़े गुलाब धीरे-धीरे टीस रहे हैं/और दर्द उस लिपि के अर्थ खोल रहा है/जो तुमने आम्रमंजरियों के अक्षरों में/मेरी माँग पर लिख दी थी।/

'कनुप्रिया' की सृष्टि नाट्यात्मक धरातल पर हुई है। इसके प्रबंधत्व में यह बाधा नहीं है। यों इसके पाँचों खण्डों में अलग-अलग गीत हैं और गीतों में संवाद के निमित्त अवकाश कम ही रहता है; किन्तु भारती ने इसमें संवादों की भी योजना कर डाली है। इस प्रबंध के संवाद कुछ अतिरिक्त विशेषताओं से सम्पन्न हैं। ये विशेषताएँ लाक्षणिकता; प्रभविष्णुता और अर्थवत्ता से सम्बद्ध हैं। सम्वादों का सम्बंध राधा से है। हाँ आपवादिक रूप से कृष्ण के संवाद भी आये हैं; किन्तु उनकी अभिव्यंजना भी राधा के माध्यम से हुई है। 'फ्लैश बैक्स' के सहारे कृष्ण के अनेक संवाद राधा के मानस में आप ही आप दुहरते रहे हैं और वह उनसे ही सम्बद्ध कभी प्रत्युत्तर स्वरूप और कभी अपनी मानसिक स्थिति की व्यंजना स्वरूप संवादों की शैली में बोलती रही है। राधा के संवादों में भावुकता, सरलता; निश्छलता, चटकीलापन और एक भोली शोखी तो है ही; उनमें गति, चेतना और नाटकीय त्वरा भी भरपूर है। कहीं-कहीं संवाद लम्बे भी हो गये हैं, किन्तु बावजूद अपनी प्रदीर्घता के वे सप्राण और जीवन्त हैं। पूर्वराग' खण्ड में प्रयुक्त संवाद और उनसे निर्मित शैली बड़ी मार्मिक व मर्मप्रहारक सिद्ध हुई है। पश्चाताप के पलों में उसकी एक-एक बात बड़ी मार्मिक बन गई है :

फिर भी उसे चीर कर/देर में ही आऊँगी प्राण, तो क्या तुम मुझे अपनी लम्बी/चन्दन बाँहों में भरकर बेसुध नहीं कर दोगे ?/

इन सभी शैलियों के साथ-साथ 'कनुप्रिया' की आत्मा में आद्यंत व्याप्त भावाकुलता की अभिव्यंजना सम्बोधन शैली में भी हुई है। राधा का सारा प्यार, समर्पण और उसके भावाकुल हृदय की प्रेमिल ध्वनियों को सम्बोधन के सहारे व्यक्त किया गया है। कृष्ण के लिये प्रयुक्त सम्बोधनों में 'मेरे कनु' मेरे प्यार ! मेरे स्वर्णिम संगीत ! कनु मेरे; मेरे साँवरे; मेरे सम्पूर्ण के लोभी तुम !; योगेश्वर और मेरे जीवन-संगीत आदि प्रमुख हैं। 'कनुप्रिया' में इस सम्बोधन शैली का प्रयोग बड़ी मार्मिकता से हुआ है। सम्बोधनों की विविधता और मौलिकता के बीच-बीच में 'न', 'लो' जैसे प्रयोगों से राधा की भावाकुल तन्मयता द्विगुणित हो गई है। कुछेक पंक्तियाँ देखिये :

सुनो मेरे प्यार !/तुम्हें जरूरत थी न लो, मैं सब छोड़कर आ गयी हूँ।/ तुमने मुझे पुकारा था न !/मैं पगडंडी के कठिनतम मोड़ पर/तुम्हारी प्रतीक्षा में/ अडिग खड़ी हूँ, कनु मेरे !/

सच बात यह है कि भारती की शैली में सहज आत्मीयता है, कहीं भी बनावट नहीं। अतः वह सीधे भाव को हृदय में उतार देती है— बीच में अटकाकर भटकाती नहीं है। जब कभी राधा का भावाकुल मन प्रश्नाकुल हो उठा है तब भी उसकी शैली में एक भोलापन निश्छलता और सहज संवेद्यता बनी रही है; किन्तु जब राधा भाव-विह्वल होकर कृष्ण से अपनी सारी बातें कहती है तो उसके कथन में तीव्रता; जल्दी-जल्दी पूरी बात कहने की आतुरता भी दिखाई देती है। लगता है जैसे एक साँस में ही सब कुछ कह देगी। 'आम्रबौर का गीत' व 'तुम मेरे कौन हो' गीतों में यह त्वरा देखी जा सकती है। पाठक जैसे-जैसे उसे पढ़ता है वैसे-वैसे वह भी उतनी ही तीव्रता और आतुरता के साथ आगे बढ़ता जाता है। सब कुछ कहकर रीत जाने की आतुरता राधा में है तो पाठक में सब कुछ जल्दी-जल्दी जान जाने की शीघ्रता बनी रहती है। वह सब कुछ कहकर रीत जाना चाहती है—फिर भरने के लिए और पाठक सब कुछ सुनकर भर जाना चाहता है अपनी तृप्ति के लिए। कुल मिलाकर भारती की कनुप्रिया में एक ओर पारंपरिक संदर्भ हैं तो दूसरी ओर आधुनिक बोध के आयाम भी हैं। उसमें भारती प्रयत्न करने पर भी रीतिवादी और छायावादी संस्कारों से पूरी तरह मुक्ति नहीं पा सके हैं। उनका 'मानस' 'अन्धायुग' के प्रश्नों में झूलता दिखाई देता है तो 'ठण्डा लोहा' का मदिर और तन्मयकारी आकर्षण भी हृदय में मचलता हुआ मन के कोनों को खाली नहीं कर सका है। यही कारण है कि 'कनुप्रिया' छायावाद और नयी कविता दोनों की जमीन पर लिखी गई गाथा बनकर रह गई है।

५. गिरिजाकुमार माथुर

नयी कविता जिन कवियों के सतत प्रयास और स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व की छाँह में पली-बढ़ी और ऊँचाइयों तक पहुँची है; उनमें गिरिजाकुमार का नाम प्रतिनिधि कवि के रूप में लिया जा सकता है। ये एक ऐसे कवि हैं जो किसी एक वाद, गुट और धारा से नहीं बँधे हैं। वे तो सतत जागरूक और पिछली मान्यताओं को अस्वीकार करके आगे बढ़ने वाले कवि हैं। उनकी हरेक रचना अपनी सहज निष्ठा, भविष्यधर्मी चेतना और रोमानियत को साथ लेकर भी यथार्थ बोध से जुड़ी रही है। एक ओर तो उनके काव्य में सूक्ष्म, प्रेमिल, मांसल और गंधित अनुभूतियों का फैलाव है तो दूसरी ओर प्रगत्यन्मुखी चेतना का वह संस्पर्श भी है जो प्रयोग की नित नयी भूमिकाओं से होता हुआ नयी कविता तक फैलता गया है। बँधे-बँधाये सिद्धान्तों और प्रतिमानों के प्रति अनासक्ति, विद्रोह और स्वातंत्र्य का भाव रखने के कारण गिरिजाकुमार का काव्य नये काव्य में अपनी अस्मिता लेकर आया है। 'आगे बढ़ जाना, मुड़ जाना उनके स्रष्टा की विवशता है, जबकि उनका व्यक्तित्व इसके ठीक विपरीत है। वे कभी साथ नहीं छोड़ते। अपने से छोटों के प्रति विशेष उदार रहते हैं—प्यार से मिलते हैं और जब हँस रहे होते हैं, तो लगता है सारी हँसी अभी हँस डालेंगे। यों उनका व्यक्तित्व पारे की तरह चंचल है जिसे रेखाओं में बाँधा नहीं जा सकता है। बातें करते-करते वे कहीं और चले जाते हैं। उनकी आँखें उस समय एकदम भावशून्य होती हैं और पास बैठे व्यक्ति को लगता है कि वह 'बैकुअम' से विचार-विमर्श कर रहा था, लेकिन तभी वे मुस्कराते हुए वापस लौट आते हैं और फिर हँसी का फव्वारा छूट पड़ता है। ....ढाक के जंगलों, ऊँचे नीचे पठारों, ताड़ के वृक्षों, काली मिट्टी वाले खेतों के झुरमुट और गोलाईदार टीलों से घिरा पुराने ग्वालियर राज्य का पछार नामक कस्बा, जो अब अशोकनगर के नाम से नये मध्य प्रदेश का एक संपन्न व्यापारिक केन्द्र है, माथुर साहब की जन्मभूमि है।'[1]

माथुर ने काव्य-सृजन की शुरूआत ब्रजभाषा से की थी और पन्द्रह वर्ष की उम्र में ही कवि-सम्मेलनों में भाग लेना शुरू कर दिया था। इनकी प्रारम्भिक कविताएँ छायावादी रोमानियत और उर्दू की मदिर अनुभूतियों से गंधित हैं। एक

1. डॉ. कैलाश वाजपेयी : आज के लोकप्रिय कवि गिरिजाकुमार माथुर : पृष्ठ 2

ग्रार विक्टोरिया कालेज ग्वालियर के मंच में जब माथुर ने अपनी छायावादी शिल्प में बंधी रचना पढ़ी तो कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष और तत्कालीन प्रसिद्ध कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने यह टिप्पणी की थी कि यदि तुम इस गीत के आगे अपना नाम न लिखकर महादेवी जी का नाम लिख दो तो कोई पहचान नहीं सकता है। यों यह टिप्पणी प्रशंसापरक थी. किन्तु इसके पीछे छिपे भाव को जानकर माथुर जी के मन में यह तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि अब तो मुझे अपनी राह अपने ढंग से बनानी होगी। परिणामतः छायावादी शिल्प-सज्जा को छोड़कर माथुर नयी भाषा, नये प्रतीक, नये छंद और नये अप्रस्तुतों के प्रयोग का संकल्प लेकर काव्य-सृजन में संलग्न हुए। सन् 1937 और 1938 में माथुर ने यह शुरुआत की थी। यह वह समय था जब छायावाद अन्तिम साँसें ले रहा था और प्रगतिवादी काव्य अपने प्रचारात्मक कथ्य और अनगढ़ शिल्प के साथ विकसित होता जा रहा था। इसी माहौल में माथुर ने अपना काव्य-पथ चुना था। यह निर्विवाद ही है कि माथुर नयी कविता की नूतन पद्धति; नयी भाव-भंगिमा और नये वस्तु और शिल्प के कवि हैं। उन्हें न तो पूरा छायावादी कहा जा सकता है और न प्रगतिवादी ही। वे एक ऐसे सर्जक हैं जिनकी मधुर मादक अनुभूतियों में नयापन है और नये बोध की स्पष्ट अभिव्यंजना है। प्रयोगों की दृष्टि से देखें तो भी काल-क्रमानुसार प्रारम्भिक प्रयोग-कर्त्ताओं में गिरिजाकुमार का नाम भुलाया नहीं जा सकता है। एक वाक्य में गिरिजा कुमार नयी कविता की अनिवार्यता भी हैं और अनुकूलता भी।

काव्य-सृजन :

गिरिजाकुमार ने काव्य-सृजन की शुरुआत सन् 1934-35 के लगभग की। प्रारम्भ में माथुर साहब ने समस्यापूर्तियाँ कीं। 'ताज' और 'आरती' समस्यापूर्ति ही हैं। सन् 1936 में गिरिजाकुमार ने कुछ कविताएँ और लिखीं, किन्तु सन् 1937 से उन्होंने विधिवत् लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसी वर्ष आपने 'बिखरी स्मृतियाँ' शीर्षक से चार सौ पंक्तियों की एक लम्बी प्रेम कविता लिखी तो इसी वर्ष 'तीसरा पहर' शीर्षक छोटी सी ऐतिहासिक कविता भी रची। उनकी कविताओं का प्रकाशन 'कर्मवीर', 'वीणा' जैसी पत्रिकाओं में हुआ। सन् 1938 में गिरिजाकुमार रचित एक विदागीत जो कुमारी स्नेहप्रभा प्रधान के स्वागत और विदाई समारोह के लिए था; सभी का मन मोह गया। "दो क्षण ही तो मिल पाये हम, और विदा की बेला आई" गीत ने उन्हें एक अच्छा कवि प्रमाणित कर दिया। इन फुटकर कविताओं ने जब माथुर को प्रसिद्धि दिला दी तो उनका एक काव्य-संग्रह 1941 में 'मंजीर' नाम से प्रकाशित हुआ। यह उनका प्रथम कविता-संग्रह था। इसके बाद 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान' शिलापंख चमकीले; जो बँध नहीं सका और भीतरी नदी की यात्रा जैसे काव्य ग्रन्थ सामने आते गये हैं। 'मंजीर' और 'नाश और निर्माण' संग्रहों

के बीच में ही जब 1943 में 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ तो माथुर साहब की नये कथ्य और शिल्प में बँधी प्रयोगशील रचनाएँ सामने आईं। विवित्त् 'मंजीर' से काव्य-यात्रा शुरू करने वाले गिरिजाकुमार की कविताएँ प्रायः प्रेम, प्रकृति और धरती की गंध उड़ाने वाली कविताएँ हैं। मंजीर से धूप के धान तक की यात्रा तो पूरी तरह रागानुभूतियों से सज्जित संदर्भों की यात्रा है। जीवन के रागात्मक पक्ष के कवि माथुर सपनों की सुन्दर मिठास का आस्वादन कराते हुए अपनी परवर्ती रचनाओं में बौद्धिक धरातल पर आने का उपक्रम करते हैं। उनकी राग चेतना का प्रवाही स्वरूप परिवेशबद्ध होकर आधुनिक भाव बोध के बिम्बों और प्रतीकों की छाँह में आकर क्षण भर के लिए विरमता है। 'धूप के धान' संग्रह से जुड़ा हुआ यह बोध तमाम रूमानी चित्रों का 'एलबम' होने के बावजूद पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है।

यही भावबोध और चेतना शिलापंख चमकीले और 'जो बँध नहीं सका' की तमाम यथार्थपरकता और रोमानियत से युक्त होकर 'भीतरी नदी की यात्रा' तक फैलती दिखाई देती है। आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि गिरिजाकुमार की मूल चेतना रूमानी है; किन्तु यह तथ्य भी बट्टे खाते में डालने लायक नहीं है कि परिवेश प्रतिबद्धता उन्हें एक सजग शिल्पी और चेतन कवि प्रमाणित करती है। यों कविताओं को पढ़ने पर लगता है कि उनकी कविताओं के नेपथ्य में नये मूल्यों और उनकी टकराहट की प्रक्रिया जारी है। वे कसमसा रहे हैं, किन्तु उनकी टकराहट अन्य कवियों की तरह खुलकर सामने नहीं आती है। उनके काव्य में साहसिकता और यथार्थ संयुक्त त्रासद, भयावह और गम्भीर अनुभूतियों का अंकन अपेक्षाकृत कम हुआ है। मेरी दृष्टि में इसका कारण उनकी कविताओं के मिजाज की नर्मी है। हाँ; अगर कहीं कोई गर्मी है भी तो वह प्रणय की ऊष्मा-सुषमा की ही है। वस्तुतः वे सौन्दर्यान्वेषी होने के कारण कोमल-प्रेमिल और लजीली अभिव्यक्तियों के सूत्रधार हैं। उनके काव्य में शैल्पिक नवीनता तो है, पर वह रोमान्स के उपकरणों से अधिक आई है; यथार्थ प्रेरित अनुभूतियों से कम। अपनी काव्य-रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है : "विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टेकनीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है। इसी कारण चित्र को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं वातावरण के रंग उसमें भरता रहता हूँ।"[1]

प्रारम्भिक काव्य : 'मंजीर', नाश और निर्माण' :

सन 1941 में प्रकाशित 'मंजीर' गिरिजाकुमार का प्रथम काव्य-संग्रह है। इसकी भूमिका में महाकवि निराला ने लिखा है कि "गिरिजाकुमार माथुर निकलते

1. तारसप्तक पृष्ठ 124

हो हिन्दी की निगाह खींचने वाले तारे हैं। काव्य के आकाश से उनका बहुत ही मधुर और रंगीन प्रकाश हिन्दी के धरातल पर उतरा है।'' इस काव्य-संग्रह में कवि का स्वर रंग रोमांस व उससे उत्पन्न निराशा, वेदना और अवसाद का स्वर है। ये वे कविताएँ हैं जिनमें किशोर भावुक मन के स्वप्निल भाव शब्दों का जामा पहन कर आये हैं। प्रेम; उसका अभाव, नैराश्य; दुनियाँ के संघर्षों से लुट-पिट कर अतीत की ओर वापसी; आदर्शों का ध्वंस और विकृतियों की शिकार बनी सिद्धान्तबद्ध दुनियाँ के चित्र इन कविताओं में आकार पा सके हैं। मूल स्वर प्रणय भावुकता, निराशा और अवसाद का ही है। वस्तुतः 'मंजीर' का कवि आदर्शों की सतह पर खड़ा है। भीतर की उदासी उसे गाने के लिए विवश करती है। अपनी इकहरी अनुभूतियों को हल्के-फुल्के शब्दों में एक झिलमिल-सी देह प्रदान कर वह जो कुछ गुनगुनाता है उसका एकमात्र अर्थ है—प्यार।[1] प्रेमभाव की पोषक कविताओं में 'प्यार बड़ा निष्ठुर', 'अभी तो झूम रही है रात', 'विदा का समय', 'प्रेम से पहले' और 'देह की आवाज' आदि अधिक प्रभावित करती हैं। इनमें प्रेम का जो आलम्बन है वह कल्पना-क्रीडा न होकर धरती पर चलने-फिरने पात्र ही हैं। मिलन के चित्र तो इन प्रेमित कविताओं में संकेतित भर हैं, किन्तु वियोग और तत्प्रेरित अवसाद व निराशा के स्वर काफी स्पष्ट और गहरे हैं। छायावादी स्वरों से सधी और नवीनता की ओर कदम बढाती इन कविताओं में कवि नये शिल्प और नूतन भावबोध की ओर अग्रसर दिखलाई देता है। ''प्यार बड़ा निष्ठुर था मेरा/कोटि दीप जलते थे मन में/कितने मरु तपते यौवन में रस बरसाने वाले आकर/विष ही छोड़ गये जीवन में/'' जैसी पंक्तियों में कवि की भग्न आशाओं का अभिव्यंजन हुआ है।

'मंजीर' की अधिकांश कविताओं में करुण गम्भीर विषाद के दर्शन होते हैं। 'चूड़ी का टुकड़ा' अभिव्यक्त अनुभूतियाँ भी इसी प्रकार की हैं। हां; कहीं-कहीं इस संग्रह की कविताएँ प्रिया के सौन्दर्य की आक्रामक और मादक छवियाँ भी प्रस्तुत करती हैं। ये छवियाँ पाठक के मानस को न केवल हिल्लोलित करती हैं; अपितु एक सिहरन भी पैदा कर देती हैं: ''बड़ा काजल आँजा है आज/भरी आँखों में हल्की लाज अधर पर धर क्या सोई रात/अजाने ही मेंहदी के हाथ/मला होगा केसर अंगराग/तभी पुलकित चंपक-सा गात/'' किन्तु प्रणयजनित असफलता, निराशा, भग्नमनोदशा और अतृप्ति सूचक भावों की व्यंजना ही इस संग्रह में अधिक है। प्रणय की स्थूल और मांसल व्यंजना का कारण कवि का रोमानी स्वभाव है, न कि भूखे तन-मन का आहार। उसने जीवन के मधुर-मदिर स्वप्नों को पूरी सूक्ष्मता के साथ प्रतिरूपित किया है। जब कवि लिखता है कि ''गीत में प्रिय सीखता मैं शून्य हूँ

1. डॉ. कैलाश वाजपेयी : लोकप्रिय हिन्दी कवि पृष्ठ 17

चुपचाप रूदन से । इन उसासों का रहस्य मिला मुझे उस मधु-मिलन से ...... अब व्यथा की मूल सरगम पूछता है अश्रु-कन से" तो उनकी मनोव्यथा मूर्तित हो उठती है। प्रेमभाव की मधुर, मादक और अवसादमयी स्थितियों को शब्दाकार देता हुआ माथुर का कवि प्रकृति के प्रति भी काफी अनुरक्त दिखाई देता है। प्रकृति ने अनेक रूपों में उसे मोहा है। एक स्थान पर वर्षा ऋतु नारी-रूप में मानवीकृत होकर इस प्रकार आई है:

> आई बरसात आज
> गीली अलकों से वारि-बूँदे चुआती हुई
> झीनी झोलियों से मुक्त मुक्ता लुटाती हुई
> कोयल सा श्यामल स्वर -
> भीगी अमराई से आता है पल-पल पर।

शैल्पिक दृष्टि से भी ये रचनाएँ सरल; निश्छल और भोले मानस की प्रतिकृति हैं। ये कविताएँ कुछ ऐसा संकेत भी देती हैं कि कवि नवीन शिल्प की ओर बढ़ रहा है। मुक्तछंद में बँधी नये अप्रस्तुओं से सजी 'मंजीर' की कविताएँ आकर्षक, प्रभावी और भावनापरक अधिक हैं: 'गंगा के रेत भरे मरू से किनारों पर/हम-तुम मिले थे उस सूनी दुपहरी में, शिशिर के क्षणों की उस मीठी दुपहरी में/" ऐसी और भी अनेक पंक्तियाँ 'मंजीर' में मिल जाती हैं जो कवि को नये मुक्त छंद और बिम्ब विधायक कल्पना के प्रयोक्ता के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

'नाश और निर्माण' मंजीर के बाद 1946 में प्रकाशित हुआ। इसकी अनेक कविताएँ 'तारसप्तक' के अन्तर्गत भी संग्रहीत हैं। इसमें कवि छायावादी रोमानियत और प्रगतिशील चिन्तना और भावना के संधि-स्थल पर खड़ा दिखाई देता है। 'नाश और निर्माण' की रचनाएँ कवि की दुहरी मनःस्थिति को रेखांकित करती हैं। रचनाएँ पढ़कर लगता है जैसे कवि किसी ऐसी संधि रेखा पर खड़ा है जहाँ से एक रास्ता आगे जाकर मृत्यु की उन काली गहराइयों में खो गया है जहाँ शताब्दियों का अन्धकार जमकर चिरंतन अनस्तित्व की चट्टानों में परिणत हो चला है। दूसरा रास्ता इसके ठीक विपरीत उस ओर गया है जहाँ सुबह की गुनगुनी धूप है और खुले हुए आकाश के नीचे फूलों के समुद्र में स्नान कर आई हवा मैदानों और पर्वतों पर संगीत बिखेर रही है"[1] इतना ही नहीं इस संग्रह की कविताओं में एक द्वन्द्व बोध भी उभरा है। यह द्वन्द्व नये के प्रति आकर्षण और पुराने के प्रति मोह के कारण उत्पन्न हुआ है। नाश और निर्माण शीर्षक को सार्थक करने वाली ये कविताएँ भी प्रेम,

1. डॉ. कैलाश वाजपेयी : आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि गिरिजाकुमार माथुर पृष्ठ 18

सौन्दर्य और विषाद-अवसाद के ताने-बाने से तैयार की गई हैं। अनेक कविताओं के पढ़ने से लगता है कि कवि थकान, पराजय, ऊब और उदासी के भावों से घिर गया है। अतः उसकी अधिकांश कविताएँ प्रेम सौन्दर्य और स्थूल श्रृंगारिकता के सहारे अपनी ऊब, थकान और पराजित मनोवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है। निराशा और अवसाद की छायाएँ यहाँ भी उसे आक्रान्त किए हुए हैं, पर अब वे मंजीर काल की भाँति स्थायी नहीं है। 'कवि की सजग सामाजिक चेतना, जिसकी हल्की रेखाएँ उसके मस्तिष्क में मंजीर काल से ही थीं—उन पर विजयी होती हैं और उसके कंठ से शक्ति और दृढ़ता, आशा और उल्लास के वास्तविक स्वर फूटते हैं। सामाजिक चेतना की यह अनुभूति उसे पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के नग्न स्वरूपों से परिचिति कराती है और वह न केवल उनके कारण उत्पन्न विषमताओं के चित्र ही खींचता है, उन्हें ऊँचे स्वरों में चुनौती भी देता है। यहीं कवि की दृष्टि अपने गौरवमय अतीत की ओर भी जाती है और वह अपनी सामाजिकता के ही एक अंग के रूप में अतीत युग की महान् विभूतियों और उनके गौरवमय कार्यों को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।.... उसकी भावनाएँ जन-जन की वाणी बनने की आकांक्षा से ओत-प्रोत हो उठती हैं और अंततः इसी शक्ति के बल पर वह नाश की छाती पर निर्माण का भवन खड़ा करता है।[1]

'नाश और निर्माण' की कविताओं का मूल स्वर तो प्रणय और तज्जनित निराशा और वेदना का ही है, किन्तु यहाँ तक आते-आते कवि की अनुभूतियों का दायरा अपेक्षाकृत विविधात्मक हो गया है। यह विविधता वैयक्तिक सीमाओं से आबद्ध होते हुए भी सामाजिकता और युगीन संदर्भों से जुड़ती दिखलाई देती है। प्रणय और निराशा के स्वरों के साथ ही इस संग्रह की कविताओं में कहीं अतीत की स्निग्ध सुखद स्मृतियों का सैलाब भी है तो रोमानी भावों की दिव्यता भी विद्यमान है। यह ठीक है कि प्रेम और वासना के बिन्दुओं पर रचित ये कविताएँ मांसल और मूर्त हैं किन्तु इनकी आधारभूत अनुभूतियाँ सूक्ष्म और परिष्कृत हैं। ये वे कविताएँ हैं जिनमें छायावादी रागात्मकता और अतीन्द्रियता भी नहीं है और प्रगतिवादी अनगढ़ता भी नहीं है। यहाँ तो सौन्दर्य, रस और कल्पना की चारुता व रमणीयता कुछ इस तरह आरेखित हुई है कि कवि नूतन सौन्दर्य बोध, भावबोध और नई शैल्पिक सज्जा के कारण आकर्षित करने की क्षमता लिए हुए हैं। श्रृंगार है पर "यह श्रृंगार न तो भूखे तन और भूखे मन का आहार है और न किसी सदृश आलम्बन के साथ कल्पना-विहार है। कवि ने जीवन की मधुर भावना को बड़े ही हल्के हाथों से, किन्तु पूरी गहराई के साथ बिम्बित करने का सफल प्रयत्न किया है।"[2]

1. चन्द्रवलीसिंह का निबन्ध 'नाश और निर्माण' से
2. डॉ० नगेन्द्र : आस्था के चरण पृष्ठ 434

कहने का तात्पर्य यही है कि 'नाश और निर्माण' की कविताओं में व्यक्त प्रेमिल मनोभाव वासना और भोग के पार्श्ववर्ती होते हुए भी अपनी मदिर नवीनता में अकेले हैं। 'चूड़ी का टुकड़ा' और उसी तरह की अनेक कविताओं को लिया जा सकता है—

"इस रंगीन साँझ में तुमने/पहने रेशम वस्त्र सजीले/
भरी गोल गोरी कलाइयों में पहिनी थीं/नयन डोर-सी वे महीन/
रेशमी चूड़ियाँ/ चंदन बाँह उठाने ही में/खिसक चली वे तरल
गूंज से/.........रत्न कलश भर कर सम्पूर्ण सुधा रजनी की/
आज यही रस डूबा चाँद बन गई हो तुम/"

इसी प्रकार जब कवि लिखता है कि "पूस की ठिठुरन भरी इस रात में/ कितनी तुम्हारी याद आई/याद आये मिलन वे/मसली सुहागिन सेज पर के वे सुमन" तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि प्रणय की सुखद-मादक अनुभूतियों की रेलिंग के सहारे अतीत में तृप्ति कण तलाशने के लिए घूम रहा है। 'चूड़ी का टुकड़ा' कविता भी इसी शृंखला की एक कड़ी है—'आज अचानक सूनी संध्या में जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था/किसी काम में जी बहलाने/एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा/गिरा रेशमी चूड़ी का/छोटा-सा टुकड़ा/उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं/रंग भरी उस मिलन रात में/मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता/पिछली बातें/ दूज-कोर से उस टुकड़े पर/तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तसवीरें/सेज सुनहली/ कसे हुए बंधन में चूड़ी का झर जाना/निकल गईं सपने जैसी वे मीठी रातें/याद दिलाने रहा/यही छोटा-सा टुकड़ा/" इस अंश में व्यक्त अनुभूति मांसल तो है किन्तु एक मधुर और अनुभूत क्षण की सूक्ष्म कल्पना रंजित तस्वीर भी अंकित की गई है। इसी बारीक जड़ाव और आकर्षक शिल्प को "दूज कोर से उस टुकड़े पर/तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें" पंक्तियों में भी देखा जा सकता है।

आलोच्य संग्रह में संकलित कविताओं का एक स्वर वह भी है जो आज की आर्थिक विषमता से सम्पर्कित होकर आया है। अनेक कविताओं में मध्यवर्गीय मानस की आशा-आकांक्षाओं विफलताओं-निराशाओं का अंकन भी मिलता है। कहीं असंतोष का भाव गहरा होकर आया है तो कहीं निम्न मध्यवर्ग की विवशताओं का अंकन उच्च वर्ग की सुविधाओं के आमने सामने रखकर किया गया है। यही वह भूमि है जहाँ से कवि का भावबोध नयी कविता की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। कवि ने अपनी 'मशीन का पुर्जा', 'शाम की धूप', 'टाइफाइड' जैसी कविताओं में मध्यवर्गीय जिन्दगी के यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। 'मशीन का पुर्जा' में एक ओर उच्च वैभव का चित्रण है और दूसरी ओर कम आमदनी वाले क्लर्क की दैनंदिनी सीधी सरल भाषा में करुणा की स्याही से लिखी गई है : "शीत हवा में

ठंडे सात बजे हैं/ठिठुरन से सूरज की गर्मी जमी हुई है। सारा नगर लिहाफों में सिकुड़ा सोता है/पर वह मजबूरी से कँपता उठ आया है/रफू किया उसका वह स्वैटर/तीन सर्दियाँ देख चुका है। उसका जीवन जीवनहीन मशीन बन गया/जाड़ों के दिन की मिठास/अब जहर हुई है।" आर्थिक अभावों और तज्जनित पीड़ा व विवशता के चित्र भी इस संग्रह की कविताओं में मिल जाते हैं। इसी कारण कवि की नजर का कैमरा एक ओर तो उच्चवर्गीय व्यक्तियों की ओर घूमता है और उसमें 'ड्रेस-बूट' की गंध साड़ियों की मृदु सरसर/चम्मच-प्लेटों की हल्की मीठी टनकारें/आकर सिमट जाती हैं और दूसरी ओर अखबार की वे सुर्खियाँ भी प्रतिबिम्बित हो उठती हैं जो यह सूचना दे रही हैं कि "कलकत्ते के फुटपाथों पर दो सौ भूखे और मर गये/" पीड़ितों और अभावों में पल रहे जीवन पर करुणा-जल छिड़कता हुआ कवि एक स्थान पर तो यह भी लिख गया है कि "कोको-जम में तले परांठों के ही बल पर/वह दिमाग का बोझा ढोता/और साथ में/क्षय सा काला नाग पालता रक्त पिलाकर/" इस प्रकार साफ हो जाता है कि माथुर का यह संग्रह उनकी विकसित काव्य चेतना की गवाही देता है। प्रेम, रंग, रूप और अवसाद आदि के चित्र खींचता हुआ भी वह सामाजिक विषमता, आर्थिक अभावों से ग्रसित जिन्दगी और निम्न मध्यवर्ग की वेदना को बिम्बों में बाँधता दिखाई देता है।

असल में इसी संग्रह से कवि नयी कविता की जमीन की ओर बढ़ता दिखाई देता है। शैल्पिक क्षेत्र में तो वह मंजीर काल में ही प्रयोगाग्रही था, किन्तु यहाँ आकर तो उसकी नूतन शिल्प-सज्जा खासी स्पष्ट हो गई है। अप्रस्तुत चयन में नवीनता, शब्द-प्रयोगों में सतर्कता और मुक्तछंद के सफल प्रयोगों के कारण माथुर का काव्य प्रयोगशीलता के सोपानों की ओर क्रमशः बढ़ता गया है। 'नाश और निर्माण' की कविताओं में मुक्त छंद का सफल प्रयोग हुआ है और कुछेक कविताओं में तो कवि ने सवैये को तोड़कर एक नवीन छंद का निर्माण भी किया है। 'बसंत की रात' ऐसी ही कविता है। छंद प्रयोगों की दृष्टि से उनके प्रगीत भी अविस्मरणीय हैं जिनमें परम्परागत व्यंजन तुकांतों के स्थान पर स्वर ध्वनियों के सहारे तुकान्त प्रस्तुत किए गए हैं। स्पष्ट ही आलोच्य संग्रह माथुर की विकसित काव्य-चेतना का परिचायक काव्य है। 'तारसप्तक' की कविताओं को इसी संग्रह में स्थान मिला है। हाँ उसके नवीन संस्करण में जो कविताएँ स्थान पाए हुए हैं वे भी 'धूप के धान' जैसे संग्रहों में आ गई हैं। अतः उनका स्वतन्त्र विवेचन यहाँ अनपेक्षित है। उन कविताओं के सम्बन्ध में केवल इतना कहना ही काफी है कि वे प्रणय, प्रकृति, वेदना और अवसाद के चित्रों से ही सजी हुई हैं। जो नये संस्करण में जोड़ी गई हैं, वे उनके मध्यवर्ती काव्य में व्यक्त चेतना को वाणी देती हैं। इनमें 'प्रसिद्ध की व्यथा', 'देह की दूरियाँ', 'नया कवि', 'वरकुल' और 'दो पाटों की दुनियाँ' आदि प्रमुख हैं। इनमें जिन्दगी का दर्द; भागमभाग और आपाधापी व्यंजित हुई है। कवि की

तर्कशीलता परम्परागत रूढ़ियों और अंध संस्कारों के जाले को काटती हुई प्रगत्युन्मुखी भूमिका पर अवस्थित है।

मध्यवर्ती काव्य : 'धूप के धान'

माथुर के प्रारम्भिक काव्य में यदि छायावादी रंग और उसी के अनुकूल चेतना को अभिव्यक्ति मिली है तो मध्यवर्ती काव्य में प्रगतिशील चेतना को और परवर्ती काव्य में छायावादी रोमानियत की पीठिका पर समसामयिक यथार्थ की साँकल को कवि ने न केवल खटखटाया या बजाया है; अपितु इस ढंग से खोला है कि हम कवि को लोक चेतना का भोक्ता और सर्जक कह सकते हैं। 'धूप के धान' एक ऐसा ही काव्य-संग्रह है जिसमें कवि रंग-रस और रोमांस के साथ ही सामाजिक जीवन को भी देखता है। 45 कविताओं के इस संग्रह में माथुर का कवि नयी कविता की जमीन पर उतर आया है। इन कविताओं को तीन भागों में बाँटकर देखा-परखा जा सकता है—रोमानी भावबोध से युक्त गीतात्मक कविताएँ; यथार्थ और रोमानी बोध की समन्वित अभिव्यक्ति देने वाली कविताएँ और मानवतावादी भावों को पोषक कविताएँ। यह तीसरा स्वर ही 'धूप के धान' की आत्मा है। एशिया खण्ड की सुषुप्त चेतना को इस खण्ड की अनेक कविताओं में जागरण की भूमिका पर प्रस्तुत किया गया है।

रोमानी भावबोध से युक्त गीतात्मक कविताओं में अनेक कविताओं को लिया जा सकता है। 'धूप के धान' की कविताओं में प्रणय का साफ-सुथरा रूप मिलता है। यों प्रणय जनित वेदना. निराशा और अवसादमयी स्थितियों के बिम्ब भी इन कविताओं में मिलते हैं। 'प्रौढ़ रोमांस' इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है, किन्तु इसमें कवि की किशोर भावनाओं का व्यावहारिक धरातल पर अभिव्यंजन हुआ है। कवि जब लिखता है कि "हम को भी है ज्ञान विरह का/और मिलन का/यह मत समझो बरफ बन गया हृदय हमारा/पर हम तुमसे भिन्न बहुत हैं / हम मन में सुधि रखकर भी हैं कर्मशील/हैं संघर्षों में डूबे भूले/हम डटकर जीवन से युद्ध कर रहे प्रतिपल/आज हमारे सम्मुख और समस्याएँ हैं। प्रश्न दूसरे/घर के, बाहर के, समाज के/मुल्क और दीगर मुल्कों के/अब हमको सुधि की पीड़ा है नहीं सताती!" अथवा "हमने भी सोचा था पहले/इस जीवन में/सबसे अधिक मूल्य होता कोमल भावों का/पर ठोकर पर ठोकर खाकर हमने जाना/तौल तराजू के पलड़ों में/मन के सघर्षों से बाहर के संघर्ष अधिक बोझिल हैं/" तो लगता है कि वह मन की गहराइयों में रचे-बसे प्यार की तुलना में उसे अब सामाजिक जीवन के संघर्ष और मूल्य अधिक अनिवार्य लगते हैं। वह मन के घेरे से निकल कर बाहरी दुनियाँ में आता दिखाई देता है। हाँ यह आवश्यक है कि 'धूप के धान' में प्रकृति के प्रति गहरी संसिक्ति दिखलाई देती है। प्रकृति के चित्रों को उतारते हुए ही कवि जब अधिक भावुक

हुआ है वह 'कामिनी-सी अब लिपट कर सो गयी है रात यह हेमंत की' जैसी पंक्तियाँ लिखता गया है। तीन ऋतुचित्रों में भी कवि की रोमानी भावनाओं के आकर्षक बिम्ब आये हैं।

आपवादिक रूप से जिन कविताओं में प्रणयबोध और यथार्थबोध का सम्मिलित स्वर मिलता है; उनमें कवि का झुकाव यथार्थ और जीवन की वास्तविकताओं की ओर ही अधिक है। कारण दैनिक जीवन की भट्टी में तपकर मन के सारे खोटे सिक्के सचाई के पास जा खड़े हुए हैं। फलत: प्यार का चाँद बुझ गया है और कवि जीवन की खुली सड़क पर खड़ा होकर जीवन की समस्याओं का सामना करने को विवश हो गया है। मेरी निजी धारणा है कि माथुर यथार्थ के प्रश्नों से जूझना चाहते हैं; सामाजिकता का वरण करना चाहते हैं, किन्तु वे ऐसा चाहते भर हैं—कहते भर हैं। उनकी घोषणा 'अब हमको सुधि की पीड़ा है नहीं सताती' मात्र घोषणा है। असल में उनका मन तो 'धूप के धान' संग्रह में भी लौट-लौट कर यही दुहराता दिखाई देता है :

"नयन लालिम स्नेह दीपित, भुज मिलन तन गंध सुरभित
उस नुकीले वक्ष की वह छुअन, उकसन, चुभन अलसित
इस अगरु सुधि से सलोनी हो गयी है रात यह हेमंत की।"

'धूप के धान' की प्रकृति परक कविताओं में माथुर का मन भावुकता के रंगों को फैलाता दिखलाई देता है। रंग, रूप और गंध की जैसी और जितनी छवियाँ यहाँ हैं वैसी उनके अन्य काव्य संग्रहों में हैं तो पर विरल। इन्हीं कविताओं में प्यार की कोमल गंध मन को भी सुवासित करती है और तन में भी ऊष्मा सुषमा का जल आन्दोलित उद्वेलित होने लगता है। ऐसा लगता है जैसे माथुर का कवि प्रकृति बोध की कविताओं में अपने कोमल-स्निग्ध भावों की चादर बिछाकर पाठकों को उसी पर बैठने को आमंत्रित कर रहा है।

'धूप के धान' संग्रह का एक उल्लेखनीय स्वर मानववादी भावधारा का भी है। यह प्रमुख स्वर है और इसे अधिकांश कविताओं में कहीं न कहीं देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति की द्योतक प्रमुख कविताओं में 'एशिया का जागरण', 'पहिये', आग और फूल', 'धारा दीप', नींव रखने वालों का गीत आदि का नाम लिया जा सकता है। इन कविताओं में एशिया की जाग्रत आत्मा का स्वर मुखरित हुआ है। 'एशिया का जागरण' कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

अंगार बन गया आदि पूर्व सदियों का धुँधला जम्बुद्वीप
श्यामल कृतान्तजा धरा उठी लेकर जीवन का अग्निदीप
जन-अम्बुधि की यह एक लहर आसन्न क्रान्ति की दूत हुई

लो महाशक्ति युग जीवन की जनजीवन में सम्भूत हुई
देशों से उठ आया निनाद अंतिम विराट जन-संगर का
अंतिम अक्षर विद्रोह जगा मनु के इस्पाती अंतर का
नयनों में अग्नि शिखाएँ हैं मुख पर मानवता का चंदन
जनता जनार्दन आज बढ़ी करने आजादी का वन्दन ॥

वास्तविकता यह है कि 'धूप के धान' की अधिकांश कविताओं का स्वर यही है। जागृति का नवोन्मेष और तज्जनित आस्था का स्वरूप माथुर के आलोच्य संग्रह का अविस्मरणीय संदर्भ है। इस संग्रह में कतिपय कविताएँ ऐसी हैं जिनमें मध्यकालीन बोध को अस्वीकार किया गया है और आधुनिक संदर्भों में मनोभावों को व्याख्यायित किया गया है। जीवन की मिठास, गंध कड़ुवाहट और मानवतावादी विचारों को शब्दबद्ध करता हुआ गिरिजाकुमार का कवि आस्थाविहीन कभी नहीं हुआ है—"वह भूमि किन्तु न मिट सकी/आगत फसल की राह में/वह फूल मुरझाया नहीं/ऋतु रंग लाने के अमर विश्वास में/यह आग की पीली शिखा/उठती रही, जलती रही/आलोक कन तम से बचा/वह अग्नि बीजों को सतत बोती रही/फिर से नया सूरज उगाने के लिए" इसी आस्था और विश्वास के बल पर कवि माथुर नये जीवन मूल्यों का निर्माण भी करते दिखाई देते हैं। संग्रह की 'पन्द्रह अगस्त' ऐसी ही रचना है। निर्माण और विश्वास की तरंगों पर मचलता हुआ कवि साफ कहता है—

"आज जीत की रात, पहरुए सावधान रहना
खुले देश के द्वार अचल दीपक समान रहना
शोषण से मृत है समाज कमजोर हमारा घर है
किन्तु आ रही नयी जिन्दगी यह विश्वास अमर है।"

'धूप के धान' संग्रह का महत्त्व न केवल भाव बोध के कारण है; अपितु शिल्प के कारण भी है। वस्तुतः शिल्प की दृष्टि से धूप के धान की रचनाएँ और भी सशक्त हैं। इनमें प्रयुक्त शब्दावली अर्थगर्भित, प्रेषणीय क्षमता से युक्त और भावों की सहचरी बन कर आई है। बिम्बों, प्रतीकों, अप्रस्तुतों और छन्दों के क्षेत्र में भी कवि ने नये प्रयोग किये हैं। उसकी यह स्वीकारोक्ति उचित प्रतीत होती है कि इसमें उपमान, रंग योजना और ध्वनि संगीत के नये प्रयोग मिलेंगे।... पिछले कविता संग्रह 'नाश और निर्माण' में सवैये को तोड़कर एक मुक्त छंद निर्मित किया गया था। प्रस्तुत संग्रह की तीन रचनाओं में नये छंदों का फिर निर्माण किया गया है। 'शाम की धूप' में उर्दू की छोटी बहर को तोड़कर उसके काल-मान और लय के आधार पर नया मुक्तछंद रचा गया है। इसी प्रकार 'नये साल की साँझ' का छंद भी गज़ल के कालमान पर लिखा गया है। 'चाँदनी गरबा' का छंद एक गुजराती लोक गीत से लिया गया है। प्रतीकों की नवीनता भी इस संग्रह की उल्लेख्य

उपलब्धि है। कवि ने स्वयं लिखा है कि 'न्यूयार्क में फॉल' संग्रह की विशेष रचना है जिसमें आधुनिक वस्तु प्रतीकों का नया उपयोग हुआ है। ऐसे मोनोलॉग का उपयोग हिन्दी कविता में बहुत कम हुआ है। प्रयोग के इस वर्ग में 'चन्दरिमा' भी आती है जो प्रभाववादी खण्ड बिम्ब है। 'सिन्धु तट की रात' और 'हेमन्ती पूनो' में छंद और शब्द योजना की संक्षेप शैली (ब्रेविटी) द्रष्टव्य है 'ढाकबनी' कविता में जहाँ एक ओर वातावरण निर्माण के लिए जनपदीय (बुन्देल खण्ड) उपमान, प्रतीक और शब्द योजना का आधार लिया गया है वहाँ दूसरी ओर सामाजिक-यथार्थ (सोशल रियलिज्म) के शिल्प का प्रथम बार उपयोग किया गया है।"[1]

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि गिरिजाकुमार का 'धूप के धान' संग्रह भाव और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से कवि की निरन्तर विकसित और प्रवर्धित काव्य चेतना का संकेतक है। वैयक्तिकता, मानवतावादी दृष्टि और यथार्थ रंगों का प्रयोग इस संग्रह की कविताओं में मिलता है। जीवन गत संघर्षों को महसूसता और भोगता हुआ भी कवि जीवन के प्रति आस्थावान है। उसकी दृष्टि भविष्यधर्मी है और वह जीवन-मूल्यों के निर्माण में संलग्न दिखाई देता है।

शिला पंख चमकीले :

गिरिजाकुमार माथुर राग संवेदनों के प्रति सहज आस्था के कवि हैं। इस संग्रह की कविताओं के सहारे पहली बार वे रागात्मक संस्पर्श से अभिभूत होते हुए भी वैचारिक स्तर पर आये हैं। उनकी राग समन्वित वैचारिकता ही उन्हें यथार्थ बोध और परिवेश बोध से जोड़ती चली गई है। उनका राग-बोध और विचार बोध इस कृति में मिला जुला सा है। आग्रह किसी एक के लिए नहीं है और न किसी की उपेक्षा ही। इस तरह राग और विचार की संधि रेखा पर लिखी गई ये कविताएँ कवि की परिवेशगत सतर्कता भी व्यक्त करती है और निजी राग-संवेदन के बिम्बों को भी आकार देती है। आलोच्य संकलन में जो कविताएँ ध्यान आकर्षित करती हैं। उनमें 'दियाधरी', 'हब्शदेश', 'तूफान-एक्सप्रेस की रात', 'पत्ते', 'लकीर और इतिहास', 'चन्द्रखण्डों की आत्मा', 'अन्धी शिलाओं की दुनियाँ', 'कहीं कोई नहीं', 'जूड़े का फूल', 'सम्भवों की दुनियाँ', 'बसंत' 'एक गीत स्थिति', 'पुरुष मेघ', व्यक्तित्व का मध्यान्तर' 'और' 'माटी और मेघ' आदि प्रमुख हैं। इनमें रूमानी सन्दर्भ के साथ-साथ आधुनिक बोध की परतें भी हैं जिनमें एक ओर तो कवि निजी संवेदनाओं में जीता है और दूसरी ओर दीन दुनियाँ की बातें करता हुआ कुछेक संदर्भों में आज की घुटनभरी सियाही, त्रास और अकेलेपन की अनुभूतियों को भी उजागर करता है। संग्रह का शीर्षक प्रतीकार्थ रखता है। इस प्रतीकार्थ में कवि की मूल्यनिष्ठा और संक्रान्तिमूलक अनुभूतियों का अर्थ निहिति है। कवि ने 'प्रक्रिया' में इसकी ओर संकेत भी किया है। कवि के वक्तव्य से शीर्षक का जो प्रतीकार्थ उद्घाटित होता है वह पुराने और चमकीले मूल्यों की टूटन से उत्पन्न मोहभंग और

1. धूप के धान : निवेदनम् से उद्धृत।

मूल्यगत संक्रान्ति से सम्बद्ध है। इसमें वीरानगी, सत्य और मिथ्या के संधिज मूल्य, स्वार्थ के घेरे में घिरे गर्हित मूल्यों, कायर समझौतों, लिज़लिजी तस्वीरों और बदलते सम्बन्धों के संकेतक हैं।

मूल्यगत संक्रमण और भीतरी संघर्ष को संग्रह की कई कविताओं में देखा जा सकता है। यह बात अलग है कि यह बोध कहीं साफ तो कहीं पुराने संवेदनों की भीड़ से आक्रान्त होने से पहचानने में एक धैर्य की अपेक्षा रखता है। फिर भी 'चन्द्रखण्डों की आत्मा 'कविता की ये पंक्तियाँ उनके मन में उभरे द्वन्द्व और मूल्यगत संक्रमण को अपने में छिपाये हुए हैं : छिपती दिपती, मद्धिम पड़ती/धुँधली, पूरी, फिर कटी फाँक/यह मैं मेरा व्यक्तित्व बोध क्षण जीवन का उपभोग परम/पंखों सी गिरी शिलाएँ/होगा जो अभी हो चुका है/गत आगत दोनों वर्तमान/स्वीकृतियाँ सारी सारी अनाम" ....[1] और आधुनिक जीवन की संकुलता की बोधक या उससे उत्पन्न संत्रस्त मानस की सूचक ये पक्तियाँ उसकी टूटन और क्षुब्ध मनःस्थिति की द्योतक है :

'तप भ्रष्ट मंत्र-सा विफल हुआ/जिस दिन विश्वास, स्वप्न, प्यार यह/चाँद बना आबनूस/परियाँ गिलायें स्याह वर्तमान आहत/भविष्य/अन्धकार"................ जीवन की नियति बनी दुःख की अनुभूतियाँ/ आसन पड़े ही रहे टूट गयी मूर्तियाँ/ ...."[2]

ऐसा लगता है कि माथुर में बाहरी परिवेश के प्रति हुई प्रतिक्रिया भीतरी टूटन और दबाव की भावना के जरिये आकार पाती है। इसी क्रम में 'रक्त फुटपाथ और गीत व क्रानिक मरीज', 'लौह मकड़ी का जाल' और तूफान एक्सप्रेस की रात' आदि कविताओं में बाहरी परिवेश का दबाव और उससे निष्पन्न मूल्यगत संघर्ष के बिम्ब हैं। अप्रयोज्य और निष्क्रिय स्थितियों से थकी आत्मा का कवि जब थकी आकांक्षाओं, रिक्त लालसाओं और खीजते दम्भ की बात कहता है तो मूल्यगत संक्रमण उसकी नज़र में रहता है।[3]

इसी तरह अपाहिज जिन्दगी जो एक खाट से बँधकर रह गयी है और वहीं हाथ पैर मारती हुई जिस ऊब, घबराहट, बेचैनी, बोरियत, आशंका, आकुलता चिन्ता, अनास्था से घिरी रहने के कारण जितनी क्षणजीवी, त्वचासुखी, बदमिजाज और अपने में लीन होती जा रही है, उसका अहसास कवि को है और वह उस हर बिन्दु पर उपस्थित है जहाँ तन के रोम-रोम पर अन्धे और ठण्डे भाव लिपटते जा

1. शिला पंख चमकीले : पृ 41.
2. शिला पंख चमकीले : पृ. 44.
3. शिला पंख चमकीले : पृ. 17.

रहे हैं। एक ओर तो कवि का यह अहसास है जिसमें जिन्दगी की टीस और निराशा संकेतित है और दूसरी ओर 'प्रक्रिया' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया दावा भी मौजूद है। फिर भी ऐसा लगता है कि पूरे संग्रह का सम्पूर्ण प्रभाव मानवीय अस्तित्व के प्रति निष्ठा और आस्था का है। कवि की भावना 'जिन्दगी की पियरी केसर कभी झुके नहीं/मन के विश्वास का यह सोनचक्र रुके नहीं/" के ही इर्द-गिर्द ही घूमती है। उसमें विघटन अकेलापन, ऊब और संघर्ष का अहसास तो है, पर अभिव्यक्ति नहीं। हाँ, उनकी चार कविताओं में, जो अपवाद है, सब कुछ धूल और गर्द गुबार में लिपटा हुआ है। सभी कुछ लस्टम-पस्टम भटकते जीव उदासी को रेखांकित करते वाले चेहरे और खोखले लिफाफे सी अकथ उदासियों के कितने ही बिम्ब मन को छूते हैं: इन बिम्बों में कवि की आधुनिक चेतना के अनगिनत अक्स हैं ऐसे पहलू हैं जो मानव-मूल्यों के ऊपर प्रश्नचिन्ह लगा जाते हैं। मूल्यों की यह विकृति कवि की पीड़ा का सबसे जायज कारण है। फिर उसकी उपेक्षा इसलिए भी नहीं की जा सकती है कि इनकी विकृति के साथ-साथ कहीं कुछ बनता हुआ नजर नहीं आ रहा है। कुछ है भी तो वह अधबना और पूरा प्रकाश न होकर टिमटिमाहट भर है। इसीलिए कवि का यह प्रश्न जायज है—

उभक रहे हैं क्या/सुबह के आभास कहीं/दर्द से सफर का/क्या अन्त पास आया है/दिखता नहीं है कुछ आँखें/कहीं और हैं/टूटती नहीं है दर्द दुःख की घुमेर यह/झूठ सभी लगता है/सच है सिर्फ अन्धकार[1]/

इस तरह यही कहना ठीक है कि माथुर परिवेश के दबाव को महसूस करते हैं, किन्तु कभी-कभी। यह कभी-कभी भी कभी तो वैयक्तिक सन्दर्भ में घुलकर नाकाफी लगता है। यों ऊपर के उद्धरण और सम्बन्धित चार कविताएँ आधुनिक बोध को व्यक्त तो करती ही हैं, भले ही सतही रूप में सही। कुछेक छिटपुट पंक्तियों में भी लगता है कि वह अपनी निजी संवेदनाओं के घेरे से निकलकर मुक्ति की माँग करता है: ओ जीवन देवता/खण्ड होने से पहले उबार लो'/ऐसी पंक्तियों में आई यह माँग किसी स्तर पर; चाहे तो उसे निजी संवेदनाओं का स्तर कह लीजिए, व्यक्ति की निजी छटपटाहट ही लगती है जिनसे वह मूल्यों के नये प्रतिमान स्थापित करने की आकांक्षा-आस्था व्यक्त करता है। रूमानी भाव और वैयक्तिक संवेदनाओं को संग्रह में बहुतायत से देखा जा सकता है और साथ ही कवि की मानव निष्ठा को भी। इतना ही क्यों मानव-व्यक्तित्व के प्रति दिखाई गयी इस आस्था के अतिरेक से ही उसमें तृप्ति, उल्लास और आनन्द का भाव भी आकार ग्रहण करता है। चूँकि

1. शिला पंख चमकीले : पृ. 38.

अधिकता ऐसे ही सन्दर्भों की है। अतः औसतन इस संग्रह में तो वह मानव आस्था और निजी संवेदनाओं का ही विश्वसनीय कवि ठहरता है।

जैसा कि मैंने कहा है संग्रह की अधिकांश कविताओं का स्वर कल्याण, शुभाशंसा, आस्था, कामना और आश्वस्ति का है. यह बात पहली ही कविता से सिद्ध हो जाती है। इसमें मन के विश्वास, जीवन की निष्ठा, सतत जागरुकता, निरन्तर शांति और शीतलता के द्योतक प्रतीकों के माध्यम से अनागत भविष्य के शुभ पक्ष की कामना की गयी हैं : डण्ठल पर विगत के, उगे भविष्य संदली/आगम के पथ मिले, रांगोली रंग भरे/सतिये भी मंजिल पर, जनभविष्य दीप धरे/आस्था चमेली पर, न धूरी साँझ घिरे/'और "मन में संघर्ष फाँस गड़कर भी दुखे नहीं/ पाँव में अनीति के मनुष्य कभी झुके नहीं'/[1]

इसी क्रम में 'दियाधरी', 'माटी और मेघ' 'खत', खट्टी मिट्ठी चाँदनी' और 'हब्श देश' कविता की आखिरी पंक्तियाँ कवि की आस्था, कामना, शुभाशंसा आदि के स्पष्टीकरण के लिए काफी है। इन कविताओं में जीवन के प्रति कवि की मंगल कामना साकार हो उठी हैं— 'जो विभूति रमती जनपद में/ वैसंदर की राख सी/कहती है कि अँधेरे पर/आता है उजला पाख ही/"[2] 'जो बीज धरा ने दिया न वह मुरझा सकता/माटी का तेज नहीं माटी को खा सकता/इन्सान करे चाहे कितनी कोशिश लेकिन/जीवन दीपक लौ वह नहीं बुझा सकता/[3] "खत नये आलोक का पन्ना बने/हर घर में हँसी की धूप झरना बने/स्वस्थ साबित जिन्दगी का आइना नन्हा बने"/

उक्त संदर्भों में कवि का विश्वास नवनिर्माण की कामना, मुक्ति की माँग, नयी प्रकाश किरण, जीवन ज्योति के न बुझने की अटूट आस्था और जीवन को किन्हीं विराट तत्वों से जोड़ने का भाव बड़ी संयत और नयी भंगिमाओं में अभिव्यक्त किया गया है। माथुर का सौन्दर्यान्वेषी मन संग्रह की कविताओं में प्रेम और प्रकृति की भावपूर्ण छवियों को रेखांकित करता हुआ उनकी रसमग्नता को स्पष्ट करता है। 'चूड़ी का टुकड़ा' लिखने वाला कवि यदि 'अनकही बात' जूड़े का फूल' 'खट्टी मिट्ठी चाँदनी' और 'बसंत' एक प्रगीत स्थिति' जैसी कविताएँ लिखता है तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए और साथ ही यह अनुमान भी विश्वास में बदल जाना चाहिए कि उनकी सौन्दर्य चेतना में "रीतिकवियों जैसी परिपक्व रसमयता के साथ-साथ

---

1. शिला पंख चमकीले, पृ. 1 व 2.
2. वही, पृ. 9.
3. वही, पृ. 11.

आधुनिक भावबोध की वैयक्तिक आत्मीयता भी है।"[1] जूड़े के फूल में यदि सौन्दर्य की मिठास और मस्ती है तो 'अनकही बात' में प्रेम की अनछुई मनःस्थिति का सही बिम्बांकन है; 'मेल से/पल्ला जो उँगली पर कसा/मन लिपट कर रह गया/छूटा वहीं/व "ठीक कर लो/अलक माथे पर पड़ी/ठीक से आती नहीं है चाँदनी"/में जो सौन्दर्य और प्रेम की कामना का बिम्ब है वह शब्द में बँधकर अर्थ की अगणित भंगिमाएँ प्रस्तुत करता है। 'बसंत एक प्रगीत स्थिति' का सौन्दर्य-बोध मनःदिगंत को अमलतासी उजास से भर देता है और 'खट्टी मिट्टी चाँदनी' का स्वाद जीवन को अनेक मधुरिम संवादों से भरता हुआ भावना के कटोरे में कितनी गन्ध, कितने रंग और कितना रस भर देता है, यह अनुभूति की वस्तु है।

इस कृति का शिल्प नयी कविता की संतुलित भूमि पर है। भाषागत संयम अप्रस्तुतगत नवीनता और प्रतीकों व बिम्बों की ताजगी बेजोड़ है। शब्द-प्रयोग में जो औचित्य और अर्थगर्भत्व है, वह उनकी जागरूकता का प्रमाण है। शब्दों की सूची गैर जरूरी होते हुए भी वह उनके शब्द संस्कार की प्रबुद्धता की सूचक है। उनकी कोशिश रही है कि जिन शब्दों में थोड़ी भी कटुता और तिक्तता है, उसे सरलीकृत संदर्भ देकर अधिक विश्वसनीय और ग्राह्य बनाया जा सकता है। हाँ, कुछेक कविताओं में प्रयोग के प्रति आग्रह, अनावश्यक विस्तार और पुनरावृत्ति, नाम गिनाने की झक यहाँ तक कि पीड़ा दायक भावों की सूचीबद्ध लम्बी कतार' ('नया नगर है,' क्रानिक मरीज, 'खत' का अन्तिम अंश) और आधुनिक बोध को जबरदस्ती ठूँसने का प्रयास न केवल कविता के लिए खतरनाक साबित हुआ है, बल्कि उनकी पोली शब्दावली का भी आभास देता है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि आलोच्य संकलन की आत्मा तो निजी संवेदनाओं और सौन्दर्य में ही बसी हुई है, पर वह जब कभी भी इस घेरे से निकली है तब उसमें छटपटाहट और पीड़ा का रंग आकर मिल गया है। टोटल इफैक्ट की दृष्टि से देखें तो कभी-कभी संक्रान्त मनस्थितियों को उजागर करने वाली संग्रह की कविताएँ आशा, भविष्यधर्मी दृष्टि और मानव-व्यक्तित्व की आस्था व शुभाशंसा की ही कविताएँ हैं। कम से कम इस संग्रह तक तो उनकी सौन्दर्य चेतना के बिम्बों की ओट से समसामयिक परिवेश झाँकता ही दिखाई देता है, साक्षात्कार का साहस उसमें नहीं है। यहाँ डॉ० जगदीश गुप्त से सहमत होते हुए उन्हीं के शब्दों को उधार लेकर कहा जा सकता है कि "इतिहास के प्रति सजगता, मानव मूल्यों के प्रति कुछ-कुछ विराटता की ओर झुकी हुई चेतना, जन भविष्य के प्रति शुभाकांक्षा, प्रगाढ़ गीति-मयता और वस्तु को रूपायित करने वाली व्यंजक बिम्ब योजना गिरिजाकुमार की कविता के सशक्त पक्ष को व्यक्त करती है।"[2]

---

1. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृष्ठ 310
2. डा० जगदीश गुप्त : नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ, पृष्ठ 312

जो बँध नहीं सका :

'शिला पंख चमकीले' के बाद जो बँध नहीं सका' काव्य-संग्रह सामने आता है। पुस्तक के 'कवर' का दावा है कि इसमें कवि की चेतना कितनी ही सरणियों पर एक साथ प्रवाहित हुई है : आत्मसत्य से लेकर इतिहास का तीक्ष्ण बोध और देशकाल की सूक्ष्मानुभूतियों की एक दूरगामी परिधि इन रचनाओं में वेष्टित हुई है। कविताओं को पलटने पर पता लगता है कि संग्रह तीन खण्डों में बँटा हुआ है और प्रत्येक खण्ड की अपनी गन्ध भी है और दुर्गन्ध भी। गंध इसलिए कि हर खण्ड में कुछ अच्छी कविताएँ : और वे खासी अच्छी हैं और दुर्गन्ध इसलिए कि उनमें कुछ ऐसी भी हैं जो कवि को पुनरावृत्तिवादी, अनाधुनिक और फतवेबाज सिद्ध करती हैं। कई जगह तो 'रिपीटशन' का क्रम इतना है कि ये कविताएँ महज लिखने के लिए लिखी गयी लगती हैं। अब तक के माथुर के काव्य को देखकर ऐसा लगता है कि वह अब अपना सब कुछ दे चुके हैं और अब वे जो भी देंगे व सिर्फ न एक ही वृत्त में बँधे होने का गवाह होगा, बल्कि अविश्वसनीय भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। माथुर ने शिल्प की नयी राहें ईजाद की; नये शब्दों की तलाश की और बिम्बों के नये रूप सँवारे, किन्तु अब वही ईजाद और तलाश एक 'मैनरिज्म' में बदल गई है; उसे एक मुहावरा मिल गया है जो उसकी सीमा भी निर्धारित करता है और सभावनाओं का मिजाज भी। अस्तित्वादी भूमिका पर जानबूझ कर लिखी गयी कविताओं में कवि ऊपर ही ऊपर है, भीतर जाकर उसके मर्म की पहचान से वह कटा हुआ है। यही वजह है कि अकेलेपन, अजनबीपन और मानस की संत्रस्त स्थितियों की सूचना शब्दों से ज्यादा और कथ्य से कम दी गयी है। फिर भी जैसा मैंने कहा है कुछ कविताएँ—कवितांश खासे अच्छे हैं। व्यक्तित्व की टूटन और अर्थहीनता की भूमि अस्तित्ववादी चेतना का स्पर्श करती हैं। जीवन और संस्कृति की टूटन व्यक्तित्व में समाकर उसे अर्थ देती जान पड़ती है। ऐसे ही क्षणों में कवि उन अपरिभाषित स्थितियों में दिखाई देता है जिनके निर्माण के लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है। फिर ऐसी स्थिति में भयावह वेदना का जन्म स्वाभाविक भी है और लाचारी भी :

मैंने देखा—
मैं एक भूकम्प दबे नगर के नीचे फिरता हूँ
घबराया हुआ
जहाँ हर तरफ टूटे
मुँदे दरवाजे हैं
मलवे भरी गैलरियाँ
भयराये बरामदे हैं।
....

बाहर निकलने का उपाय

अब कोई नहीं है
धूप अँधेरे वाली
एक अंधी बंद दुनियाँ है
जो मैंने न रची थी
न माँगी थी
वह दुनियाँ मेरी है ।[1]

यह परिवेश और उससे बाहर आने की कोशिश में आत्मपीड़क स्थितियों से जूझते जाना, अस्तित्ववाद का सकारात्मक पहलू है। ऐसे भाव की रचनायें विश्वसनीय लगती हैं। कामू ने जिस निजी विद्रोह की बात कही थी वह दायित्व की चेतना का परिणाम है – अपने प्रति सतर्क होने की शुरूआत है। सभी को पता है कि वह दायित्व चेतना ही व्यक्ति की सार्थकता है। जीवन में अनचाही स्थितियों से घेराव किये जाने पर दो ही मार्ग रह जाते हैं। एक मर्दित होकर टूट जाने का और दूसरा ऐसे घेराव को तोड़ने की कोशिश में टूट जाना। इनमें दूसरी स्थिति ही ठीक है क्योंकि उसमें ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व के बोध के प्रति सतर्क रह सकता है। फिर सम्भव है इससे ही किसी सार्थकता तक पहुँचा जा सके। कवि की अनुभूति है कि व्यक्तित्व की उपेक्षा से वास्तविकता का चेहरा छिप जाता है और इतिहास आगे बढ़ जाता है। उससे उड़ी हुई धूल में आदमी का नया चेहरा भी छिप जाता है। कैसे विडम्बना है कि एक उपेक्षा उदय क्रम को ही समाप्त कर देती है : फिर वही सदियों के अनुभूत अपमान/फिर वही भोगे हुए चिर परिचित विरोध/यह तो नया नहीं/इतिहास रथ से उड़ी धूल में छिपा चेहरा/डूबकर उगा नहीं।"[2]

उपेक्षा के इस क्रम में प्रयत्नों की विचित्र परिणितियाँ आदमी को लीलने को तैयार रहती हैं। वे उसे जिस खड्ड में गिराने की कोशिश करती हैं, वह भयावह स्थिति फैंटेसी की तरह माथुर की कविता में व्यक्त हुई है। एक ओर सत्य के सीमांत पर पहुँचने की लाचारी और दूसरी ओर पीछे मुड़कर देखने में त्रस्त करने वाला वेदन, दोनों के बीच में झूलते रहने की अयाचित परिणति को भोगता हुआ कवि कहता है : मैंने देखा—/मैं एक बहुत ऊँचे, सूखे पहाड़ पर/चढ़ने को विवश किया गया हूँ/और चोटी की अन्तिम/चट्टान की नौंक तक पहुँच गया हूँ/आगे जिसके/पहाड़ दो टूट फट गया है/और हजारों फुट गहरा एक दर्रा/मुझे लीलने को मुँह बाये हैं/पीछे पैरों से अनगढ़ रास्ता/सहसा लोप हो गया है/मेरे हर यन्त्र की परिणतियों वाला/— वह रास्ता मेरा है।"[3]

---

1. जो बँध नहीं सका, पृष्ठ 7
2. वही, पृष्ठ 31
3. वही, पृष्ठ 5-6

जीवन की व्यस्तता मनुष्य को जिस अकेलेपन का अहसास करा रही है, वह आकुलता का संकुल रूप उसे और भी नपुंसक और 'पैशाचिक पशुत्व' से भरता जा रहा है। हर आदमी 'असिद्ध की व्यथा' भोग रहा है तर्क और संस्कारों के बीच झूलते हुए वह जिस दुहरे अंधकार में साँस ले रहा है, वह कभी न समाप्त होने वाला और ठहरा हुआ इन्तजार बन गया है। विरोधी स्थितियों की यह पीड़ा और इसी में जीवन जीना लाचारी ही तो है और आदमी इसे भोगने को बाध्य है : छोटी सी मेरी कथा/छोटा सा घटना-क्रम/हवा के भंवर सा पलव्यापी यह इतिहास/टूटे हुए असम्बद्ध टुकड़ों में बाँट दिया/तुमने/जो अदृश्य विरोधाभास ।/ ··· किसको मैं छोड़ूँ/किसको स्वीकार करूँ ?/ओ मेरी आत्मा में ठहरे हुए इन्तजार।"/1

कवि की पीड़ा यही है। वह जिधर भी देखता है, वहीं आदमी दो पाटों के बीच पिसता दिखाई देता है। शोर, मुर्दनी, भीड़ और कचरा इतना है कि असली चेहरे की पहचान ही नहीं होती है। 'दो पाटों की दुनियाँ' में यही सन्दर्भ है, किन्तु बीच-बीच में आई फतवेबाजी कविता के बँधाव को ढीला कर देती है। यद्यपि यह सही है कि कवि में सभी गलत के लिए रोष है और विगलन के लिए क्षोभ और व्यंग्य भी। यदि इस कविता में फतेवेबाजी नहीं होती या भाषणों की सी स्थिति नहीं आई होती तो व्यंग्य और भी पैना हो सकता था। माथुर ने हर बन्द की पहली दो-तीन पंक्तियाँ बड़ी सधी हुई लिखी हैं, किन्तु आगे उसी भाव की व्याख्या करने की कोशिश ऊपर के कथ्य को भी—उस व्यंग्य को भी समाप्त कर देती है। इससे कविता की अन्विति पर तो प्रभाव पड़ता ही है, अनावश्यक विस्तार और 'रिपीटिशन' का अपराध भी हो जाता है : 'राहें सभी अन्धी हैं'/'ज्यादातर लोग पागल हैं',/'अपने ही नशे में चूर'/वहशी या गाफिल हैं/तक तो ठीक है, किन्तु खलनायक हीरो हैं/ विवकशील कायर हैं/थोड़े से ईमानदार हैं/लगते सिर्फ मुजरिम हैं/या इसी कविता के आखिरी बन्दों में 'प्रौढ़ कामी हैं सभी'/'जवान सब अराजक हैं'/'बुद्धिजन अपाहिज हैं'/मुँहवाये भावुक हैं/2 जैसी पंक्तियों का न तो औचित्य है और न गम्भीर प्रभाव, वरन् ये ऊपर के प्रभाव को भी कम कर देती हैं। मेरी राय में यदि ऐसी पंक्तियाँ कविता में न होती तो कविता छोटी जरूर हो जाती, पर उसका प्रभाव सघन होता और वह समूचे रूप में आधुनिक बोध की कविता होती।

इसी क्रम में 'बौनों की दुनियाँ' को भी लिया जा सकता है। हम सब बौने हैं'/मनसे 'मस्तिष्क से भी/भावना से/चेतना से भी/बुद्धि से विवेक से भी/क्योंकि हम जन हैं/3 कहकर कवि जिस साधारणता की ओर संकेत करता है, वह ठीक लगती है

1. जो बँध नहीं सका, पृष्ठ 98-99
2. वही, पृष्ठ 3-4
3. वही, पृष्ठ 9

और जब कहता है हम सब इतिहास के लिए जीते हैं जीते दास हैं हम इतिहास बसन्त जीते हैं। इतिहास छाता है, हम सब तो स्याही हैं[1] तो उसकी अभिव्यक्ति ईमानदार और बोध सम्पन्नता विश्वसनीय लगती है। व्यंग्य हमारे सारे क्रम की बखिया उधेड़ता चलता है और हमें लगता है कि कवि परिवेश से जुड़ा हुआ है। इसके साथ ही जब वह हमें बौने बनाकर बीसवीं सदी के कारण बनाने में जो लम्बी सूची गिनाता है वह सब अवांछित विस्तार और फतवेबाजी का अन्दाज है। पाठक ने कविता शुरू करते समय जो खुशी महसूस की थी और उसे लगा था कि कवि व्यंग्य से टूटते आदमी की बात कह रहा है, वह पल भर में झटके से निराशा की ओर लौटते हुए यही सोचकर सन्तोष करता है कि कवि की नियति यही है, सीमा यही है। वह एक कंकड़ी फेंककर बनती लहर को सम्पूर्णता से देख नहीं पाता कि जल्दी-जल्दी बहुत सी कंकड़ियाँ फेंक देता है, जिससे लहरों के वृत्त पर बने वृत्तों में पहली लहर कहीं खो जाती है। व्यंग्य के माध्यम से वर्तमान जीवन की विसंगतियों और संस्कृति की विघटनशीलता पर लिखी गयी कतिपय पंक्तियाँ अच्छी हैं। निम्नांकित पंक्तियों में सम्पूर्ण इतिहास और उसके सहारे खड़ी की गयी मानवीय नियति व पूरी मानवता पर तीखा प्रहार है : इसमें आधुनिक परिवेश की समूची 'तल्खियत' समा गयी है :—

परिस्थितियाँ गलत सभी
क्योंकि गलत सूत्रपात
संस्कृति का सारा क्रम
क्रम विरुद्ध सन्निपात
आदर्श : तमाशबीन
सत्य : भीड़ का नारा
हर पद्धति : एक वज्र बहरे मूर्ख का मजाक"[2]

इतिहास : एक व्यंग्य स्थिति 'इतिहास एक आदिम न्याय', इतिहास बच्चा है' और 'इतिहास विकृत सत्य' जैसी कविताओं में व्यंग्य कहीं-कहीं उभरा है। इनमें राजनैतिक संदर्भ में बार-बार प्रस्तुत किये जाने वाले कार्यों की योजना—जो सिर्फ योजना है बार-बार सत्य और न्याय की दुहाई, उपलब्ध साधनों के दिशाहीन उपयोग और गलत सूत्रपात आदि पर व्यंग्य किया गया है। इन कविताओं में कहीं-कहीं आई, जनता, मानवता, लोकमत, सिर्फ चेहरे हैं, टिकट की खिड़कियाँ हैं, इतिहास एक खिलौना है[3] जैसी पंक्तियाँ अच्छी है और कवि के समसामयिक बोध की पहचान

---

1. जो बँध न हीं सका, पृष्ठ 10
2. वही, : पृष्ठ 17
3. वही, पृष्ठ 19

कराती हैं। अर्धआधुनिकों की बातचीत में जिस स्थित पर व्यग्य है, वह सादा शब्दों में सिमटकर भी, वैसिकली हैवान का सही परिचय भी है और बौद्धिक व्यक्ति की अधूरी स्थितियों का मापक भी :—बात ये है/सारा जमाना ही बेईमान/"आदमी असल में है बेसिकली हैवान/"......सिर्फ घूमता है/रेजगारी सा इन्सान"।[1]

अग्नि की शेष परीक्षा 'युद्ध सन्दर्भ का आभास देती है। यद्यपि इसमें भारतीयों की अतीतधर्मी दृष्टि और वर्तमान की उपेक्षा का सांकेतिक सन्दर्भ है, फिर भी कविता की शुरुआत एक प्रकार से अतीत के स्तवन से ही होती है। कविता का पहला पृष्ठ इसी स्तवन का परिणाम है। हाँ, कोई चाहे तो इसे असली बात कहने की पृष्ठभूमि कह सकता है। असल में आगे कवि अपनी अतीतधर्मी दृष्टि को भूल कहता है और युद्ध की चुनौती को स्वीकारता है क्योंकि दुनियाँ सभ्य होने के बजाय बर्बर और अधिक खतरनाक हो गई है। ऐसी स्थिति में 'काया' से भागकर आत्मा भी खो बैठे का व्यंग्य सही लगता है। इस तरह संग्रह में आधुनिक बोध का एक पारिपार्श्व है जो भीतर से सही होने और परिवेश गत जागरूकता का परिचायक होकर भी अभिव्यक्तिगत संयम व धैर्य के अभाव में कभी लुकता, कभी जाहिर होता रहा है। अकेली कोई भी कविता आधुनिक बोध की कविता नहीं है। एक रोमानी संवेदनाओं के कवि के लिए यही काफी भी है!

समसामयिक परिवेश से प्रतिबद्ध होकर, उसका संकेत देकर और उसकी पीड़ा के दंश को सहकर भी कवि यहाँ सत् मूल्यों और मानवास्था की खोज के लिए बेचैन भी है और याचक मुद्रा में भी। जिन्दगी की केसर के न चुकने का आग्रही कवि ही यहाँ 'भीड़ और अकेलेपन के क्रम से कैसे छूटें', 'अविश्वास और आश्वासन के क्रम से कैसे छूटें', 'देवता और राक्षस के क्रम से कैसे छूटें', खत्म न होने पाये कभी देवदत्त सिद्धार्थ 'सहसा मिली एक लाल तीर सी' नयी कली केले की—और कुछ बदल गया' और 'जिन्दगी में चाँदनी कैसे भरूँ', लिखकर मानव-मूल्यों के प्रति आस्था व्यक्त करता है। संग्रह का एक खण्ड तो पूरा का पूरा प्रकृति और प्रणय-छवियों के बिम्बों के सहारे खड़ा किया गया है। ये छवियाँ कवि की निजी हैं। उनमें कवि हर स्तर पर कवि लगता है। कवि के रोमानी संस्कार प्रेमगत लगाव और उसकी अनगिनती मासूम स्थितियाँ नयी छायावादी शैली के सहारे व्यक्त हुई हैं। 'गंध लेने लगी आकार', 'चाँदनी बिखरी हुई', 'कार्तिक चाँद की रात', 'रूप विभ्रमा चाँदनी', 'एक टुकड़ा चाँद', 'प्यार की तीन व्यंजनाएँ', 'सार्थकता', 'लाल गुलाबों की शाम', 'शरद नीहारिका का देह स्वप्न' और 'एक असंकल्पित शाम' आदि कविताओं में सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब हैं। इनमें कवि की सौन्दर्य चेतना की भूमि कोमलता, लहरिल स्पर्श, गंधबसी और प्रेम की छोटी-छोटी स्थितियों से तैयार हुई

1. जो बँध नहीं सका, पृष्ठ 30

है। 'गंध लेने लगी आकार' में जो बिम्ब हैं, वे अमूर्त दृश्यों को आकार प्रदान करते हैं। एकाध पंक्ति में शाम के जामुनी होने के वस्तुपरक बिम्ब भी हैं : चाँद की/पंचमी पर/ढलानों तले/छुमुई शाम होती रही जामुनी''/ 'वसंत की पहली शाम' में हवा में तैरती मीठी सुनसान शाम का बिम्ब अच्छा बन पड़ा है, किन्तु नीबू और रातरानी की महक का महीन मद आर्केस्ट्रा कल्पना विलास ही कहा जाएगा। प्रयोग के नाम पर प्रयोग का सिद्धान्त घटित करने की धुन और छायावादी वायवीयता कवि के उसी ओर लौटने का संकेत देती है जहाँ सब कुछ झिलमिल और लकदक है। यों इसमें आये अप्रस्तुतों की वर्ण्य-विषय से संगति बिठा पाना मुश्किल ही नहीं कन्फ्यूजिंग भी है। रूप विभ्रमा चाँदनी का मानवीकरण सुन्दर है ? किन्तु उसका ऐसा मानवीकृत संदर्भ जिसमें 'स्लीवलेस बिलाउज' और इलायची चबाने की संगति देने से बिम्ब आहत भी हो गया है। 'चाँदनी बिखरी हुई' के बिम्ब प्रभावित करते हैं। उनकी प्रेषणीयता भी सुरक्षित रह सकी है। 'कार्तिक चाँद की रात' का वर्णन भी भावांकित है। 'शब्द नीहारिका' के देह स्वप्न का चित्र उपमाओं और रूपकों की पीठिका पर तैयार हुआ है। इसमें जेवरों से लदी गौर वर्ण लताओं पर फूल-गैंदा-मरवों का गैंद फैंकना मनोरम व्यापार है। लाल गुलाबों की शाम प्रणय व्यापार के संकेतों से मिलकर जिस दर्द को अभिव्यक्त करती है, वह अपरिचित दर्द, भ्रम होकर भी मीठा तो है ही। भ्रमों की यह मिठास छायावादी भले ही हो, अनुभूति की सघनता को तो व्यक्त करती ही है। 'एक असंकल्पित शाम' का बहाव और उससे उत्पन्न उत्प्रेरक स्थितियों का चित्र भी आकर्षक है। इस प्रकार प्रकृति के रस भीने स्पर्श का साक्षात्कार इन कविताओं में है। गिरिजाकुमार की गीतात्मक वृत्ति से मिलकर या कहें कि नयी गीत शैली से जुड़कर ये प्रकृति बिम्ब कहीं-कहीं स्खलन का आभास देते हुए भी मार्मिक बन पड़े हैं।

प्रेम भी माथुर की सौन्दर्य चेतना का अंग है। प्रणय की तीन व्यंजनाओं को व्यक्त करने वाली कविता इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसमें प्रिया की अनुपस्थिति से उत्पन्न सहज स्थितियों के मासूम चित्र हैं। कहीं-कहीं गैर जरूरी सी लगने वाली बातों का हवाला इस ढंग से दिया गया है कि वह भी जरूरी सा लगता है। सच है वियोग के क्षणों में कितनी ही बेकार सी चीजें आकार ग्रहण करके मन में उभरने लगती हैं। खालीपन का अहसास इन्हीं स्थितियों में और भी अधिक सालने लगने लगता है :—

> ''कागज पर कलम की निब घिस-घिसकर
> सिर्फ मुलायम करता रहा''[1]

1. जो बंध नहीं सका, पृष्ठ 68

इन पंक्तियों का भावबोध वियोग की मनःस्थिति की जिस रिक्तता को व्यक्त करता है, वह अनुभूति का क्षेत्र है। दूसरे पत्र में स्त्रियों के प्रेम के क्षणों की मनोदशा जिसका सम्बन्ध सिर्फ पुरुष जाति से है, का जो सन्दर्भ आया है, वह उनकी सच्ची मनोदशा का जीवित प्रतिरूप है। प्रेम की कृत्रिमता पर व्यंग्य भी यहाँ है। तीसरे पत्र में श्रद्धा, विश्वास, प्रेम की सत्यता, नीति-अनीति सभी को रिक्तता का बोध कराने वाली प्रक्रिया बताकर भी यह स्थापित किया गया है कि बौद्धिक क्षणों में रहकर भी या इन सबके बीच द्वन्द्वों की प्रक्रिया से गुजरते हुए भी इनका मूल्य कम नहीं हो सकता है। इसीलिए कवि कहता है :—'चलता रहा एक द्वन्द्व/तुम मुझसे, सहमत होती चली गयीं/पर सहसा/बौद्धिक विजय के उस क्षण में/यह क्या हुआ/ मैं ही तुम्हारे भावानुगत हो गया"[1]/

संग्रह के तीसरे खण्ड की कविताओं को कवि ने काल की चतुर्थ विभा के रहस्मय बिम्बों में प्रवेश करने वाली रचनाएँ कहा है। 'काल' सदैव ही चिन्तन का विषय रहा है। यहाँ उसी पर विचार किया गया है और बताया गया है कि उसके सामने सभी कुछ निरर्थक है। निरर्थकता का यह क्रम अनन्त है। सार्त्र' ने 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' में इसी निरर्थकता के अनंत सन्दर्भों की अच्छी व्याख्या की है। निरर्थकता की अनुभूतियों को कविताबद्ध करने का प्रयास बहुत से अन्य कवियों ने भी किया है। माथुर ने इसे एक रहस्यमय आवरण में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इस तरह की अनुभूतियों को रहस्य का आवरण देकर प्रस्तुत करना थोड़ा अविश्वसनीय लगता है। 'विमानसी-संचरण', 'समाधि-यात्रा', और 'अशब्दों का नाता' ऐसी ही कविताएँ हैं। ये पंक्तियाँ देखिये :—'तैरते चले जाते चेहरे सब पीछे को/हर अनुभव लगता है मिथ्या की चीत्कार/आधे अनभोगे यथार्थ की भटकन है/...... गहरी समाधियाँ पड़ी हैं/अस्तित्वों पर/शब्दों को बाँधे/अशब्दों का नाता है/जितना जो भंगुर है/सत्य के समीप वही/यह अशेष के अशेष तक की परिभाषा है/"[2]

निरर्थकता की यह अनुभूति बाहर की चीजों को देखकर भी अदेखा अनुभव करती हैं क्योंकि एकसी पुनरावृत्ति सब देखे हुए को निरर्थक कर देती हैं। उसके होने का जैसे ही कुछ आभास होता है, वैसे ही :—"यह सारी सृष्टि/यह अशब्द, अंतहीन अन्धकार/बार-बार/"[3]

1. जो बँध नहीं सका : पृष्ठ 71
2. वही, पृष्ठ 44
3. वही, पृष्ठ 43

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में यही कहा जा सकता है कि माथुर रूमानी भावों के आविष्कर्ता होकर भी आधुनिक बोध के उस बिन्दु पर खड़े हैं जहाँ वे विघटित संदर्भों में रिक्तता और पीड़ा का अनुभव करते हैं। वे इसी अनुभूति से पीड़ित होकर मानव आस्था की खोज में लगे रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे इस संग्रह में पहले से ज्यादा समसामयिक और प्रतिबद्ध हैं किन्तु इसे व्यक्त करने वाली कविताओं का मूलभाव पूरी तरह वैसा नहीं है जैसा कि आधुनिक बोध के पुरस्कर्ता कवि से अपेक्षित है। परिवेशगत प्रतिबद्धता यहाँ कविताओं में कम कवितांशों में ज्यादा है। बीच-बीच में आये विस्तार–प्रसंग आधुनिक बोध से उचट-उचट जाते हैं। फिर एक ही अनुभूति की पुनरावृत्ति भी कई बार ऐसे बोध को हल्का कर देती है—आघात पहुँचाती है।

भीतरी नदी की यात्रा :

'भीतरी नदी की यात्रा' में गिरिजाकुमार की अंतरंग अनुभूतियों को शब्द-बद्ध करने वाली 41 कविताएँ संकलित हैं। जैसा कि मैंने कहा है माथुर के काव्य-सृजन का मूल स्वर प्रेम, प्रकृति और जीवन के राग बोध से सम्बन्धित है, ठीक ही है। यहाँ भी कवि राग-संवेदनों का व्याख्याता बनकर आया है। यों बीच में वह प्रयोगवाद, साठोत्तर कविता और अकविता तक से जुड़ने की कोशिश करता रहा किन्तु अपनी पूरी कोशिश के बावजूद वह फिर वहीं आकर ठहर गया है, जहाँ से चला था। 'भीतरी नदी की यात्रा' के सम्बन्ध से तो उसकी स्वीकारोक्ति भी है कि इसमें मेरी व्यक्तिगत अंतरंग अनुभूतियोंसे जुड़ी सौन्दर्य और प्रेम सम्बन्धी कविताएँ हैं जो जीवन के मधुर पक्ष से सम्बन्धित हैं। यह भूमि ममता, मोह, मानवीय–संवेदना, मर्मशीलता, आसक्ति, जीवन में भरपूर आस्वाद और जीने की आकांक्षा की है। 'भीतरी नदी' का अर्थ किसी प्रकार का पलायन नहीं, बल्कि अंतरंग अनुभूतियों का व्यक्तिकरण है। माथुर का कवि अंतरंग अनुभूतियों और उनसे जुड़े रंगों व तेवरों को इन कविताओं के तहत मासूमियत से आकार देने में सफल हुआ है। प्रायः सभी कविताएँ मानवीय प्रेम और संवेदना, जीवन के प्रति आसक्ति और भरपूर आस्वाद बोध से गंधित हैं। समग्र कविताओं को पढ़ने से लगता है कि कवि एक तो मानव के प्रति प्रेम और आत्मीयता जैसे मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहता है और दूसरे यह कि वह प्रकृति की सौन्दर्यसिक्त छवियों को बिम्बों में बाँधकर अपनी राग चेतना को रेखांकित करना चाहता है। भूमिका में उसने संकेत भी दिया है : नयी कविता में नगर बोध के नाम पर अधिकांश कविताएँ देश के उस वृहद् ग्रामांचल से कट गयी हैं जो हमारे जीवन का सबसे बड़ा और बुनियादी हिस्सा है। तीव्र भावना, रसमयता, प्रकृति के रंग, पेड़-पौधों, फूलों और फसलों के रंगों को इस तरह रोशनी करकर

खदेड़ दिया गया है जैसे कि यह सब यथार्थ से विमुख प्रवृत्ति हो।"[1] वस्तुतः 'भीतरी नदी की यात्रा' कवि माथुर के अंतरंग की वह मधुर यात्रा है जिसके पहले दूसरे और तीसरे सभी पड़ावों पर प्रेमिल दुनियाँ की मुस्कराहट है; प्रकृति की घनी छाँव है और मानवीय संवेदना की सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थितियों का रंग है।

विषय वस्तु की दृष्टि से देखें तो साफ नजर आता है कि इस संग्रह में चार प्रकार की कविताएँ हैं—प्रणय भाव की अभिव्यंजक, प्राकृतिक छवियों की निरूपक, विविध अनुभवों से उत्पन्न प्रतिक्रियापरक और निजता के घेरे को तोड़कर दुनियाँ के बीच पहुँचे कवि की सामाजिक अनुभूतियों की व्यंजक। इन सभी प्रकार की कविताओं में माथुर का मानवीय संवेदन प्रेम, करुणा, आस्था, जिजीविषा और सामाजिकता से युक्त दिखलाई देता है। वस्तु कोई भी रही हो कवि ने उसकी व्यंजना जिस रूप में की है, वह न केवल आत्मीयता का धरातल है; अपितु अनुभूत को कहने वाला वह शैल्पिक संसार भी है जो पूरी ईमानदारी से कवि के साथ रहा है। यही वजह है कि अनुभूतियाँ यदि सहज निश्छल रागानुगा भावना और समर्पण के रंगों में निखरी हुई हैं तो अभिव्यक्ति भी अकृत्रिम, मासूमियत भरी और आत्मीय है। सौन्दर्य और प्रेम के रंगों में रंगी समस्त कविताओं में कवि की जीवनास्था और गहरी सूझ-बूझ आरेखित हुई है।

संकलन में आई प्रेम भाव की कविताओं में प्रतिपादित किया गया है कि प्रेम जीवन की अनिवार्यता भी है और उसका केन्द्र बिन्दु भी। जीवन का सारा अस्तित्व ही प्रेम के सहारे है। अतः कवि का यह कहना बेमानी है—"तुम्हें नहीं मालूम/कि प्यार के लिए कोई उम्र नहीं होती/कोई वक्त, कोई जगह/कोई रोक-टोक नहीं होती/तुम्हें नहीं मालूम/तुम्हारी देह का कुहकता स्वाद/जो तुम मन के भीतर से उँडेलकर/अब तक किसी को दे नहीं पायीं/उसमें कितनी शराब है/कितनी ज्यादा संजीवनी/जिसे पाकर उम्र वापस मिल जाती है।"[2] उम्र के प्रत्येक चढ़ाव के साथ कवि का यह कहना और महसूस करना कि सारे सम्बन्ध झूँठे हैं और मात्र प्यार का सम्बन्ध और उसकी गंध ही शाश्वत है, अर्थ ही नहीं मूल्य भी रखता है। चिंतन की राहों से गुजर कर पाई गई यह अनुभूति कवि के उदात्त-परिष्कृत निष्कर्षों का परिणाम है। प्रेम भाव की द्योतक कविताओं में माथुर ने मिलन-विछोह के जो बिम्ब दिये हैं वे न केवल सहज हैं; अपितु शिल्पगत सजीवता व ताजगी को भी व्यक्त करते हैं। प्रिय के अभाव में जीवन यदि व्यर्थता का पर्याय बन जाता है; इन्तजार का 'सिम्बल' बन जाता है तो उसके आने से शरीर की शिरा-शिरा झूमने लगती है :

1. भीतरी नदी की यात्रा : भूमिका से
2. वही पृष्ठ 83

"अंधी थी दुनियाँ, था मिट्टी भर अंधकार/उम्र हो गई थी एक लगातार इन्तजार/जीना आसान हुआ तुमने जब दिया प्यार/हो गया उजेला-सा रोग्रों के आर पार/"[1] इतना ही नहीं कवि तो यह भी लिख गया है कि "तुम्हारे आते ही/मेरे कमरे का रंग गोरा हो जाता है/हर आईने का चेहरा/प्यारा हो जाता है/"[2] गिरिजाकुमार की प्रेमपरक कविताओं में रूपासक्ति और आकर्षण के तत्वों का विनियोग भी मिलता है। प्रिया के रूप सौन्दर्य का जादू कवि के तन-मन पर जादूयी प्रभाव छोड़ता हुआ उसकी भावनाओं को शत-शत रूपों में उद्दीप्त कर देता है। कवि की ये पंक्तियाँ देखिए : "तुम मेरे शरीर पर काले जादू की तरह छा गयी हो/तुम्हारी देह मेरे भीतर ताल देती है/तुम मेरे रंगहीन जन्म के अकेलेपन में एक बाहरी फूल की तरह लग गई हो/मेरे शब्दों की खुशबू/तुम्हारी बाँहों की लिपटती गंध है/उसके चटकीले रंगों पर/तुम्हारे होठों की छाप है।"[2] प्रेम भाव की द्योतक कतिपय कविताओं में यदि प्रेम की आन्तरिक अनुभूतियों—स्थितियों की मुक्त व शिष्ट अभिव्यंजना भी मिलती है तो कुछेक ऐसी भी हैं (यथा-नयी आँखें, वक्त के हाशिए व चेहरे पर आती हैं परछाइयाँ) जिनमें गहरी और विशाल जीवन-दृष्टि निरूपित हुई है। 'जीवन के हाशिए' इस सन्दर्भ में विशेषोल्लेख्य कविता है। इसमें जीवन की विविध आस्थाओं को लेकर प्रेम की भूमिका पर तुलनात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'नयी आँखें' कविता में व्यंजित अनुभूति यौवन के रस-रंग में सराबोर होकर आई है। "यह उम्र दर्पणों में सजी चित्र-गैलरी/मन में जो बिराजा वह लेता आकार है/हर शरीर मस्ती है/हर युवती प्यार है/" कहने वाला कवि प्रेम के प्रति पूरी तरह समर्पित है।

माथुर की प्रणयपरक कविताओं का क्षेत्र नागरिक और ग्राम्य दोनों ही परिवेशों से बना है। दोनों ही क्षेत्रों में उनकी प्रणयानुभूतियाँ बेहिचक व निश्शंक भाव से ऐन्द्रिय बोध की सीमाओं का स्पर्श करती जान पड़ती हैं। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए—

1. 'बेहिचक दृष्टि/मेरे हर सभ्य संस्कार पर/डाल गयी/एक कच्ची मिट्टी की टोकरी/वह ऊपर फिकी/ईंट-सा वदन/ठमका सा सधा कद/उठी चुस्त मेहनती बाँहों से/बिन जाने उठा/सटा गेंद झूल/छींट का पोलका/मेरी सारी आधुनिकता का/शीशे मढ़ा/शो केस चटका/"[3]

---

1. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 33
2. वही पृष्ठ 7
3. वही पृष्ठ 3

2. "ये नयी उम्र वाले गसीले बदन/ये नयी काट के अंगबेधी बसन/
हर सड़क पर/चटक रंग की बाढ़/बेफिक्र चलती हुई/देहधारी
शिखाएँ गरम/फूल की नोंक चुभाती निकलती हुई/"[1]

आलोच्य संग्रह में जो दूसरा स्वर मिलता है वह प्रकृतिपरक कविताओं से जुड़ा हुआ है। इस स्वर को शब्दाभिव्यक्ति देने वाली कविताओं में 'अनमिले भँवर', 'नयी पहचान', 'समुद्र की साँसें', 'गरमी की शाम', 'बीहड़ जंगलों के बीच', 'निसर्ग में वापसी' और पतझर की एक दुपहर' जैसी कविताएँ प्रमुख हैं। इन कविताओं को शुद्ध प्रकृति बोध की कविताएँ कहा जा सकता है। जिन प्रकृति परक कविताओं में कवि की प्रणयानुभूति भी ओकर मिल गई है, उनमें 'नयी पहचान', 'पिंजोर वाटिका की रात' और 'कनाट प्लेस' को लिया जा सकता है। इनमें प्रकृति की पीठिका पर ऐन्द्रिय-संवेदना को वाणी दी गई है। 'कनाट-प्लेस' में यौन पीड़ित नर-नारियों का अंकन है तो 'पिंजोर वाटिका' में कवि की मांसल भावनाएँ शहजादियों की मलमल पर फिसलती हुई गुलमुहर के फूलों की वर्षा में भीग कर प्यार-सटी देहों की कल्पना में डूब गई हैं।

आलोच्य संग्रह में आये अनेक प्रकृति चित्र बड़े आकर्षक और स्निग्ध बन पड़े हैं। रात, सूर्य के तीव्र ताप, कोणार्क के सिंधु-तट व चाँदनी आदि के चित्र बड़े आकर्षक बन पड़े हैं। 'सलोनी रात' का चित्र यदि चमेली की गंध में पगी हवा के स्पर्शबोध को जगाता हुआ मन-बदन के सभी परदे उतारता दिखाई देता है तो सूर्य के तीव्र ताप से झुलसे हुए वैशाख की शाम का दृश्यांकन भी मन में मूर्तित हो जाता है : "हरे कच्चे पात लिए/गदराये गोल आम/झुके अमलतासों से झरती/बैशाख शाम/भटक रहा मन/गोल बबूला गरम/"[2] 'बीहड़ जंगलों के बीच' कविता में वन प्रदेश की गहनता, बीहड़ता और भयावहता को सूक्ष्म और कम से कम शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। 'कोणार्क के सिंधु तट' का यह प्रकृति बिम्ब भी देखिए जो कवि की भावगर्भित अनुभूतियों को मूर्तित कर देता है—

"लुप्त नदी/खोए हुए मुहाने के रेत टीले/बालू भरा चौड़ा जलहीन
पाट/आज भी बना है/किनारों पर झाऊ के जंगलों की पाँत/वैसी
की वैसी/अब भी सनसनाती है/समुद्र की अनरवत ठंडी साँसों की
तरह/पत्तों में/सूनी डालों में/काही तिनकों में/......"[3]

---

1. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 76
2. वही पृष्ठ 27
3 वही पृष्ठ 15

'भीतरी नदी की यात्रा' में जो तीसता स्वर प्रतिध्वनित है वह वैयक्तिक जल-धाराओं को काटता हुआ दुनियाँ के बीचोंबीच खड़े इन्सान की सामाजिक अनुभूतियों से सम्बन्धित है। वैयक्तिक और अन्तरंग क्षणों को वाणी देने वाला कवि इस आधार पर सामाजिकता की ओर झुका है कि कोई भी अन्तरंग भोग सामाजिक न्याय और स्वस्थ पक्ष के बिना सम्भव नहीं है। आलोच्य संग्रह की जिन कविताओं में सामाजिक चेतना का स्वर मुखरित हुआ है, उसमें 'मूड ट्रेंक्वेलाजर', 'बीसवाँ अंधकार', 'रचनाहीन', 'यंत्र-त्रास' और 'वणिक संस्कृति का मृत्युगीत' प्रमुख हैं। इनमें जीवन की कटुता, अवसादमयी स्थितियों विडम्बनाओं और विकृत-विगलित और टूटते हुए मानवीय सम्बन्धों का अभिव्यंजन हुआ है। भौतिक सभ्यता से विजड़ित और विकृत मानव और मानव जीवन के कुछ अच्छे बिम्ब इस संग्रह की कविताओं में मिलते हैं। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए : "इस कलमुँही दुनियाँ में जहाँ आँखों में सिर्फ घृणा की है कालिमा/हर मन में शक सुबहा/कड़वी कुत्सा/हर कर्म में छिपी ईर्ष्या/हर मुँह में तेज धार/व्यवहार में अवहेलना/कितना आसान है/किसी से कुछ छीनना/कितना आसान है/किसी पर दोष थूकना/पर कितना कठिन है/एक मामूली-सी ममता को औघड़ हो बाँटना/एक प्यार भरे छोटे से मन को/रोटी की तरह टुकड़े कर/देते चले जाना/"[1] इसी प्रकार कुछेक कविताओं में जिन्दगी का तनाव, दुहरी जिन्दगी की पीड़ा दिखावटीपन, मिथ्या आश्वासनों के सहारे जीना और कर्म से जी चुराते हुए अपराध भाव में जीने की अनुभूतियों को शब्दबद्ध किया गया है। 'अर्थ-शून्य', 'मूड ट्रेंक्वेलाइजर', 'यंत्र-त्रास' में इन्हीं अनुभूतियों को बेहद सफाई से कहा गया है। 'बीसवाँ अंधकार' में गिरिजाकुमार ने पाश्चात्य देशों में मशीनीकरण के दुष्परिणामों का आकलन किया है तो वणिक संस्कृति का मृत्यु गीत' और 'रचनाहीन' जैसी कविताओं में मानवीय जीवन में भौतिक मूल्यों के कारण विकसित परोपजीवी स्थितियाँ और मानवीय मूल्यों की विकृतियाँ रेखांकित हुई हैं। मानव-मन की बंजर भूमि में अब न तो प्रेम का पौधा उगता है और न ममता, सहानुभूति व करुणा जैसे मूल्य विकसित हो पाते हैं। इसी स्थिति से क्षुब्ध होकर कवि बड़ी टीस के साथ कहता है : "ओ निर्वासित आत्मा इस घनघोर दुनियाँ के नैतिक बवण्डर में/तू अपना शेप बचा/ ·· हर भूमि आज बंजर है/ओ ममता भरी उत्सव-सी भावना/घृणा की इस कडवाई वीभत्स रात में/मन ही मन बाँझ होती/प्यार की पछताती बूँद अर्पित करोगी कहाँ/"[2]

'आने वाले अन्दलीबों के लिए' और 'सोना देश' जैसी कविताओं में क्रमशः कविता का परिभाषीकर, महत्व और बंगला देश के मुक्ति संग्राम की यथार्थ; किन्तु

1. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 37

2. वही पृष्ठ 52

भयावह तस्वीर पेश की गई है। कुल मिलाकर यही कह सकते हैं कि 'भीतरी नदी की यात्रा' कविता संग्रह में प्रेम, सौन्दर्य और मानवीय वेदना को निरूपित करने वाली कविताएँ संकलित हैं। कवि का रुझान यहाँ भी रंग, रूप और रोमानी भावों के प्रति अधिक व्यक्त हुआ है। मेरी राय में यही उसका असली स्वर है और इन्हीं भावों से युक्त कविताएँ कवि की कवित्व शक्ति की मापक कविताएँ हैं। इस संकलन की कविताओं में न सिर्फ कवि का काव्य-व्यक्तित्व अपनी पहचान लेकर आया है; अपितु नयी हिन्दी कविता के सौन्दर्य बोध की सही और सशक्त पहचान भी इन्हीं कविताओं से हो सकती है। इस भागमभाग और आपाधापी युक्त जिन्दगी में कवि दुनियाँ को पुनः प्रेम और सौन्दर्य की सीमाओं की ओर ले जाकर जीवन के शाश्वत मूल्यों—अनिवार्य और अपरिहार्य सन्दर्भों से जोड़ना चाहता है। अनेक मानव-विरोधी षड्यन्त्रों और निषेधात्मक अन्धकार के वातावरण के बीच ये कविताएँ जीवन की लय और रचनाधर्मिता को साथ-साथ प्रस्तुत करती हैं। इनका शिल्प सहज, आत्मीय और विश्वसनीय लगता है। शब्दों की आत्मा में छिपे अर्थ की व्यंजना, भाषा की व्यंजक, प्रेषणीय और अर्थगर्भित छवियों के साथ-साथ यहाँ उपमानगत ताजगी, भावगत चित्रमयता और ध्वन्यात्मकता को खुलकर काम में लिया गया है।

काव्य-प्रवृत्तियाँ :

गिरिजाकुमार माथुर की काव्य-चेतना सतत विकासोन्मुखी रही है। उनकी कविताओं का प्रधान स्वर सौन्दर्य, प्रेम और प्रेमजनित पीड़ा, विषाद और अवसाद है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे अपने समसामयिक पदार्थ से कटे हुए हैं। उन्होंने अपने आस-पास फैले उस कटु, विषम और भयावह यथार्थ को भी देखा है जो आज के आदमी को भटकाता हुआ तोड़ रहा हैं। यदि उनके आरम्भिक काव्य में प्रेम, सौन्दर्य और वैयक्तिक पीड़ा और निराशा का स्वर अधिक गहरा है तो परवर्ती काव्य में उनकी मूलवृत्ति (सौन्दर्य और प्रेम) निरंतर परिशोधित और परिष्कृत होती गई है—प्रेम और तज्जनित मनोवृत्तियाँ परिष्कृत और उदात्त होती गई हैं। 'शिलापंख चमकीले', 'जो बँध नहीं सका' और 'भीतरी नदी की यात्रा' में कवि युगजीवन की समस्याओं और परिवेशव्यापी कटुता-विषमता के कारण उत्पन्न स्थितियों का निरूपण करता हुआ मानवतावादी भूमिका पर आकर अपनी संवेदना को रूपाकार प्रदान करता दिखाई देता है। यही कारण है कि उनके काव्य में रंग, और रोमान की प्रवृत्ति, जिसमें जीवन की हर्षोल्लास और विषाद मयी अनुभूतियाँ भी शामिल हैं; मिलती है; तो समसायिक परिवेश से प्रभावित यथार्थ की छवियाँ भी अनुस्यूत हैं। इस स्थिति में वे निजता के घेरे को तोड़कर सामाजिक धरातल पर आ गये हैं।

प्रणयानुभूति :

गिरिजाकुमार के काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में उनकी प्रणय भावना को लिया जा सकता है। यह भावना उनके काव्य में प्रारम्भ से आज तक मिलती है। भले ही युग जीवन की विषमताएँ मुँह बाये खड़ी हों; किन्तु कवि उनसे प्रभावित होता हुआ भी अपनी मूल रोमानी वृत्ति को नहीं छोड़ सका है। उनकी अधिकांश कविताओं में प्रणय की स्थूल अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से उनकी 'चूड़ी का टुकड़ा', 'रेडियम की छाया', 'देह की आवाज', 'अभी तो झूम रही है रात' और 'देह छवि' जैसी कविताओं को लिया जा सकता है। इनमें चित्रित अनुभूतियाँ यदि कवि की मांसल भावनाओं को प्रकट करती हैं तो रूप-सौन्दर्य की छवियों में भी आसक्ति बोध गहराया हुआ है। रूपासक्ति और आकर्षण-प्रेम के महत्वपूर्ण उपादान हैं जिनका उपयोग कवि माथुर ने खुलकर किया है। प्रिय मिलन के मधुर क्षणों की कोमल अनुभूति को शब्दबद्ध करते हुए यदि कवि यह लिखता है : "तुम्हारे आते ही/मेरे कमरे का रंग गोरा हो जाता है/हर आईने का चेहरा/प्यारा हो जाता है/तुम्हारे बदन की रोशनी/मेरे रोओं से होकर/पूरी भीतर आ जाती है/"[1] तो प्रिया के साथ बिताये संयोग के नाजुक क्षणों की निस्संकोच अभिव्यक्ति उसके अनुभव के खरेपन को यों कहती है : "पिछली इसी बसंत रात की याद उमड़ आती है/जब तुम पहली बार मिली थी/पीले रंग की चूनर पहने/देख रही थी चोरी-चोरी/मेरे मीठे गीत प्यार के मेरे पास अचानक जाकर/छीन लिया था उन्हें तुम्हारे मेंहदी रंगे हुए हाथों से/और लाल होकर क्वाँरी लज्जा से/तुमने मुख पर आँचल खींच लिया था/जल्दी से निज चाँद छिपाने/"[2] अनेक स्थलों पर कवि ने पूर्वदीप्ति के रूप में अपनी प्रिया की आतुरता का सुन्दर स्वच्छ और मार्मिक अंकन किया है। पूर्वदीप्ति के प्रसंगों में कवि मिलन के मधुर क्षणों में डूबता हुआ न केवल दुखी होता है; अपितु अपनी मिलनातुरता और पुनः मिलन की ललक को भी संकेतित कर देता है : "याद आये मिलन वे/मसली सुहागिन सेज पर के सुमन वे/फिर याद आये नत पलक/फिर बिछुड़ने के अश्रु डूबे नयन वे/"[3] कहने का तात्पर्य यही है कि अपनी समस्त प्रणयानुभूतियों में कवि शरीर को मन से अलग नहीं कर पाया है। प्रायः प्रत्येक संग्रह में ऐसी कविताएँ मिलती हैं जो उसकी ऐन्द्रियता को प्रकट करती हैं। 'धूप के धान' की 'देह की आवाज' कविता में तो कवि स्पष्ट रूप से देह-धर्म की आवाज सुनता हुआ अपनी भोगवादी दृष्टि को प्रसारित करता प्रतीत होता है। वस्तुतः कवि ने देह का पूरा उपयोग किया है। उसका कहना है कि संसार की रचना के मूल में

---

1. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 5
2. नाश और निर्माण : पृष्ठ 62
3. वही पृष्ठ 63

यह शरीरासक्ति ही तो कार्यरत है। अतः शरीर अशान्ति का कारण मात्र न होकर मानवीय संस्कृति के विकास में भी योग देता है। यह देह की शिखा ही शरीर के दीपक की लौ को जलाती है और यही वह माध्यम है जो प्रिय-मिलन की भूमिका तैयार करता है: "धरती सिहरी, जों उरजों छुई नवेली/नक्षत्र खिल चांदनी नई मुसकाई/फिर वक्ष मिलन, चुम्बन की बेला आई।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि माथुर की प्रेमभावना जनित अनुभूतियाँ सूक्ष्म भी हैं और स्थूल भी हैं। उनमें मिलन, मिलनातुरता, लालसा, भोग और तज्जनित अनेक भावों का अंकन रोमानी शैली में पूरी ईमानदारी से किया गया है। प्रणयबोध को शब्दबद्ध करने वाली माथुर की अनेक कविताओं में मिलन का संगीत रजनीगंधा की मादकता भी जगाता है और मध्यवर्गीय व्यक्ति की सुखद लालसाओं के दीपों का प्रकाश भी फैलता है।

वेदनानुभूति :

माथुर के काव्य में प्रणयजनित पीड़ा का स्वर भी मिलता है। जीवन के प्रति तीव्र आसक्ति के कारण उन्होंने न केवल सुखद क्षणों की मधुर मादक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है, अपितु प्रेमजनित पीड़ा, विषाद, अवसाद और निराशा को भी शब्दों में बांधा है। 'मंजीर', 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान', 'जो बँध नहीं सका' और 'भीतरी नदी की यात्रा' सभी में प्रणयजनित वेदना का रंग फैला दिखाई देता है। माथुर की विरह भावना में उत्तरोत्तर परिष्कार हुआ है। प्रारम्भिक कृतियों में जहाँ शारीरिक दूरी होने से प्रेमी का मन सर्वथा दुखी और असहाय अनुभव करता है, वहीं 'धूप के धान' में प्रेम का उज्ज्वल और गार्हस्थिक रूप चित्रित हुआ है आगे की रचनाओं में तो कवि की प्रणय-वेदना जनित अनुभूतियाँ उत्तरोत्तर विकसित होती गई हैं। निराशा का स्वर प्रायः उसी रंग-रोगन के साथ व्यक्त हुआ है जैसाकि छायावादी और वैयक्तिक गीतकारों की रचनाओं में मिलता है। शरीर से दूर होने पर यदि कवि प्रिया को अपने निकट महसूस करता है तो यह उसकी विकसित मनस्थिति का ही प्रतिरूपण है। उसकी सूनी पलकों पर यदि प्रिया का सस्मित आनन और काली सलज्ज आँखें उतरती हैं तो निराशा का वह काला अँधेरा भी उतरता है जो कवि को यह कहने को बाध्य कर देता है: "प्यार बड़ा निष्ठुर था मेरा/कोटि दीप जलते थे मन में/कितने मरु तपते यौवन में/रस बरसाने वाले आकर—/विष ही छोड़ गये जीवन में/जल की जगह ज्वाल ही बरसी/सदा प्यार के लघु-सावन में/"[2] निराशा की ये अनुभूतियाँ 'भीतरी नदी की यात्रा' में अकेलेपन के बोध से जुड़ गई हैं। कवि प्रिया के अभाव में दुखी तो होता है; पर

1 धूप के धान : पृष्ठ 106

2. मंजीर : पृष्ठ 56

उसका दुख वयस् के प्रभाव से गम्भीर और भीतर तक भेदता चला गया है। दर्द का जो पौधा अब तक बाहर लहलहाता हुआ उसके बाहरी वेदना-बोध को दिखलाता था वही अब उसके अन्तम् के भीतरी कोनों में छा गया है। फलतः उसकी वेदना का स्वरूप यह हो गया है :

> "चीजों के चेहरे से/रौनक-सी पुँछ गयी
> आइनों से बिम्बों की छाया/निकल गयी
> सब कुछ वैसा ही रहा—/कुछ दिन को बनी दुनियाँ
> आखिर में छूट गयी"[1]

प्रणयजनित वेदना को भोगता हुआ कवि अब अकेलेपन के बोध से भर गया है। अतः यह भी कह देता है कि "कट रही है/रात मेरी द्वार पर/हर सुबह डूबी इसी मँझदार पर/भोगना हर क्षण अकेला ही पड़ेगा/मृत्यु तक/व्यर्थ ही मुझको मिलीं/तुम राह पर/"[2] कहने का तात्पर्य यही है कि माथुर के काव्य में निरूपित वेदना मात्र शारीरिक ही नहीं है; उसमें कवि की मानसिकता और उससे उत्पन्न निराशा अवसाद, अकेलापन जैसी मनोभूमियाँ भी शामिल हैं। यह वेदना का परिष्कार है जो कुछ कविताओं में व्यक्ति की विडम्बनाओं, विसंगतियों और जीवन के संघर्षों के कारण निरन्तर मँजता गया है। भौतिक मूल्यों के प्रसार के कारण जीवन की हरी पत्तियाँ नुचती जा रही हैं, आदमी मशीन हो गया है और उसका व्यवहार कृत्रिम। अतः इस सबसे दुखी होकर कवि अब यह भी कहता है कि "ओ निर्वासित आत्मा/इस घपघोर दुनियाँ के नैतिक बवंडर में/तू अपना शेष बचा/ ... हर भूमि आज बंजर है/हर मन में गुर्राता हुआ/बैठा एक प्रेत है।"[3]

सौन्दर्यानुभूति :

सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से गिरिजाकुमार का काव्य अपनी अलग विशिष्टता लिए हुए है। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि न तो छायावादियों की तरह अतिरंजित और वायवीय है और न प्रगतिवादियों की तरह अनगढ़ और अनाकर्षक है। उसमें अपनापन है; एक ताजगी है जो नयी कविता की उल्लेख्य विशेषता है। सौन्दर्य के चित्र उतारते समय कवि भावुक तो है; पर अव्यावहारिक कहीं नहीं हुआ है। कवि के सौन्दर्य-बोध को नारी-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य से अनुरंजित और गंधित कविताओं में देखा जा सकता है। नारी-सौन्दर्य के चित्रण में कवि की स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। देह-सौन्दर्य के साथ-साथ मनःसौन्दर्य और

---

1. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 36
2. वही पृष्ठ 38
3. वही पृष्ठ 52

मनोभावों से उत्पन्न सौन्दर्य के बिम्ब भी माथुर की कविताओं में बड़ी मात्रा में मिलते हैं। नारी के रूप-सौन्दर्य को अंकित करते हुए कवि ने लिखा है : "देह कुसुमित मृणाल/जैसे गेहूँ की बाल/जैसे उचकौंहे बौरों से/रोमिल रसाल/किशमिशी चन्द्र-लट/कसम से उर-प्रियाल/"[1] नारी सौन्दर्य की ऐसी आक्रामक छवियाँ माथुर के काव्य में भरी पड़ी हैं। इसके विपरीत मिलन के पलों की सलज्ज छवियों के सूक्ष्म चित्र भी माथुर की कविताओं की अक्षय सम्पत्ति हैं। 'शिलापंख चमकीले' की ये पंक्तियाँ तो देखिए जिनमें नारी की समस्त लज्जा और स्मित छवि बिम्बित हुई है : "बोलने में/मुसकराहट की कनी/रह गई गड़कर/नहीं निकली अनी/खेल से पल्ला जो उँगली पर कसा/मन लिपटकर रह गया/छूटा वहीं/"[2]

गिरिजाकुमार के सौन्दर्य बोध में प्रकृति के चित्रों ने भी पर्याप्त योग दिया है। मूलतः हैं भी वे प्रकृति और प्रेम के ही कवि। प्रकृति की अनगिनत छवियाँ अनगिनती रूपों के साथ माथुर की कविताओं में आकर कैद हो गई हैं। यदि 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले' और 'जो बँध नहीं सका' से प्रकृति-सौन्दर्य को चित्रित करने वाली कविताओं को इकट्ठा किया जाय तो एक स्वतन्त्र काव्य-कृति तैयार हो सकती है। आकर्षक और प्रकृति की मारक छवियों को चित्रित करने वाली कविताओं में ढाक वनी, धूप का ऊन, सावन की रात, बसंत की रात, शाम की धूप, रूप विभ्रमा-चाँदनी, चाँदनी बिखरी हुई, बरकुल, चिलका झील, लाल गुलाबों की शाम, कार्तिक चाँद की रात, खट्ठी-मिट्ठी चाँदनी, दियाधारी, दो पाटों की दुनियाँ, समयातीत क्षण, एक स्वप्न, पत्तीदार रोशनी का दम्भ, गंध लेने लगी आकार, बसंत की पहली शाम, आरसी-ताल, कटा हुआ आसमान, रात का हेयर पिन, बीहड़ जंगलों के बीच, आग और अमलतास, गरमी की शाम, नयी पहचान और पिंजोर वाटिका आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रकृति के कोमल-सुकुमार पक्ष का अंकन नवीन शिल्प में किया गया है। अपवाद स्वरूप प्रकृति की वीरानगी और जीवन की कटुता भी कहीं-कहीं इन प्रकृति कविताओं के चौखटे में जड़ दी गई है। स्पष्टीकरण के लिए केवल दो उदाहरण काफी हैं। पहले में प्रकृति का मादक, मोहक और मानवीकृत रूप है तो दूसरे में मिलन के क्षणों की लज्जा और तरुणिमा साकार हो उठी है :

1. "नयन लालिमा स्नेह दीपित/भुज मिलन तन गंध सुरभित/उस नुकीले वक्ष की/वह छुवन, उकसन, चुभन अलसित/इस अगरु सुधि

---

1. शिलापंख चमकीले : पृष्ठ 53
2. वहीं पृष्ठ 51

से सलोनी हो गई है/रात यह हेमंत की/कामिनीसी अब लिपट कर सोगई है/रात यह हेमंत की/''[1]

2. ''आज है केसर रंग रंगे वन/रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली सी केसर के वसनों में छिपा तन/सोने की छाँह-सा/गोरे कपोलों पर हौले से आ जाती/पहले ही पहिले के/रंगीन चुम्बन की-सी ललाई/''[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में जो सौन्दर्य बोध उभरा और विकसित हुआ है वह उनकी रोमानी भावना और नयी कविता के सौन्दर्य बोध को शब्दों में बाँधता हुआ पाठक को अभिभूत कर लेता है। यह सौन्दर्य न केवल अनाघ्रात, गंधित मदिर और रंगीन है; अपितु इसमें कवि मानस में लहराती भावनाओं का तीव्र वेग भी है और कवि-मन की संसिक्ति भी।

देशानुराग और राष्ट्रीयता :

गिरिजाकुमार की कविताओं की एक दुनियाँ तो वह है जो उनके निजी भावों और एकांतिक क्षणों में जाकर खुली है और दूसरी वह है जिसमें कवि अपने देश के प्रति अनुराग से भर उठा है। देशानुराग-व्यंजक कविताओं में कवि की राष्ट्रीय और सतत जागरूक दृष्टि मिलती है। उनकी राष्ट्रीयता कहीं भारत भूमि के चित्रण में, कहीं देश के नेताओं को दिए गए जागृति के संदेश में, कहीं धरती के प्रति आस्था प्रेरित अनुराग के अंकन में, कहीं राष्ट्र की आत्मा बने महापुरुषों के चित्रण में, कहीं 'एशिया के जागरण' गीत में और कहीं देश के नवयुवकों को उपलब्ध आजादी की सुरक्षा के लिए निरंतर जागृति मंत्र देने में अभिव्यक्त हुई है। इस प्रकार की राष्ट्रीय भावापन्न कविताओं में 'पन्द्रह अगस्त 1947', 'ढाकबनी', 'एशिया का जागरण', बुद्ध, विजयादशमी, याज्ञवल्क और गार्गी, नये साल की साँझ, इन्दुमती, महाप्राण निराला और दो चित्र आदि प्रमुख हैं। जागृति का संदेशवाहक कवि 'पन्द्रह अगस्त' कविता में : ''आज जीत की रात/पहरुए सावधान रहना/खुले देश के द्वार/अचल दीपक समान रहना/'' जैसी बातें कहता है तो देश के नौनिहालों को यह भी याद दिलाना नहीं भूलता कि शत्रु तो धरती से चला गया है; किन्तु उसकी मनहूस छाया अभी भी देश पर मँडरा रही है। कवि की राष्ट्रीय भावना को उद्बोधक ये पंक्तियाँ देखिए जिनमें कवि स्वस्थ सामाजिक जीवन की कामना करता हुआ आस्थावान बना हुआ है—

---

1. धूप के धान : पृष्ठ 49
2. नाश और निर्माण : पृष्ठ 110

"आईनों से गाँव होते घर न रहते धूल कूड़ा,
जम न पाता जिन्दगी पर युगों का इतिहास घूरा
मृत्यु सा सुनसान बनकर जो बनैला प्रेत फिरता
खाद बन जीवन फसल की लोक मंगल रूप धरता
हरे होते पीत ऊसर स्वस्थ हो जाती मनुजता
लाल-मिट्टी, लाल पत्थर, लाल कंकड लाल बजरी
फिर खिलेंगे ढाक के बन, फिर उठेंगी फाग कजरी ।।"

[ढाकवनी' कविता]

'एशिया का जागरण' कविता में भी कवि कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पना से जोड़कर जो कुछ कह गया है; वह भी राष्ट्रीयता का ही एक सशक्त संदर्भ है। कवि की स्वदेशानुरागमयी भावना की अवबोधक ये पंक्तियाँ देखिए :

"जन अम्बुधि की यह एक लहर आसन्न क्रान्ति की दूत हुई
लो महाशक्ति युग जीवन की जन-जीवन में संभूत हुई
देशों से उठ आया निनाद अन्तिम विराट जन संगर का
हो एक प्राण, हो एक चरण, हो एक दिशा जनता निकली
इतिहास सूर्य के अश्व मुड़े, युग जीवन ने करवट बदली
नयनों में अग्नि शिखायें हैं मुख पर मानवता का चंदन
जनता जनार्दन आज बढ़ी करने आजादी का वन्दन"

[एशिया का जागरण]

विश्वबंधुत्व और मानवतावाद

गिरिजाकुमार माथुर अपनी समस्त भावुकता, प्रेमिलता और रंग-रोमांस की प्रवृत्ति के गायक होते हुए भी प्रगतिशील कवि हैं। उनकी प्रगतिशीलता का प्रमुख आयाम विश्वबंधुत्व और मानवतावादी भावनाओं से सम्बन्धित है, वैज्ञानिक सुविधाओं के अतीव प्रसार के कारण आज राष्ट्रों की दूरी कम हो गई है और हरेक राष्ट्र अपने उत्थान और विकास के लिए दूसरे राष्ट्रों के सहयोग की अपेक्षा करता है। इसी सहयोग की भूमिका पर विश्वबंधुत्व और मानवतावाद की नींव पड़ती है। माथुर की अनेक कविताओं में हमें मानवतावादी दृष्टि का प्रसार मिलता है। संवेदनशील कवि और कलाकार भी अन्य व्यक्तियों के समान विश्वजनीन समस्याओं से प्रभावित होता है। फलतः उसके काव्य में राष्ट्रीयता और संकीर्ण दृष्टि की अपेक्षा विश्वकल्याण और विश्वबंधुत्व की भावना के रंग अधिक गहरे दिखाई देते हैं। माथुर की अनेक कविताओं में इसी विश्व मानवतावादी दृष्टि को देखा जा सकता है। साम्राज्यवाद के शोषण, पीड़ा व अनाचार ने मानवात्मा को कुचल दिया है। वह पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़ गई है। इससे कवि खिन्न होता है और

अपनी मानवतावादी दृष्टि के कारण ही कहता है : "मेरी मानवता पर रक्खा/गिरि-सा सत्ता का सिंहासन/मेरी छाती पर रक्खा हुआ साम्राज्यवाद का रक्त कलश/तेरी जंजीरों में बँधकर/कंकाल हुई मेरी काया"/कवि दमित और नष्ट संस्कृति की पुनर्स्थापना करना चाहता है और अनुभव करता है कि उसकी अन्तरात्मा में विराट संस्कृति हिलोरें ले रही है। इसी में वह एशिया के कण-कण को नयी स्फूर्ति से दीप्त देखना चाहता है। उसकी चाहत यहीं तक नहीं है; वह तो यह भी सोचता है कि "चीन से पाताल तक भूगोल सारा/एक संस्कृति डोर ने है बाँध डाला"/

माथुर के काव्य का मूल स्वर मानवतावादी है। उनके काव्य में मानव की जो तसवीर उभरी है; वह उसकी संपूर्ण सबलताओं और दुर्बलताओं से युक्त है। कवि मानव के सर्वांगीण विकास का इच्छुक है। वह समाज के दलितों, पीड़ितों और प्रताड़ितों को करुणा और सहानुभूति का जल पिलाता है और साम्राज्यवादी शक्तियों को घृणा के विष में डुबा देना चाहता है। कवि की मानवीय दृष्टि आस्था से रंजित और भविष्यधर्मी चेतना से युक्त है। वह विश्वबंधुत्व और मानवतावाद के भावों से भरकर 'धूप के धान' व शिला पंख चमकीले' संग्रहों में अपनी मानवीय भावनाओं को विविध रूपों में व्यक्त कर सका है। उसने 'माटी-मेच', रशिया का जागरण, बरफ़ का चिराग, अदन पर बमवर्षा, भोर एक लैण्डस्केप, ढाकबनी व 15 अगस्त जैसी कविताओं में अपनी मानवतावादी दृष्टि को अभिव्यक्ति प्रदान की है। मानवता के प्रसार को देखकर यदि कवि "किन्तु धरा मृत्युंजय/स्वर्ग नया पा गई सदियों के तिमिर पार/मानवता आ गई"/जैसी पंक्तियाँ लिखता है तो यह आस्थामयी अभिव्यक्ति भी करता है कि "अब युग की अँधियारी रजनी मिटने को है/जनरवि का अग्र प्रकाश चरण/अंकित हो रहा धरा के मैले आँचल पर जिसमें मानवता छिपी धूप बन सोती है"/इतना ही नहीं 'धूप के धान' संग्रह से उपरि उद्धृत पंक्तियों के अलावा और भी अनेक ऐसे सदर्भ इस कृति में आये हैं जो कवि की मानवतावादी दृष्टि के पोषक और प्रचारक हैं। अपनी मानवीय संवेदना का जल कवि ने उन अधरों तक भी पहुँचाया है जो निरीह तो हैं; किन्तु शक्ति के पुंज भी हैं। असल में कवि को कर्मरत मानव पर पूर्ण आस्था है क्योंकि वह जानता है कि मानव की निरंतर कर्मठता और प्रगतिशीलता ने ही मानवता का कमल खिलाया है। यह मानव ही है जो अपने सुखद और स्वर्णिम भविष्य को कठोर श्रम से प्राप्त कर सकता है। कवि की आस्था तो देखिए जो उसे पूर्ण मानवतावादी; मानव-मंगल का पक्षपाती और जिजीविषा का कवि प्रमाणित करती है :

> "किन्तु नहीं/मिट सका कभी न भविष्य मनुज का/
> जग का वैभव रचने वाले ज्योति मनुज का/...जीवन में जीने का बल है/
> मनु की धरती अजर उमर है/"[1]

---

1. धूप के धान : पृष्ठ 67

इतना ही नहीं कवि की मानवतावादी दृष्टि मानव के दुहरे व्यक्तित्व की बनावट को मिटाकर, संशय भय और नफ़रत के भेद भरे भावों को समूल नष्ट करती हुई जिस मानवता प्रेरित भविष्यास्था पर आकर टिक गई है वह यह है : दुहरे व्यक्तित्वों के/चेहरे कर भस्मसात, संशय भय, नफरत की/भेद झिल्लियाँ विराट/निकलेगा व्यक्ति नया/सूरज के टुकड़े सा/तोड़ अन्यायों की/शीश पर खिंची दराँत' /[1] यह ठीक है कि आज मानव अनगिनत संघर्षों की चक्की में पिस रहा है; किन्तु कवि का आस्था प्रेरित मानवतावाद जागृति और समृद्धि की लहर को घर-घर में देखना चाहता है। 'धूप का ऊन' कविता की ये पंक्तियाँ कवि के मानवतावादी दृष्टिकोण को ही स्पष्ट करती हैं—"जल रही है आग/फिर भी आज तक इन्सान भूखा/इसलिये जलते रहेंगे/उस समय तक आग को बुझने न देंगे/आयेगा जब तक न मिट्टी से उजाला/सदियों की धूप का मृदु ऊन/फैलेगा न घर-घर"/[2]

यथार्थ बोध और सामाजिक संदर्भ :

गिरिजाकुमार माथुर की प्रगतिशीलता का दूसरा आयाम सामाजिक संदर्भों की भूमिका पर प्रस्तुत यथार्थ से सम्बन्धित है। उन्होंने जीवन को नजदीकी और बारीक नजर से देखा है। वर्तमान समाज की आर्थिक, सामाजिक विषमताओं व विसंगतियों के यथार्थ चित्र माथुर की कविताओं में मिलते हैं। ग्राम्य और नगरीय परिवेश के यथार्थ व्यंजक चित्रों में कवि ने किसानों, मजदूरों और मध्यवर्गीय मानवों की जिन्दगी को उसके असली रूप में प्रस्तुत किया है। अभावों, असफलताओं, संघर्षों और कुंठाओं के बीच घिसटती जिन्दगी के यथार्थ चित्र धूप के धान, शिलापंख चमकीले और भीतरी नदी की यात्रा तक में मिलते हैं। यथार्थ बोध और सामाजिक संदर्भों के चित्रण की शुरूआत 'नाश और निर्माण' संग्रह से हो गई थी। वहाँ मध्यवर्गीय जीवन की यथार्थ तसवीरें पूरी विवशता; अभावग्रस्तता और विषमता के साथ चित्रित हुई हैं। 'मशीन का पुर्जा' कविता को ही लीजिए; उसमें उच्चवर्गीय जिन्दगी के समानांतर ही क्लर्क की दैनंदिनी को यथार्थ शैली में प्रस्तुत किया गया है। क्लर्क की जिन्दगी क्या है? मशीनी पुर्जा हो गई है। क्योंकि "शीत हवा में ठंडे सात बजे हैं/ठिठुरन से सूरज की गरमी जमी हुई है/सारा नगर लिहाफों में सिकुड़ा सोता है, पर वह मजबूरी से कँपता उठ आया है/रफू किया उसका वह स्वैटर/ तीन सर्दियाँ देख चुका है/उसका जीवन जीवनहीन मशीन बन गया"/[3] यथार्थ की व्यंजना के दौरान ही कवि ने अपनी कुछ कविताओं में मशीन की तरह काम करते हुए, फटे कपड़ों से सर्दी में ठिठुरते हुए, बगल में फाइलें दबाए वक्त पर पहुँचने की जल्दी में

1. शिला पंख चमकीले : पृष्ठ 85
2. धूप के धान : पृष्ठ 53
3. नाश और निर्माण : पृष्ठ 92-93

सड़क नापते हुए अनेक व्यक्तियों के चित्र प्रस्तुत किये हैं । मध्यवर्गीय सरकारी कर्मचारियों के अभाव भरे जीवन के चित्र माथुर की कविताओं में शुरू से ही इक्का-दुक्का मिल जाते हैं; किन्तु 'शिला पंख चमकीले' में अपेक्षाकृत इनकी संख्या अधिक है। 'शाम की धूप' कविता में मध्यवर्गीय जिन्दगी के प्रहरी बने अनेक सरकारी कर्मचारियों के चित्र मिलते हैं । सारा दिन ऑफिस में खटते रहने के बाद जब ये घर लौटते हैं तब भी इनकी फाइलें इनकी ओर आँखें गड़ाये देखती रहती हैं : "कैरियर टोकरी, हैंडिल में/कुछ के खाली कटोरदान बँधे/कुछ में हैं फाइलें हर दिन भूखी/जो न कभी खत्म हुई दफ्तर में/हैं जरा कम ही टोकरी ऐसी/जिनमें आते हैं मौसमी फल-फूल"/[1] जीवन के अभाव निरंतर बढ़ते जा रहे हैं। अतः जीवन के लिए निहायत जरूरी चीजें भी नहीं मिल पाती हैं। कवि ने इस स्थिति को यह कहकर पूरी वास्तविकता के साथ उभारा है कि 'दूध घी का यहाँ पै चर्चा क्या/ जब न चीनी गुड़, न दाल-नमक/हो गया स्वप्न किरासिन का तेल/इनका अब ख्याल है इतिहास की बात"/[2]

'नाश और निर्माण' की 'टाइफाईड' शीर्षक कविता में जो तनाव अंकित है, वह भी मध्यवर्गीय अभावों व विपन्नताओं की ही देन है। आज मध्यवर्ग दोनों ओर से पिस रहा है। एक तो वह बाहरी संघर्षों को झेल रहा है और दूसरी ओर आंतरिक 'टैन्शन' और 'हॉरर' का शिकार हो गया है। नतीजा यह कि वह 'क्रानिक मरीज' बन गया है। उसके पास न तो भीतर का विश्वास रहा है और न बाहरी शक्ति। इस स्थिति की व्यंजना 'क्रानिक मरीज' कविता में इस तरह हुई है : "अपने में लीन/किन्तु आत्मविश्वासहीन/तबियत है काँटे पर/दोष सभी रखता है/ किस्मत के माथे पर"/[3] आधुनिक युग में विकसित यांत्रिक मूल्यों के कारण मानव संवेदनाहीन होकर जी रहा है। समय से बँधा रेजगारी सा घूमता-फिरता यह इन्सान कृत्रिमता का मुलम्मा चढ़ाकर ऊपर से नीचे तक इस्पात और लोहे का हो गया है। 'शिलापंख चमकीले' और 'भीतरी नदी की यात्रा' की कुछेक कविताओं में ऐसे ही संवेदनाहीन और जीवनहीन मनुष्य का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। आज के व्यक्ति की यथार्थ स्थिति को प्रस्तुत करते हुए गिरिजाकुमार ने लिखा है : "ये पहिया जो चलता है/यंत्रधार विराट का/वह भीतर का जहर/बहुत बाहर फुफकारता है/आदमी हुआ बौना/माँस स्क्रू इस परमता का बैठ गया है बाजारू विभव/लोहे शीशे की समाधि-सा/हर कर्म, हर मकसद/नयी व्यर्थता में डूब गया/अब अक्ल और पागलपन/दोनों ही एक हैं"/[4]

1. धूप के धान : पृष्ठ 29
2. धूप के धान : पृष्ठ 31
3. शिलापंख चमकीले : पृष्ठ 22-23
4. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 52

यथार्थ बोध को वाणी देने के लिए कवि माथुर ने अपनी कुछ कविताओं में उच्च वर्ग की शान-शौकत और मध्यवर्ग की अभावभरी जिन्दगी को साथ-साथ प्रस्तुत किया है। उच्चवर्ग की शोषण वृत्ति के कारण मध्यवर्ग– निम्न मध्यवर्ग मृतप्राय हो गया है। निरंतर गरीबी, भुखमरी बीमारी सहते-सहते व्यक्ति का जीवन कुछ ऐसा हो गया है कि वह कौड़ियों के मोल बिक रहा है—अपनी मनुजता, गरिमा और सम्मान भावना को खोकर। अमीरी और गरीबी की चक्की में पिसने वाले मनुष्य की जिन्दगी त्रिशंकु की तरह हो गई है: "दो दुनियाँ के विषम शून्य में/बना त्रिशंकु आज का जीवन/ ··· इनकी मंजिल है दिनभर का संघर्ष/औ चाँदी के टुकड़े/या शरीर आत्मा की बिक्री/"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि माथुर के काव्य में सामाजिक जीवन की कटुता, विषमता और संत्रस्त स्थितियों को यथार्थपरक शैली में प्रस्तुत किया गया है। यह ठीक है कि कवि जीवन की स्थितियों का विषम से विषम चित्र प्रस्तुत कर सका है, किन्तु वह निराश-हताश कभी नहीं हुआ। समाज में समानता और सम्पन्नता आयेगी; इसका उसे पूरा विश्वास है। इसके लिए गिरिजाकुमार ने क्रान्ति का रास्ता नहीं अपनाया है; निर्माण का पथ चुना है।

समसामयिक भाव-बोध :

गिरिजाकुमार माथुर की रचनाओं में समसामयिक भाव-बोध और यथार्थ के चित्र भी बहुतायत से मिलते हैं। यद्यपि कवि माथुर नगरीय बोध के कवि हैं फिर भी उनके काव्य में लोक जीवन का यथार्थ अभिव्यक्ति पा सका है। अधिकांश शहरी जीवन किन समस्याओं से आक्रान्त है और किन परिस्थितियों में अपना जीवन बिता रहा है, उसका चित्र भी माथुर के काव्य को एक सशक्त आयाम प्रदान करता है। वर्तमान जीवन में सर्वत्र उलझनें, तनाव, मानसिक ऊहापोह; चिन्ता, निराशा और खिन्नता व्याप्त है। मनुष्य विभाजित है; उसका मन टूटा हुआ है और वह मन-मस्तिष्क से बौना हो गया है। इस स्थिति में किन जीवन मूल्यों को अपनाया जाये? यह एक गंभीर—ज्वलंत प्रश्न है। इसी समसामयिक भाव बोध को माथुर की अनेक कविताओं में देखा जा सकता है: "फैंके हुए गुलझट्टे वालों के/सेमली दिमाग में/साँप और सीढ़ी के खेल-सी/उलझी, चिती चारों तरफ/राहें की राहें हैं/ काजल के थूके हुए भाग हैं/चिराग में"/[2] वैज्ञानिक उपकरणों की तीव्रगामी प्रगति के परिणामस्वरूप परिवर्तित समसामयिक परिवेश के प्रति भी कवि की दृष्टि गई है। उसने उन तथ्यों की ओर भी दृष्टिपात किया है जो वैज्ञानिक उपलब्धि बनकर हमारे समकालीन जीवन में अपनी पहचान लेकर आये हैं। आधुनिक ड्राइंगरूम का चित्र

1. नाश और निर्माण : पृष्ठ 127
2. जो बँध नहीं सका : पृष्ठ 8

पूरे वैज्ञानिक उपकरणों से सजा हुआ देखकर यदि कवि कविता रचता है तो 'हृद्स देश' शीर्षक कविता में वह आधुनिक औद्योगिक व रासायनिक युग की स्थितियों का निरूपण करता है। वह देखता है कि एक ओर तो खानें सोना उगल रही हैं—अभ्रक, ताँबा, जस्ता, क्रोमियम, टीन, कोयला, लोहा, प्लेटिनम, युरेनियम जैसे पदार्थ दे रही हैं और दूसरी ओर मनुष्य का दिल और दिमाग भी लोहे और इस्पात का हो गया है: लोहे के दिल दिमाग हाथ इस्पात के/निरवधि समय को जो अंकों में बाँधते"/ 'भीतरी नदी की यात्रा' कविता संग्रह की 'बीसवाँ अंधकार' में भी समसामयिक भावबोध को वाणी दी गई है। उसमें पश्चिमी देशों में विकसित मशीनीकरण की प्रक्रिया के दुष्परिणामों और मानव-जीवन के रद्दी पैकेट होते जाने का निरूपण किया गया है। लोग प्रकृति से दूर चले गये हैं। प्रकृति के रम्य स्थल मशीनीकरण के कारण भयावह और त्रासद बन गये हैं। कवि ने लिखा है: "तुमने बेहिसाब चर डाले सारे सुगंध जंगल/डीफोलिएंट फ्लॉक नंगधड़ंग किये पेड़/ढोक लिया नदियों का पानी/बना लिया समुद्रों को तेल का कुआँ झीलों को गटर और पोखर/धूप पर इलेक्ट्रो प्लेटिंग/चाँदनी पर डियोडोरेण्ट वार्निश"/[1]

इलेक्ट्रोन सभ्यता के विकास ने मानव को सेण्ट्रल-हीटिंग, कम्प्यूटर, टीवी, कार, जैसी सुविधाएँ तो दे दी हैं, साथ ही मुनाफाखोरी, मर्डर, बलात्कार, भोग और कैबरे डांस की सभ्यता भी दे दी है। परिणामतः समसामयिक परिवेश विकृत हो गया है और मानव संवेदनाहीन होकर जी रहा है। उसके जीवन-मूल्य भाप बनकर उड़ गये हैं तभी तो बच्चे हर रोज बदलते पिताओं और माताओं के कारण विकृत, अव्यवस्थित और मूल्यहीन होकर जी रहे हैं। माथुर की कविताओं में इस तरह की सांकेतिक व्यंजना उन्हें समसामयिक भावबोध से जोड़ देती है। प्रेम और करुणा जैसे मूल्य समाप्त हो गये हैं, भगवान की मूर्ति श्रद्धा और धार्मिक भावना से जुड़ी नहीं रह गई है; अपितु वह तो तस्कर-व्यापार का साधन मात्र है। 'भीतरी नदी की यात्रा' संग्रह की 'सोनार देश! सलाम!' कविता समसामयिक विषय को आधार बनाकर लिखी गई है। बाँगला देश के मुक्ति-संग्राम को मिटाने की धुन में पाकिस्तानियों ने जो बर्बर, लूट-पाट और हिंसक कार्रवाहियाँ कीं, उन सभी की यथार्थ प्रस्तुति उक्त कविता में हुई है। 'खत' शीर्षक कविता में 'खत' की महत्ता प्रतिपादित की गई है और इस तरह समसामयिक भावबोध को इस सीमा तक स्वीकारा गया है—"खत घरु संवाददाता है/ हर घर में निजी सुख-दुख की कहानी/लिए आता है/मगर मन चाहता है/वह जभी आए/हँसी आये/खुशी लाए"/[2]

1. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 65
2. शिला पंख चमकीले : पृष्ठ 28

लोक जीवन :

सामान्यतः गिरिजाकुमार नगरीय बोध के कवि हैं; किन्तु कहीं-कहीं उनकी दृष्टि लोक जीवन की ओर भी गई है। अपनी कतिपय कविताओं में उन्होंने ग्राम्य परिवेश; वहाँ के जीवन, रहन-सहन, आस्था और विश्वासों को भी शब्दबद्ध किया है। अनेक लोक प्रचलित प्राचीन कथाओं को नया रूप प्रदान किया गया है। 'दियाधरी' और ढाकवनी' कविताएँ इसका प्रमाण हैं। माथुर के कवि हृदय की पहुँच ग्राम्य परिवेश की उस सभी जिन्दगी की ओर गई है जहाँ साप्ताहिक हाट के लिए बैलगाड़ियों में आते इन्सानों का दृश्य है : "विध्या के ऊँचे टीलों से घिरे देश में आकर/वन हो गया और भी श्यामल/ऊँची झाड़-झंखाड़ बीच/मेरा छोटा गाँव बसा है/...... वहीं हरेक सनीचर के दिन/हाट लगा करती है/दूर-दूर के गाँवों के नर नारी आते/अपनी बैलगाड़ियाँ लेकर"/[1] ढाकवनी' कविता में ग्रामीण सस्कृति, रहन-सहन और नित्यप्रति के उपयोग की वस्तुओं का अंकन कुछ इस तरह किया गया है कि ग्रामीणों का जीवन पूरी सच्चाई साथ प्रकट हो गया है। उदाहरणार्थ—

> "बीच पेड़ों की कटन में, हैं पड़े दो चार छप्पर
> हाडियाँ, माचिया, कठौते, लट्ठ, गूदड़, बैल, बक्खर
> राख, गोबर चरी चोगुन, लेज, रस्सी हल कुल्हाड़ी
> सूत की मोटी फतोई, चका हँसिया और गाड़ी"[2]

इतना ही नहीं कवि आगे यह भी कह गया है कि ग्रामीणों का जीवन भिखारी बन गया है। इस जीवन पर भूख की मनहूस छाया पड़ी हुई है। 'दियाधरी' कविता में भी माथुर ने मालव प्लेटों की उत्तरी सीमा पर स्थित गाँव में प्रचलित लोककथा का नवीनीकरण किया है/ग्रामीणों के अंधविश्वासों तक को मूर्तित करते हुए माथुर ने अपनी लोक चेतना का परिचय दिया है : "हर टीवे का एक देव/हर दवी पुरी पर चौतरा/हर पाताल बावड़ी रमते/राजा-रानी अप्सरा/चरवाहों का हर पत्थर/सिंहासन विक्रम भान का/रातों होता न्याय/भोर पहरा पड़ता सुनसान का"/[3] इस तरह स्पष्ट है कि गिरिजाकुमार की कतिपय कविताएँ लोक जीवन के रंगों, विश्वासों और मान्यताओं से अनुरंजित हैं; किन्तु वे संख्या में अत्यल्प हैं।

अन्य विशेषताएँ :

नयी कविता के प्रमुख कवि होने के कारण गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में

1. नाश और निर्माण : पृष्ठ 69-70
2. धूप के धान : पृष्ठ 98
3. शिला पंख चमकीले : पृष्ठ 8

कतिपय ऐसी प्रवृत्तियों का भी विकास हुआ है जो नयी कविता में अपनी अहमियत रखती हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में लघु मानव की प्रतिष्ठा, क्षण बोध; समष्टि प्रेरित व्यक्ति चेतना, अनुभूति का खरापन, यथार्थ बोध, वैज्ञानिक बोध, आस्था; जिजीविषा, सांस्कृतिक बोध और आधुनिक बोध आदि को प्रमुखता प्राप्त है। ये सभी प्रवृत्तियाँ कमोवेश रूप में गिरिजाकुमार के काव्य में भी मिलती हैं। धूप के धान से लेकर भीतर नदी की यात्रा तक में इन प्रवृत्तियों का अन्तर्भावन हुआ है। आज का कवि क्षणों में जीता है। वह किसी भी पल को हाथ से बेकार नहीं जाने देता है। वह चाहता है कि हर पल को उसकी समग्रता में जीकर ही जीवन सार्थकता पा सकता है। गिरिजाकुमार भी इसके अपवाद नहीं है। उन्होंने अपनी 'चन्दरिमा' जैसी कविताओं में अपनी क्षणानुभूति को यों व्यक्त किया है : "यह झकाझक रात/चाँदनी उजली कि सुई में पिरो लो ताग/चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग/......चाँद पूरा साफ/आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल/यह नहीं चेहरा तुम्हारा/गोल पूनम सा/ माँसल चिकने तन का/क्योंकि यह तो सामने ही दिख रहा है"/[1] ऐसी ही क्षणानुभूति का बिम्ब उस कविता में भी है जिसमें सन्ध्या समय दफ्तर से लौटते हुए बाबूओं की स्थिति निरूपित हुई है। 'रात का हेयर पिन' कविता भी कवि की क्षणानुभूति को स्पष्ट करती है : "किशमिसी ऊन की/बाँहदार याद में/लोकचित्र के गहरे रंग सा/ एक काँटेदार ऊष्म क्षण/लम्बा हो अटका है" /[2] प्रेम भावना की ऊष्मा का अनुभव कवि ने जिस क्षण विशेष में किया है; उसकी व्यंजना 'भीतरी नदी की यात्रा' संग्रह की 'देह छवि' कविता में मिलती है :

"पीठ किये
जब तक पास खड़ी रहीं
लगती रही आँच-सी
मुड़कर जब देख उछटते हुए
कूद गया मन बाहर
भरकर छलाँग-सी।"[3]

लघु मानव की प्रतिष्ठा नयी कविता का प्रमुख स्वर है। व्यक्ति की लघुता ही उसे महत्ता प्रदान कर सकती है। इसीलिये गिरिजाकुमार माथुर ने अपनी कविताओं में लघु-मानव की प्रतिष्ठा की है। 'अर्द्ध आधुनिकों की बातचीत' कविता के माध्यम से कवि ने मानव के सही रूप को चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

1. धूप के धान : पृष्ठ 88
2. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 23
3. भीतरी नदी की यात्रा : पृष्ठ 13

उन्होंने विषम सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रिया स्वरूप मनुष्य की स्थिति रेजगारी की तरह बताई है। इसके साथ ही उन्होंने आज के लघु मानव की स्थिति का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

हम सब बौने है
मन से मस्तिष्क से भी
भावना से चेतना से
बुद्धि से विवेक से भी
क्योंकि हम जन हैं
साधारण हैं हम नहीं है विशिष्ट ।"[1]

कवि माथुर का दृष्टिकोण लघु मानव की प्रतिष्ठा की ओर अधिक रहा है। आधुनिक मानव की स्थिति-परिस्थिति और नियति को कम से कम शब्दों में आबद्ध करता हुआ माथुर का कवि कह गया है—

विकृत हो गये है सभी मूल्यमान
सिर्फ घूमता है
रेजगारी सा इन्सान ।"[2]

उन्होंने अपनी अनेक कविताओं में जिस व्यक्ति चेतना को अभिव्यक्ति दी है वह समष्टि से प्रेरित है। उसमें व्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक जीवन भी पूरी तरह अभिव्यक्ति पा गया है। अनुभूति का खरापन नई कविता का उल्लेखनीय संदर्भ है। जो माथुर के काव्य में भी देखा जा सकता है। कवि ने अपने व्यक्तित्व द्वारा भोगे हुये सत्य को अनुभूति की प्रामाणिकता के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने न तो छायावाद की तरह जीवन की कोमल और सुखात्मक अनुभूतियों को ही प्रस्तुत किया है और न प्रगतिवादियों की तरह जीवन के दुःख-दर्द को ही अभिव्यक्त किया है। उन्होंने तो सुख और दुःख अर्थात् जीवन के राग-संघर्ष और इनसे मिलकर बनी जीवन की सच्चाइयों को ही काव्य में रूपाकार प्रदान किया है। नया बसंत' 'रेडियम की छाया', 'चूड़ी का टुकड़ा' और 'मशीन का पुर्जा' जैसी कविताओं में कवि की अनुभूति की प्रामाणिकता को देखा जा सकता है। जीवन के रागात्मक पक्ष से सम्बन्धित और संघर्ष व समस्याओं से आक्रान्त जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ माथुर के काव्य में अभिव्यक्त हुई हैं।

---

1. जो बँध नहीं सका—पृष्ठ 9
2 वही, पृष्ठ 30

संपूर्ण सामाजिक विषमताओं, भयावहताओं और अभिशापों से ग्रस्त जीवन का रस पीकर भी कवि माथुर आस्था, विश्वास और मंगल-भावना के कवि हैं। उनके प्रारम्भिक काव्य में जैसी आस्था है, वैसी ही आस्था और मंगलवादी भावना उनकी बाद की रचनाओं में भी देखने को मिलती हैं। उन्होंने स्वयं नयी कविता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "नयी कविता की नजर अतीत की श्यामलता और वर्तमान के संघर्ष से आगे भविष्य पर टिकी है। जीवन की संघर्षमय कटुता के बीच भारतीय आदर्शानुसार उसकी आशा की लौ निष्कंप है क्योंकि उसे विश्वास है कि आज चाहे जो स्थिति हो मानवता का भविष्य कल्याणमय है और वह हर अमंगल शक्ति पर निश्चित रूप से विजय प्राप्त कर लेगा।" मंगल भविष्याख्या से प्रेरित होकर कवि ने लिखा है—

'नई उषा आ रही
शोकमय एक समूची आदि कौम पर
नई उषा आ रही
सैकड़ों साल बाद इन पिरामिड़ों पर।"[1]

इसी प्रकार अपनी आस्था की स्पष्ट उद्घोषणा करता हुआ कवि कहता

"मैंने कहा नियति से
सब खत्म कर दे
लूट ले
एक मेरी आस्था
विश्वास रहने दे।"[2]

सामान्यतः धर्म-दर्शन, नीति और संस्कृति आदि जीवन के उच्च मूल्यों में नये कवि की आस्था बहुत कम है; किन्तु माथुर का काव्य इसका अपवाद है। उन्होंने नवीनता के मोह में इन सभी तत्वों की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों को नये अर्थ प्रदान किये हैं और पौराणिक पात्रों के माध्यम से समसामयिक जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। मानवतावादी कवि होने के नाते माथुर ने एक सार्वभौम सत्य की प्रतीति करायी है। उनका इतिहास बोध भी गहन है। 'जो बँध नहीं सका' काव्य-संग्रह में इतिहास शीर्षक से जो कवितायें संकलित हैं उनमें इतिहास के प्रति उनके नये दृष्टिकोण को देखा जा सकता है। उन्होंने इतिहास

1. शिला पंख चमकीले : पृ 60.
2. शिला पंख चमकीले : पृ. 81.

को अन्धा, बहरा, लँगड़ा व गूँगा चित्रित किया है। अनेक ऐतिहासिक विकृतियाँ और अमानवीय व्यवहार उनकी कविताओं में व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्त हुए हैं। जय और पराजय तो आदिम न्याय का दाय है। अतः यह कहना बेमानी है कि जो जीत जाता है वही शिव और सही है तथा हार जाने वाला अशिव है।

काव्य-शिल्प :

काव्य-शिल्प से सामान्यतः अभिव्यंजना की पद्धति विशेष और उस अनुक्रम से लिया जाता है जो रचना के प्रारम्भ से अन्त तक कुछ विशिष्ट तत्वों के माध्यम से शिल्पमूर्त किया जाता है। वस्तुतः शिल्प कृति विशेष की उन प्रमुखताओं का लेखा-जोखा है जिनके सहारे रचना मूर्त होती है। इन प्रमुखताओं अथवा अभिव्यंजना के माध्यमों में भाषा, अप्रस्तुत, प्रतीक बिम्ब और छंद आदि प्रमुख हैं। इन्हीं के योग से शिल्प का निर्माण होता है। नयी कविता का शिल्प न केवल नया है; अपितु विशिष्ट और मौलिक भी है। प्रायः सभी प्रमुख नये कवियों ने अपने काव्य-शिल्प के प्रयोग में सतर्कता बरती है; उसे विशिष्ट बनाने का प्रयास किया है। फिर गिरिजाकुमार तो नयी कविता के विशिष्ट हस्ताक्षर हैं। अतः उनकी कविताओं के शिल्प का संतुलित, उपयुक्त और विशिष्ट होना स्वाभाविक भी है और अनिवार्य भी।

भाषा :

काव्य-शिल्प के उपादानों में प्राथमिक उपकरण भाषा है। भाषा अभिव्यक्ति की प्राणशक्ति का दूसरा नाम है। गिरिजाकुमार की भाषा नयी कविता की भाषा है। उसमें सरलता, सादगी होते हुए भी विशिष्टता है। उन्होंने शब्दों को न केवल नये अर्थ दिये हैं, अपितु नये शब्दों का निर्माण भी किया है। विषय, प्रसंग, भाव और अनुभूति के अनुकूल भाषा का प्रयोग माथुर के काव्य की रेखांकित योग्य विशेषता है। उन्होंने साधारण बोलचाल के शब्दों के प्रयोग से भाषा को शक्ति प्रदान की है। इतना ही नहीं शब्दों की ध्वन्यात्मकता और लयात्मकता को भी यथासंभव सुरक्षित रखा गया है। माथुर ने न केवल नये शब्दों का निर्माण किया है; अपितु पुराने शब्दों को संस्कारित भी किया है—प्रचलित अर्थ की अपेक्षा नया अर्थ भी भरा गया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि 'रचनाकार की विचारधारा यदि स्पष्ट नहीं है तो उसकी अभिव्यंजना के उपकरण भाषा, प्रतीक, उपमान अपने आप अस्वाभाविक, अधूरे, खण्डित और रूप-व्यक्तित्व विहीन होंगे। भाषा जानबूझ कर बिगाड़ी या गढ़ी हुई होगी तो उसका व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध न होगा'[1]। माथुर साहब की कविताओं की भाषा विषय, भाव और संदर्भ सापेक्षता लिये हुए है। यही वजह है कि रोमानी कविताओं में प्रयुक्त शब्दावली कोमल, मधुर और अतिमधुर है। ऐसे

1. धूप के धानः भूमिका से।

स्थलों पर उन्होंने छोटी और मादक-मधुर ध्वनि वाले बोलचाल की भाषा के शब्दों को प्रयोगा है तो क्लासिकल कविताओं में बड़ी लम्बी और गंभीरध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है। कवि ने शब्दों की ध्वन्यात्मकता और लयात्मकता का ध्यान भी रखा है तो आवश्यकतानुसार बोलचाल की शब्दावली को भी अपनाया है।

सामान्यतः माथुर के प्रारम्भिक काव्य की भाषा तत्सम शब्दावली से युक्त है। 'धूप के धान' में भी जहाँ एक ओर तत्सम शब्द-प्रयोग की स्थिति है तो दूसरी ओर साधारण बोलचाल की व स्वनिर्मित शब्दावली का प्रयोग भी किया गया है। 'शिला पंख चमकीले' से उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल, सीधी, स्पष्ट और अकृत्रिम होती गई है। यह वह संग्रह है जिसमें कवि ने भाषा की बाहरी सजावट की अपेक्षा उसकी संवेदना-शक्ति को अधिक उभारा है। 'शिला पंख चमकीले' की भाषा की सादगी और सरलता को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है : "ईंट लाल होती ज्यों/आँवे में तपने से/मूर्ति यह पकेगी संघर्ष में झुलसने से/निखरेगा अन्तरंग अब नई आएगी / कच्चा मन थिर होगा / आँचों में तपने से"[1] भाषा की यही सादगी और सरलता उनके 'जो बँध नहीं सका' और 'भीतरी नदी की यात्रा' संग्रहों में आद्यन्त व्याप्त है। इन दोनों संग्रहों से एक-एक उदाहरण लिया जा सकता है : "मैंने देखा—में एक भूकम्प दबे नगर के नीचे फिरता हूँ/घबराया हुआ/जहाँ हर तरफ टूटे/ मुँदे दरवाजे हैं/मलबे भरी गैलरियाँ हैं/भयराये बरामदे/डगमगाते कटे-फटे खंभे हैं हर कदम पर/टुण्डी बुच्ची सीढ़ियों के ढ़ेर हैं/ जिन पर टटोल कर/मैं आस-भरा चढ़ता हूँ/और हर बार/ठोस जमी छत से टकराता हूँ"/[2] इसी क्रम में ये पंक्तियाँ भी पढ़िये और कवि की सरल और सादगी युक्त भाषा का अनुमान लगाइये। कवि ने लिखा है : "लगता है अब हर बात से/बड़ा अर्थ कोई कट गया है/ लगता है एकबारगी/ सबकुछ ही गलत हो गया है। जैसे फूल को फूल कहने से हिचकना/पूरी बात में से/कुछ थोड़ी बात बचा रखना/साफ कहने में कुछ इस तरह कतराना/मानो कर रहे हों आप/कोई काम मुजरिमाना/"[3]

गिरिजाकुमार की भाषा में तत्सम, तदभव, बोलचाल की भाषा, उर्दू-फारसी और अंग्रेजी तक की शब्दावली का प्रयोग बड़े कौशल से किया गया है।' तत्सम और परिष्कृत शब्दावली के कुछ प्रयोग ये हैं: सुरभित, शरत्, स्वस्थ, स्नेह-दीपित, शशि-किरण, शुभाशंसा, पीत, मीत, म्लान, धरा, प्रवासी, कुसुमित, मृणाल, रंजित, रक्तिम, दिवलोक, पाषाण, मंत्र-मुग्ध, परिणतियाँ; सूत्रपात,

1. शिलापंख चमकीले : पृष्ठ 84
2. जो बँध नहीं सका: पृष्ठ 6–7
3. भीतरी नदी की यात्रा: पृष्ठ 40

रूपनिबद्ध, झंझावात, द्विविधा, वर्तिका, विक्षत, पलाश, आसन्न-क्रान्ति, मृदु गृहिणी, संवाददाता, प्रशस्त, स्वस्तिक, वत्सल, आतुर हिरण्यगर्भ, कालान्तर, प्रवहमान, जीवन्मृत, जन-मंथन, ममता, उत्सव, निर्वासित, कंकाल, संदर्भहीन, मुक्ति-स्वप्न, अन्तर्शून्य, षडयंत्र, मित्रघात, अनुमानित, परानुभूत दृश्य, ऊष्म-क्षण, धर्मान्धता, जघन्य, वानविकृति, सौमित्र-रेख, कल्प, पद्धति, संकल्प-शमी, शिरस्त्राण और सोनविद्युत का वलय आदि। इसी प्रकार कवि ने तद्भव शब्दों को भी पूरा प्यार दिया है तभी तो उनकी कविताओं ऐसे शब्दों को प्रवेश की खासी छूट दी गई हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द लीजिए : सूरज, सूती, दूज, सुनहली, साँझ, सुधि, पंछी, दिया-बत्ती, धरती, माटी, सीध, कामकाज, पहरूए, सुन्न, कान, पात, हाड़ पिया, कड़वी, बूरी, रैन, मैन पाँख, बंजारा, लेज, रस्सी, चका, सरीखी, गीरी, पूसा, नींद, सेज, राख, बीज, गैल, कारन, आँवली, स्याह, आँगन, काठ-कठम्मर, अटारी, निसई, छतरी, जिन्न, चुड़ैल, परेत, सुन्न, बाँचना और पियराने, दोज, पाख व धौरे आदि।

अपनी अनुभूतियों को अधिकाधिक संप्रेष्य बनाने के लिए गिरिजाकुमार ने बोलचाल के देशज शब्दों का प्रयोग भी खुलकर किया है। स्वयं कवि ने ऐसे शब्दों की एक विस्तृत सूची दी है। वस्तुतः माथुर ने अपनी भाषा में साधारण शब्दों के द्वारा ही विशिष्ट अर्थ भरने की सफल कोशिश की है। कुछ देशज शब्द प्रयोग इस प्रकार है—सिलवट, मिठास, चबी चबाई, डाँग, फाग, कजरी, कठला, खंजरी, बीहड़, गन्ना, गोफन, परिया, हुलकी, रूँद, रात, गुपचुप, फरोई, हँसिया, झँकरिया; रागोली, सतिए, सुरमीली, गरमीली डुगर, पथराये, भूरे भूरे पेड़ हौले से, खिसक चली, बासी सनसनाती, कठला छुवन, उकसन, बोदा पोला, लुगड़ा, खरैरी, खरैटी, खख, सनोरी, पचरोज, आँस, बौर, काँवर, दाभ, समई, सिमैयाँ, अलोप, निसई, तूपे, हठरी, ठठरी, चकमक, भुरे, समूम और गागा आदि। गिरिजा कुमार की भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी बहुतायत से हुआ है : इन्सान सूली, जिन्दा मुहर तूफान, मंजिल, बरफ, याद दीगर, गवाही, मासूम, मनहूस, कोशिश, बेहोश, जानवर, मजा, रूख, नीयत, किस्मत, कुफ, कब्र: जंगी, दफ्तर, ईमान, दिवाला हजूम, खत, बादे, लबादे, सब्जबाग, जिन्दगी, कागज, चिन्दी, लिहाफ उम्र, तश्तरी, सदियाँ, नजर, दिल, दिमाग, खबर, खतरनाक और मसाल आदि। अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग कवि ने अपनी परवर्ती रचनाओं में अधिक किया है। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जो रोजमर्रा की जिन्दगी में काम में आते रहते हैं। यथा: एक्सप्रेस, ट्रेन, सिल्क क्रॉस, टीन, पेकिट, केटली, टेबुल, चेयर, ईजी, शेव, कफ, बटन, कोकोज, पार्क लॉन, क्रीम, सैन्ट, रोमांस, सिल्वर, तिल्क, फॉल, किरासिन, साइकिल, टयूब ब्रुथ, कैरियर, फायल, स्लेट, आर्ट पेपर, कंकरीट और टेडियम आदि। इसके अतिरिक्त माथुर ने कुछ ऐसे अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी किया है जो

व्यवहार में कम आते हैं। ऐसे शब्द 'भीतरी नदी की यात्रा और 'जो बँध नहीं सका' में अपेक्षाकृत अधिक हैं। कुछ प्रयोग सीलिंग-सिवर्टी, मेन्टल-हीटिंग, कम्प्यूटर, डीफोलिएट, इलेक्ट्रो प्लेटिंग, डियोडोरेण्ट, एसबैस्टस, सुपरसोनिक, स्टेराइल, डिम-इन-फ्लेक्टेड, थ्रिलर, क्रिस्टल, शैम्पेन, सिम्फनी, कमेण्ट, ड्रेगन प्रिज्म, स्लीवलेस, गेलेक्सीन, मीडीयोकट और क्रोमोमियम, प्लेटोनियम, स्फिंक्स आदि सैकड़ों शब्द प्रयुक्त हुए है,

शब्द निर्माण की प्रवृत्ति भी गिरिजाकुमार के काव्य में मिलती है। स्वनिर्मित नये शब्दों में वैसंदर (यज्ञ की अग्नि) पंक्ति चालन (रेजीमेन्टेशन) अतिमांत (आत्यंतिक के अर्थ में) भूमानी (पृथ्वी की आभा) चंदरिमा (चन्द्रमा की आभा) मटीली (मिट्टी के रंग की, समूम (अत्यंत गर्म रेगिस्तानी हवाएँ) और पेचरोल आदि को लिया जा सकता है। 'पंचरोल' हिन्दी 'पेच' और 'रोल' अँग्रेजी के योग से बनाया गया है। कुछ वैज्ञानिक शब्दों का निर्माण भी किया गया है: ज्वालरज (अणु-विस्फोट) नागछत्र (धूमबादल के अर्थ में) स्पर्श-भरी (डैलीकेट) आदि। कवि के विशेषण प्रयोग भी आकर्षक बन पड़े हैं। विशेषणों का प्रयोग माथुर के काव्य में दो रूपों में हुआ है—क्रियाओं से निर्मित विशेषण रूप और रंग के अव-बोधक बनकर आये हैं: 'यह थकी, अनमनी, सुनहरी धूप' 'मोरपंखी रात', 'नरम नखूनी रंग धुले आकाश में' आदि में थकी, अनमनी, सुनहरी, मोरपंखी, नरमनखूनी आदि एन्द्रिय आकर्षण से युक्त विशेषण हैं। कुछ गंध संवेदन से सम्बन्धित विशेषण और स्पर्श-संवेद्य विशेषण भी माथुर ने प्रयोग में लिये है—'हवा बहती कटीली', 'हिमानी रात' और 'सौंधे तन गंध भरे आँचल,' 'इस धूसर सांवल धरती की सौंधी उसांस' आदि इसी प्रकार के विशेषण हैं।

लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से कवि की भाषा में प्रेषणीयता और व्यंजकता की मात्रा बढ़ जाती हैं। लोक जीवन की अनुभूतियों का सार्थवाह कवि अपनी भाषा में इनका प्रयोग करता है। माथुर ने भी अपनी भाषिक शक्ति के लिए मुहावरों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों से गिरिजाकुमार की भाषा प्रभावी कथनों उक्ति वैचित्र्य और अर्थ-गौरव से युक्त हो गई है। कतिपय प्रयोग देखिए—जीभ हिलाना, तसवीरों का तिरना, मुहर लगना, मीठी रातों का निकल जाना, हवाइयाँ उड़ाना, खिल्ली उड़ाना, ठोकर पर ठोकर खाना, हृदय का बरफ बन जाना, भावों का पथराना, सूनी साँझ का सनसनाना, दमसाधे खड़े रहना, नक्श मिटना, बदरंग चेहरा होना, लोहे की दीवार का पिघलना, काला नाग पालना, सपनों में बसना; खाली हाथ बैठना, तन-मन की भूख मिटना, जिन्दगी की पियरी केसर का चुकना और सब्ज बाग दिखाना आदि अनेक प्रयोग ऐसे है जिनसे अभिव्यक्ति प्रभावी; व्यंजक और उक्ति वक्रता से युक्त हो गई है। इस प्रकार कह सकते हैं कि गिरिजा-कुमार माथुर की भाषा नयी कविता की भाषा है। शब्द प्रयोगों में कवि पर्याप्त

प्रजातांत्रिक रहा है। उसने समय, परिस्थिति, प्रसंग और भाव के अनुकूल अपनी भाषा का मिजाज बदल लिया है। उनकी भाषा की प्राणद चेतना ने अनुभूतियों को जो आधार दिया है वह नयी कविता के भाषिक इतिहास में सदैव याद किया जायेगा।

अप्रस्तुत-विधान :

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-शिल्प में उनके द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुतों का भी विशेष स्थान है। कवि ने अप्रस्तुतों के चयन में अपनी नवीन, मौलिक और यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। इनके अप्रस्तुत भावोपम, अर्थगर्भित, मौलिक और नवीन हैं। उल्लेख्य तथ्य यह है कि कवि माथुर ने अप्रस्तुतों का चयन किया है, बिना सोचे समझे उन्हें जहाँ-तहाँ से इकट्ठे भर नहीं किया है। ये उपमान धर्म, संस्कृति कला, संगीत, साहित्य, जीवन और प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण से लिये गये हैं। वर्ण्य भाव को मूर्तित कर आस्वाद्य बनाने वाले ये अप्रस्तुत कवि की व्यापक जीवन-दृष्टि और गहन संसिक्ति को प्रकट करते हैं। कतिपय उदाहरण देखिए : (1) गालों की मोटाई जैसा यह पतझर का मौसम आया (2) देह पड़ी रह जाती खोखले लिफाफे सी (3) दर्द औ उदासी वह सूने प्लेटफार्म सी (4) टूटती वाणी अकेली ज्यों अकेली लहर पाकर (5) टूटी हुई देह सी टूटी फूटी बेंचे (6) विंध्या की चट्टानों सा है कठोर (7) छत सी खुली हुई छाती (8) उजली बाँहों सी दीवारें (9) आदमी हो ठीकरे सा (10) आईनों से गाँव होते (11) वह दुख तो कागज सा हल्का है (12) समीर हेमंत की लम्बी लहर सी (13) कामिनी सी ज्यों लिपटकर सो गई है रात यह हेमंत की (14) चाँद पूरा साफ आर्टपेपर ज्यों कटा हो गोल (15) ऊन सी यह धूप की गरमी मुलायम (15) आयु भावना की मत्स्यगंधा सी जवान रहे (17) वत्सल छाती सी पहाडियाँ (18) खत हवा की लहर-सा आजाद है (19) बच्चे सा सूरज (20) चोटी ऊपर दिया चमकता माथे कुंदन बोर सा (21) सतिये-सी मंजिल (22) शुतुरमुर्ग के श्वेत परों सी मुक्ति धूप साँवर गाँवों पर (23) खत कमल की पंखुरी पर लिखा गीत शकुन्तला का है (24) रूँधी हुई छाती-सा सूनापन आदि कितने ही उदाहरण दिये जा सकते है जो कवि की मौलिकता के गवाह भी है और सही अर्थ-प्रेषण के लिए लाये गये औचित्य-पूर्ण प्रयोग भी/उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, मानवीकरण और विशेषण विपर्यय अलंकारों का प्रयोग भी भावोत्कर्ष में सहायक हुआ है।

रूपक प्रयोगों की दृष्टि से ये उदाहरण देखिए : एशिया के कमल पर; पश्चिम के गोधूल गगन से रण की काली आँधी आई; बीत गया संगीत प्यार का; रूठ गई कविता सी मन की; ओढ़ कर रंगीन वादों के लबादे; जीवन की भट्टी में गल जायेंगे खोटे सिक्के सारे मन के; मनके विश्वास का यह सोनचक्र; जीवन की पियरी केसर बीती बातों के ध्रुवतारे और जिसे समय का दीमक काट नहीं पाया

आदि। इसी प्रकार 'उम्र रहे झलमल ज्यों सूरज की तश्तरी में आई ग्रलकृति भी बेमिसाल है। कतिपय सफल मानवीकरण देखिए—'करवट ले रही घास ऊँची', प्रश्नचिह्न बन खड़ी हो गई यह सिमटी सीमाएँ; हाड़ टूटे देह कुबड़ी/चुप पड़ी है गैल बूढ़ी; छोटा-सा यह नगर सो रहा/ठंडे गाल लिए गोरे बालकसा और स्लीवलेस बिलाउज पहने/छरहरी चाँदनी/जैसे प्रयोगों को सफल कहा जा सकता है। 'वशी में अब नींद भरी है: स्वर पर पीत साँझ उतरी है: घरों में सुनसान आलम ऊँघता है' और 'सुप्त निशा का सूनापन' जैसे प्रयोगों में विशेषण विपर्यय की छटा देखी जा सकती है तो 'सनसनाती साँझ' 'उम्र रहे झलमल; 'यह झकाझक रात' और 'झनकता बीहड़' में ध्वन्यर्थव्यंजना अलंकार प्रभावी बिम्ब लेकर आया है। कुल मिलाकर यही कि गिरिजाकुमार का अप्रस्तुत-विधान मौलिक, सटीक, व ताजगी भरा और औचित्यपूर्ण है। यही कारण है कि इन प्रयोगों से उक्ति में लौष्ठव और शैली में चारुता, सद्यता और भाषा में अर्थवत्ता का समावेश हो गया है।

प्रतीक विधान:

प्रतीकों की दृष्टि से देखें तो गिरिजाकुमार के काव्य में सांस्कृतिक, पौराणिक, प्राकृतिक वैज्ञानिक यौन प्रतीक ऐतिहासिक प्रतीक और युगीन बोध से प्रेरित प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। इनमें कुछ प्रतीन तो ऐसे हैं जो परम्परागत हैं और कुछ ऐसे हैं जो नवीन और कवि की प्रयोगशील वृत्ति के निरूपक हैं। सांस्कृतिक प्रतीकों में मनु, बुद्ध, राम, रावण, नांदि कार्तिकेय अज, शिव गणेश और हिमालय जैसे प्रतीकों को स्थान प्राप्त है। पौराणिक प्रतीकों के सहारे कवि ने समकालीन बोध को वाणी दी है। असुर संस्कृति से वर्तमान हिंसक शक्तियों: संपाती से मिथ्याभिमान और सीमित शक्ति का; कंस और दुर्योधन से आसुरी वृत्तियों का, राम, कृष्ण और गौतम से सात्विक वृत्तियों का; सौमित्र रेखा से दृढ़ता व अखण्डता का और मारीच से छल-छद्म का प्रतीकार्थ ग्रहण किया गया है। कतिपय वैज्ञानिक प्रतीक भी कवि ने अपनाये हैं। 'अणु' को संहारक शक्ति का प्रतीक बनाया गया है। 'आग, फूल और पहिये' कवितायें गेस, भाप, स्टीमर, बारूद और गोले सभी विध्वंसक शक्तियों के प्रतीक बनकर आये हैं। पाशविक शक्तियों के प्रतीक रूप में चगेज खाँ, नीरो, सीजर और तैमूर जैसे ऐतिहासिक चरित्रों से काम लिया गया है। इन प्रतीकों के अतिरिक्त माथुर ने कतिपय यौन प्रतीकों का प्रयोग भी किया है। रेडियम की छाया; चूड़ी का टुकड़ा, पिजोर वाटिका जैसी कविताओं में यौन प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ये प्रतीक मिलनातुरता; मिलन; आलिंगन आदि भावों का अर्थ वहन करते है। यौन प्रतीकों के साथ ही प्राकृतिक प्रतीक भी महत्व रखते हैं। ऐसे प्रतीकों में ओसकन (पवित्र स्मृति) मधुवन (उल्लसित यौवन), पूनो (प्यार) तारे (क्षणिक आकांक्षाएँ) प्रथम दूज (पहली आभा) उपवन (प्रणय-संसार) कमलवन (प्रेमिल-दुनियाँ) और पीत साँझ (कुंठित और विषाद भावना)

आदि को लिया जा सकता है। अंततः यही कह सकते हैं कि माथुर के काव्य में प्रतीकों का अक्षय घट है। उसमें आये प्रतीक कवि-भावनाओं; सामाजिक जीवन की स्थिति-परिस्थिति और प्रेमिल मनोभावों को व्यक्त करते है। प्रतीकों के सही प्रयोग से गिरिजाकुमार की कविताएँ प्रेषणीयता; अर्थवत्ता और उक्ति-सौष्ठव से युक्त हो गई हैं।

बिम्ब-विधान :

बिम्ब काव्य का अनिवार्य उपादान है। बिम्ब से तात्पर्य उस कल्पना शक्ति के मूर्तीकरण से है जो वर्ण्य विषय, दृश्य और भाव को पाठकों की आँखों में उतारती हुई हृदय में भी उतार दे। नयी कविता बिम्ब प्रयोगों की दृष्टि से न केवल समृद्ध हैं, अपितु विशिष्ट और अर्थ संयुक्त भी है। गिरिजाकुमार के काव्य में बिम्बों की योजना बड़े पैमाने पर हुई है। अपने रोमानी स्वभाव के कारण माथुर ने भाव-सौन्दर्य परक और ऐन्द्रिय संवेदनों पर आधारित बिम्बों का प्रयोग तो किया ही है; वस्तु बिम्ब; अलकृत बिम्ब और सश्लिष्ट बिम्बों की योजना भी की है। बिम्बों के प्रयोग से गिरिजाकुमार के काव्य में वर्णित विषय ही सहज प्रेषणीय हो गये हैं; अनुभूतियाँ मूर्तित होती गई हैं और अनेक मनोवेग विविध जीवन व्यापार अपनी समस्त छवियों के साथ चित्रित हुए है। वस्तुतः विम्बों के क्षेत्र में माथुर अन्य नये कवियों की तुलना में विशिष्ट और सर्वोपरि ठहरते हैं। उनके बिम्बों में जो बँधाव है; जो गति, प्रवाह और औचित्य है; वह न तो भारती के बिम्बों मैं है और न अज्ञेय के बिम्बों में ही है। कतिपय उदाहरणों से इस कथन की सत्यता परीक्षित हो सकती है।

वस्तु बिम्ब :

"बीच पेड़ों की कटन में/हैं पड़े दो चार छप्पर/हाँडियाँ, माचिया, कठौते/लट्ठ, गूदड़, बैल वक्खर/राख गोबर, चरी चौगुन/लेज रस्सी हल कुल्हाड़ी/सूत की मोटी फतोई/चका, हँसिया और गाड़ी/धुंआ कंडों का सुलगता/भौंकता कुत्ता शिकारी"। [धूप के धान से]

व्यापार बिम्ब :

"लालिमा साँझ की सिमट सारी/जारही सँवलते मैदानों से/जैसे घर लौटती किसान-बहू/काम दिन भर का करके खेतों से/लाल मुँह हो रहा है मेहनत से/" [धूप के धान से]

अलंकृत बिम्ब:

"चाँद पूरा लाल/आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल"/अथवा "नीलीरात चँदोबे वाली/पंख गिरा ज्यों मोर का"/अथवा "वत्सल छाती सी पहाडियाँ/दूध पिलाने आतुरा/बच्चे सा सूरज सो जाता/लेकर मुँह में आँचरा"/

ऐन्द्रिय बिम्ब :

स्पर्श बिम्ब : "धुली ओस में बिछी दूधिया सेज-सी/पानी-सी ठंडी है ऋतु मन भावनी"/ अथवा "ऊन सी यह धूप की गरमी मुलायम है खिला पाती न जीवन फूल को"/

घ्राण बिम्ब : "इस धूसर साँवर धरती की सौंधी उसाँस/कच्ची मिट्टी का ठंडा पन/" अथवा "उड़ती भीनी गंध हवा में दूब की/ बिखरा सोई कोरे कुंतल कामिनी"/

ध्वनि बिम्ब : 'सनसनाती वायु सूनी, वायु का कठला खनकता। झींगुरों की खंजड़ी पर झाँझ सा बीहड़ झनकता"/

गिरिजाकुमार के काव्य में भावबिम्ब व विचार बिम्ब भी मिलते हैं। भाव बिम्बों में प्राय सूक्ष्म कल्पना का प्रयोग किया गया है। ये बिम्ब प्रायः उन कविताओं में आये हैं जहाँ कवि की प्रेमानुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। कवि जब कहता है कि "जीवन में फिर लौटी मिठास है/गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी" तो भाव बिम्ब की सृष्टि होती है। संश्लिष्ट बिम्ब प्रयोग की दृष्टि से माथुर की ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं : धुले मुख-सी धूप यह गृहिणी सरीखी/मंद पगधर आ गई है/ चाय की लघु टेबुलों पर/"

छंद-प्रयोग :

गिरिजाकुमार नयी कविता में अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने छंद-प्रयोग में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने वर्तमान जटिल जीवन की अनुभूतियों की व्यंजना के लिए मुक्तछंद का खुलकर और पूरे कलाकौशल के साथ प्रयोग किया है। छंद के क्षेत्र में माथुर ने अनेक प्रयोग भी किये हैं। उन्होंने छंदों की स्वाभाविकता की तो रक्षा की ही है; लयात्मकता का विधान भी किया है। तारसप्तक में दिये गये वक्तव्य से माथुर की छंदोपलब्धियों और मौलिकताओं को हृदयंगम किया जा सकता है। उनके शब्द है : 'मुक्त छंद का मैंने संपूर्ण विधान रचा है। मुक्त छंद को दो भागों में विभक्त किया है—वर्णिक और मात्रिक तथा इनके रूपान्तर। वर्णिक में मैंने कवित्त के विराम भी शुद्ध माने हैं- जब तक वे अनुच्चरित (अन एक्सेण्टेड) वर्ण पर समाप्त न होकर उच्चरित (एक्सेण्टेड, पर समाप्त होते है। इस भाँति कवित्त के नियमों को लेकर कितने ही प्रकार की मुक्त-छंद पंक्तियाँ निर्मित की हैं। सवैये के विरामों पर स्थित एक नये प्रकार का बहुत संगीतमय मुक्तछंद लिखा है (आज है केसर रंग रंगे)। एक कविता में एक ही प्रकार की मुक्तछंद प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हूँ। यदि उच्चरित वर्ण-विन्यास (सिलेबल) से पंक्ति आरम्भ हुई हो तो समस्त पक्तियाँ उच्चरित से ही आरम्भ होनी चाहिए।........ पंक्तियों के विरामों की ध्वनि-मात्राएँ पूर्णतः सम एवं शुद्ध होना भी मैं आवश्यक समझता हूँ। इन नियमों के विरुद्ध लिखा गया मुक्त छंद अशुद्ध मानता हूँ"/[1] जहाँ तक मै

1. तारसप्तक : वक्तव्य पृष्ठ 125-126

सोचता हूँ माथुर की छंद विषयक ये धारणाएँ पर्याप्त स्पष्ट हैं। उन्होंने अपनी इन्हीं मान्यताओं के आलोक में मुक्तछंदों का प्रयोग किया है। उनकी छंदगत सफलता के सम्बन्ध में डॉ० शिवकुमार मिश्र का यह कथन सौ फीसदी सही है; "माथुर जी अपने विविध प्रयोगों के बल पर न केवल अपने मुक्त छंद को अधिक सुथरा बनाने में सफल हुए हैं, अपितु उन्होंने उसे एक सहज संगीतात्मकता भी प्रदान की है। उनका मुक्त छंद चाहे वह कवित्त का आधार लिये हो, चाहे सवैये का, चाहे गजल अथवा बहर की लय पर आधारित हो, चाहे किसी अन्य लोक-प्रचलित माध्यम पर सब में लय का समावेश पूरे आकर्षण के साथ विद्यमान मिलेगा"।[1]

माथुर द्वारा प्रयुक्त छंदों की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

1. माथुर जी ने कवित्त और घनाक्षरी आदि पारम्परिक छंदों को तोड़ा भी है और यथावत् भी रखा है। जहाँ तोड़ा है वहाँ उर्दू की गजल और बहर की लय पर व अँग्रेजी छंदों के आधार पर रचना प्रस्तुत की है।

2 सवैया को तोड़कर मुक्त छद बनाया गया है। 'नये साल पर साँझ' कविता में प्रयुक्त छंद गजल के काल-मान पर तैयार किया गया है।

3 'मिट्टी के सितारे' जैसी कविताओं में रूबाई का प्रयोग किया गया है। 'शाम की धूप' में उर्दू की बहर तोड़कर उसी लय पर मुक्त छद की रचना की गई है।

4. लोक गीतों के आधार पर रचे छंद चाँदनी गरबा' में आये हैं तो वसंत एक प्रगीत स्थिति' में अँग्रेजी छंद ओड़' का इस्तेमाल किया गया है।

5. मुक्त छंद के अधिकांश प्रयोग कवि की सफलता के द्योतक है। उनमें संगीत और लय का पूरा-पूरा ख्याल रखा गया है। इस प्रकार साफ हो जाता है कि गिरिजाकुमार के छंद-प्रयोगों में नवीनता और मौलिकता मिलती हे। कवि की स्वच्छद वृत्ति उसके छंद-प्रयोगों में ही निहित है।

समग्रतः यही कहा जा सकता है कि गिरिजाकुमार नयी कविता के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके काव्य का विकास उनके अनुसार रंग, रस और रोमान से हुआ है आज भी वे उसी भूमिका पर स्थित हैं। कवि ने अपनी निजता को सामाजिक साँचे में ढ़ाल कर प्रस्तुत किया है। यही वजह है कि उनका समस्त काव्य कोमल, मधुर और राग चेतना से वलयित होकर भी सामाजिक यथार्थ, विश्व मानवतावाद और समसामयिक परिवेश का प्रतिबोधक काव्य है। भाव, अनुभूति, चेतना और शिल्प सभी दृष्टियों से गिरिजाकुमार का काव्य नयी कविता की उपलब्धि है। शिल्प-प्रयोगों में तो वे कई बार अज्ञेय से भी आगे दिखलाई देते हैं। यों उनकी राग-संवेदना में जो आत्मदान का स्वर है वह तो बहुत से नये कवियों के हिस्से में भी नहीं आया है।

1. डॉ० शिवकुमार मिश्र : नया हिन्दी काव्य : पृष्ठ 369